Methodology in Educational Research

MAE-103

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY

MEERUT-250005

UTTAR PRADESH

विषय-सूची

इकाई (Units)	(CONTENTS)	पृष्ठ संख्या (Page No.)
1.	शैक्षिक अनुसंधान	1
2.	शैक्षिक अनुसंधान क्षेत्र	11
3.	शोध के तरीके	46
4.	अनुसंधान समस्या और परिकल्पना	102
5.	उपकरण और डेटा संग्रह की तकनीक	145

Syllabus

Content:

UNIT- I

- ❖#Nature of Research, knowledge and Inquiry.
- ❖#Scientific inquiry, scientific method, nature and sources of knowledge.
- ❖#Paradigm, theory, model and approach; positivist and no positivist(humanities)
- ❖#Paradigms and their implications for educational research.

UNIT –II

- ❖#Philosophical, psychological and sociological orientation in educational research.
- ❖#Interdisciplinary in educational research and its implications.

UNIT - III

- ❖#Experimental; Normative Survey; Historical' Case Study; Development; Ethnographic; Documentary-analysis.
- ❖#Evaluative Research and Action Research

UNIT- IV

- ❖#Problem and its sources; Selection and Definition of problem.
- ❖#Objectives – primary, secondary and concomitant
- ❖#Hypothesis – nature, definition, types, sources, characteristics of agood hypothesis; directional and non-directional hypothesis.

UNIT -V

- ❖#Observation; Interview; Socio-metric techniques.
- ❖#Questionnaire, Rating scales; Interview schedules Attitude scales etc. Reliability and validity of various tools and techniques.

PRACTICUM (any one):

- ❖#Development of a research proposal for M.Ed. Dissertation and its seminar– presentation.
- ❖#Construction of one tool of data collection.

अध्याय-1

शैक्षिक अनुसंधान

नोट

(Structure)

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 शैक्षिक अनुसंधान का अर्थ एवं परिभाषा
1.4 शिक्षा अनुसंधान की आवश्यकता
1.5 शैक्षिक अनुसंधान का क्षेत्र
1.6 अनुसंधान की विशिष्ट भावी आवश्यकताएँ
1.7 शिक्षा-अनुसंधान का वर्गीकरण
1.8 शिक्षा-अनुसंधान के कार्य
1.9 सारांश
1.10 अभ्यास-प्रश्न
1.11 संदर्भ पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शैक्षिक अनुसंधान को जानने में;
- शैक्षिक अनुसंधान की आवश्यकता को जानने में;
- शैक्षिक अनुसंधान की प्राथमिकता को जानने में;
- शिक्षा अनुसंधान के प्रकारों को जानने में।

1.2 प्रस्तावना

शैक्षिक अनुसंधान से तात्पर्य उस अनुसंधान से होता है, जो शिक्षा के क्षेत्र में किया जाता है। उसका उद्देश्य शिक्षा के विभिन्न पहलुओं, आयामों, प्रक्रियाओं आदि के विषय में नवीन ज्ञान का सृजन, वर्तमान ज्ञान की सत्यता का परीक्षण, उसका विकास एवं भावी योजनाओं की दिशाओं का निर्धारण करना होता है। ट्रैवर्स ने शिक्षा-अनुसंधान को एक ऐसी क्रिया माना है, जिसका उद्देश्य शिक्षा-संबंधी विषयों पर खोज करके ज्ञान का विकास एवं संगठन करना होता है। विशेष रूप से छात्रों के उन व्यवहारों के विषय में ज्ञान एकत्र करना, जिनका विकास किया जाना शिक्षा का धर्म समझा जाता है, शिक्षा-अनुसंधान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। **ट्रैवर्स** के अनुसार, शिक्षा के विभिन्न पहलुओं के विषय में संगठित वैज्ञानिक ज्ञान-पुंज का विकास अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उसी के

आधार पर शिक्षक के लिए यह निर्धारित करना संभव होता है कि छात्रों में वांछनीय व्यवहारों के विकास हेतु किस प्रकार की शिक्षण एवं अधिगम परिस्थितियों का निर्माण करना आवश्यक होगा।

नोट

शिक्षा के क्षेत्र में शैक्षिक अनुसंधान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा की प्रमुख समस्या है कि उसकी प्रक्रिया को सुदृढ़ प्रभावशाली एवं सशक्त कैसे बनाया जाए। इस समस्या के समाधान हेतु अनुसंधान की आवश्यकता है। मौलिक अनुसंधानों से ज्ञानक्षेत्र में वृद्धि की जाती है। प्रयोगात्मक शोधकार्यों से नवीन सिद्धांतों तथा नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। क्रियात्मक अनुसंधान की संकल्पना का जन्म **स्टीफन एम. कोरे** के विचारों में हुआ। विद्यालयों के समक्ष उस समय अनेक समस्याएँ थीं जिनके समाधान उपलब्ध नहीं हो पा रहे थे। उस समय स्टीफन एम. कोरे की पुस्तक 'एक्शन रिसर्च टू इम्प्रूव स्कूल प्रैक्टिस' ने इन समस्याओं के समाधान की दिशाएँ सुझाई थीं। यही सुझाव क्रियात्मक अनुसंधान कहलाया। क्रियात्मक अनुसंधान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी क्षेत्र के कार्यकर्ता अपनी समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करके, उसका मूल्यांकन करते हैं।

1.3 शैक्षिक अनुसंधान का अर्थ एवं परिभाषा

शिक्षा के अनेक संबंधित क्षेत्र एवं विषय हैं, जैसे– शिक्षा का इतिहास, शिक्षा का समाजशास्त्र, शिक्षा का मनोविज्ञान, शिक्षा-दर्शन, शिक्षण-विधियाँ, शिक्षा-तकनीकी, अध्यापक एवं छात्र, मूल्यांकन, मार्गदर्शन, शिक्षा के आर्थिक आधार, शिक्षा-प्रबंधन, शिक्षा की मूलभूत समस्याएँ आदि। इन सभी क्षेत्रों में बदलते हुए परिवेश एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल वर्तमान ज्ञान के सत्यापन एवं वैधता-परीक्षण की निरंतर आवश्यकता बनी रहती है। यह कार्य शिक्षा-अनुसंधान के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार शिक्षा-अनुसंधान शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान एवं पूर्वस्थित ज्ञान का परीक्षण एवं सत्यापन तथा नये ज्ञान का विकास करने की एक विधा, एक प्रक्रिया है। शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अनेक प्रकार की समस्याएँ समय-समय पर सामने आती हैं। उनके समाधान खोजना भी आवश्यक होता है। यह कार्य भी शिक्षा-अनुसंधान के द्वारा ही संभव होता है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा-अनुसंधान शिक्षा की समस्याओं के समाधान प्राप्त करने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। शिक्षा-संबंधी अनेक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने का माध्यम भी शिक्षा अनुसंधान है। कितने ही विशेषज्ञों ने शिक्षा-अनुसंधान की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं।

भिटनी (1954) के अनुसार, शिक्षा-अनुसंधान शिक्षा-क्षेत्र की समस्याओं के समाधान खोजने का प्रयास करता है तथा इस कार्य की पूर्ति हेतु उसमें वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं समालोचनात्मक कल्पना-प्रधान चिंतन-विधियों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधान एवं पद्धतियों को शिक्षा-क्षेत्र की समस्याओं के समाधान के लिए लागू करना शैक्षिक अनुसंधान कहलाता है।

कौरनेल का मानना है कि विद्यालय के बालकों, विद्यालयों, सामाजिक ढाँचे तथा सीखने वालों के लक्षणों एवं इनके बीच होने वाली अन्तर्क्रिया के विषय में क्रमबद्ध रूप से सूचनाएँ एकत्र करना शिक्षा-अनुसंधान है।

यूनेस्को के एक प्रकाशन के अनुसार, शिक्षा-अनुसंधान से तात्पर्य है उन सब प्रयासों से जो राज्य अथवा व्यक्ति अथवा संस्थाओं द्वारा किए जाते हैं तथा जिनका उद्देश्य शैक्षिक विधियों एवं शैक्षिक कार्यों में सुधार लाना होता है।

1.4 शिक्षा अनुसंधान की आवश्यकता

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। उसका मूलभूत उद्देश्य व्यक्ति में ऐसे परिवर्तन लाना होता है, जो सामाजिक विकास एवं व्यक्ति के जीवन को उन्नतशील बनाने के दृष्टिकोण से अनिवार्य होते हैं।

नोट

इस उद्देश्य की पूर्ति मुख्य रूप से शिक्षा की प्रक्रिया पर निर्भर करती है। यदि शिक्षा की प्रक्रिया सशक्त एवं प्रभावशाली हो तो व्यक्ति में उसके द्वारा उपरोक्त वांछनीय परिवर्तन लाना सरल एवं संभव होगा अन्यथा नहीं। अत: शिक्षा की प्रमुख समस्या है कि उसकी प्रक्रिया को सुदृढ़ प्रभावशाली एवं सशक्त कैसे बनाया जाए। इस समस्या के समाधान हेतु अनुसंधान आवश्यक है।

शिक्षा की प्रक्रिया एक बहुतत्वीय प्रक्रिया है। उसके अनेक आधारभूत तत्व हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, गृह-परिवेश, विद्यालय का वातावरण एवं उसकी अनेक विशेषताएँ, शिक्षण विधियाँ, पाठ्य-सामग्री, शिक्षण की सहायक सामग्री, अध्यापक एवं उसकी अनेक विशेषताएँ, विद्यार्थी एवं उसकी अनेक विशेषताएँ, अधिगम-प्रक्रिया आदि अनेक चर हैं, जो शिक्षा की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इन सभी की अनेक विशेषताएँ ऐसी हो सकती हैं, जिनके विषय में अभी तक किसी को कोई जानकारी नहीं है। उनकी खोज अनुसंधान के माध्यम से ही संभव है। साथ ही जिन चरों की खोज की जा चुकी है, उनके विषय में यह जानना एवं निश्चित करना

आवश्यक है कि शिक्षा की प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने में प्रत्येक कितना महत्त्वपूर्ण है तथा उसका प्रक्रिया में समावेश किस प्रकार किया जाना चाहिए, उसके प्रयोग को किस प्रकार अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा-अनुसंधान का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उसके द्वारा ही उपरोक्त समस्याओं का समाधान संभव हो सकता है।

सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ शिक्षा के प्रसार, उसकी गुणवत्ता, उसके परिणामों एवं उसकी प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। अत: इनके संदर्भ में शिक्षा की प्रक्रिया एवं उसकी व्यवस्था का अध्ययन किया जाना भी अत्यन्त आवश्यक है। किस प्रकार की परिस्थितियाँ किस प्रकार शिक्षा को प्रभावित करती हैं, यह अनुसंधान द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अत: इस दृष्टिकोण से शिक्षा-अनुसंधान का अपना महत्त्व है।

विद्यार्थियों के व्यक्तित्व की विशेषताएँ भी शिक्षा की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। अनेक ऐसी विशेषताओं के प्रभाव का अध्ययन किया गया है, परन्तु परिणाम असंदिग्ध एवं एक से प्राप्त नहीं हुए हैं। कुछ विशेषताओं का अध्ययन तो न के बराबर ही है। अत: इस क्षेत्र में भी अनुसंधान की बहुत आवश्यकता है। इन अध्ययनों को अधिक सुसंगठित एवं वैध विधियों द्वारा सम्पन्न किए जाने की आवश्यकता है।

पिछले कुछ वर्षों में बहुत-सी नई-नई शिक्षण-विधियों का निर्माण किया गया है। इनकी उपयोगिता एवं प्रभाविकता का गहन स्तर पर अध्ययन करने की आवश्यकता है। साथ ही और भी विशिष्ट विधियों की खोज की जानी चाहिए। इस क्षेत्र में अनुसंधान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। गत वर्ष में बहुत से शिक्षण-प्रतिमानों (models to teaching) का निर्माण किया गया है परन्तु, इनका पर्याप्त परीक्षण नहीं हो पाया है। शिक्षा-अनुसंधान द्वारा इनके परीक्षण की आवश्यकता है। इसी प्रकार अभिक्रमित अधिगम (programmed learning), सूक्ष्म-शिक्षण (micro-teaching), सिमुलेटिक शिक्षण की उपयोगिता का अध्ययन भी आवश्यक है।

शिक्षक व्यक्तित्व की विशेषताओं, उसके ज्ञान, उसके व्यवहार का विद्यार्थियों के विकास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, परन्तु ये कौन-सी विशेषताएँ हैं, कैसे अपना प्रभाव डालती हैं, किस प्रकार का प्रभाव डालती हैं आदि ऐसे प्रश्न हैं, जो अभी तक अनुत्तरित हैं। शिक्षा-अनुसंधान द्वारा इनके निश्चित उत्तर प्राप्त करना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा में अनुसंधान की बहुत आवश्यकता प्रतीत होती है।

नोट

प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवेश की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। विद्यार्थी निरंतर गृह-परिवेश एवं विद्यालय परिवेश के बीच विचरता है। गृह-परिवेश एवं विद्यालय-परिवेश को कौन-सी परिस्थितियाँ एवं विशेषताएँ, उसके अधिगम एवं विकास को किस प्रकार प्रभावित करती हैं, शिक्षा-अनुसंधान द्वारा इसका निर्धारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में शिक्षा-अनुसंधान की बहुत आवश्यकता है।

शिक्षा की प्रक्रिया के दायरे से हटकर अन्य संदर्भों में भी शिक्षा-अनुसंधान की बहुत अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। शिक्षा-तंत्र आत्मनिर्भर एवं स्वतंत्र नहीं है, उसकी व्यवस्था एवं गतिविधियों पर समाज के कई दूसरे तंत्रों (लेजमउे) का प्रभाव पड़ता है। राजनीति, सामाजिक-व्यवस्था, अर्थव्यस्था, तकनीकी विकास, धर्म, जाति आदि अनेक तत्व शिक्षा को प्रभावित करते हैं। शिक्षा तथा इन सभी के बीच निरंतर अन्तर्क्रिया होती रहती है। अत: यह जानना भी आवश्यक है कि ये सब किस प्रकार किसी देश की शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। शिक्षा भी इन तंत्रों को प्रभावित करती है। अत: यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि शिक्षा इन्हें कहाँ तक और किस प्रकार प्रभावित करती है। इस क्षेत्र में भी शिक्षा-अनुसंधान की आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से भी शिक्षा-अनुसंधान का विशेष महत्त्व है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी शिक्षा का अध्ययन किया जाना महत्त्वपूर्ण है। यह मानवीय जिज्ञासा एवं उसकी रुचि का विषय है। विभिन्न कालों में शिक्षा का स्वरूप क्या रहा है, किन परिस्थितियों ने उसे वह रूप दिया है, आज की परिस्थितियों में उसकी क्या प्रासंगिकता है आदि स्वयं में महत्त्वपूर्ण हैं। इन प्रश्नों के उत्तर शिक्षा-संबंधी उपलब्ध ज्ञान की सीमाओं का विस्तार कर सकते हैं तथा मानवीय जिज्ञासा को शांत करते हैं। अत: इस क्षेत्र में भी शिक्षा- अनुसंधान की आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से भी शिक्षा-अनुसंधान का महत्त्व है।

शैक्षिक नियोजन के दृष्टिकोण से भी शैक्षिक अनुसंधान का बहुत महत्त्व है। संतोषजनक शैक्षिक नियोजन एवं उसके मूलभूत आधार निर्धारित करने के लिए अनुसंधान आवश्यक है।

साथ ही समाज के लोगों, उनकी संस्कृति, उनकी पारस्परिक समानताओं-असमानताओं की जानकारी भी आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि समाज के संगठनों, उनके प्रभावी नियंत्रणों, उनकी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं एवं समस्याओं की भी अच्छी जानकारी हो। यह जानकारी प्राप्त करने का माध्यम शैक्षिक अनुसंधान ही हो सकता है। अत: उसका इस दृष्टिकोण से भी बहुत महत्त्व है। इस जानकारी के बिना शैक्षिक नियोजन कभी भी सार्थक एवं

यथार्थता से जुड़ा नहीं हो सकता। कई बार ऐसा होता है कि बिना आधारभूत जानकारी के शैक्षिक योजनाएँ बना ली जाती हैं तथा बिना अच्छी तरह विचार किए उन्हें क्रियान्वित कर दिया जाता है और बाद में पता लगता है कि वे समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप न होने के कारण न तो लोगों के हित में हैं और न समाज उन्हें स्वीकार कर पाया है। तब उन पर खर्च किया गया धन एवं जनशक्ति व्यर्थ चले जाते हैं। धन एवं जनशक्ति के दुरुपयोग से बहुत हद तक बचा जा सकता है, यदि शैक्षिक अनुसंधान द्वारा आधारभूत जानकारी प्राप्त करके उसके आधार पर योजनाएँ तैयार की जाएँ।

शैक्षिक योजनाओं को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता होती है, जो प्रभावशाली हो। नेतृत्व प्रभावशाली तभी हो सकता है, जब उसे यह जानकारी हो कि किस प्रकार के सुधारों की आवश्यकता है, किस प्रकार की समस्याओं से शिक्षा-जगत के लोग जूझ रहे हैं, शिक्षा की प्रगति में कौन तत्व बाधक हैं, शिक्षा-क्षेत्र के किस कोने में क्या घट रहा है,

शिक्षा-जगत के विभिन्न संगठन किस दिशा में जा रहे हैं आदि। शिक्षा-अनुसंधान यह सब जानकारी जुटाकर नेतृत्व को सशक्त एवं प्रभावशाली बना सकता है तथा शिक्षा-जगत की विसंगतियों को दूर करने की सामर्थ्य उसे प्रदान कर सकता है।

नोट

प्राय: सभी समाज रूढ़ियों, निर्मूल धारणाओं, अनेक प्रकार के पूर्वाग्रहों एवं दकियानूसी विचारों, अंधविश्वासों तथा घिसी-पिटी मान्यताओं से ग्रसित रहते हैं। देश एवं समाज की उन्नति में ये बाधक होते हैं। शैक्षिक अनुसंधान उन्हें प्रकाश में लाने का प्रयास कर सकता है तथा उन कड़ियों को खोजकर समाज के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है, जिनसे ये अंधविश्वास जुड़े होते हैं। शिक्षा के माध्यम से इन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है, ये सुझाव भी शैक्षिक अनुसंधान के द्वारा उपलब्ध हो सकते हैं। कैसे सामाजिक जागरूकता बढ़े, लोग अंधकार से प्रकाश में आएँ तथा उनमें सामाजिक जीवन की अच्छी समझ का विकास हो, समाज के विभिन्न वर्गों के बीच एकजुटता एवं विचार-साम्यता का विकास हो, इन सब लक्ष्यों तक पहुँचने के उपाय, विधियाँ एवं योजनाएँ शैक्षिक अनुसंधान ही सुझा सकता है।

शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान का सूत्रपात 1950 के दशक में हुआ, ऐसा माना जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम पी. एच.डी. उपाधि 1943 में बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई थी। उसके पश्चात् अनुसंधान के क्षेत्र का विस्तार होता रहा। सन् 1943-1988 के बीच जो प्रगति इस क्षेत्र में हुई उसका विस्तृत विवरण चार शैक्षिक अनुसंधान सर्वेक्षणों (Surveys of Research in Education) में मिलता है, जो क्रमश: 1974, 1979, 1987 तथा 1991 में प्रकाशित हुये थे। प्रथम सर्वेक्षण जो 1974 में छपा था, में उन अध्ययनों का वर्णन है, जो 1972 तक सम्पन्न हुये थे। दूसरे सर्वेक्षण (1979) में उन अध्ययनों का विवरण है, जो 1972 से 1978 के बीच पूरे हुये। तीसरे सर्वेक्षण (1987) में उन अध्ययनों का वर्णन है, जो 1978 से 1983 के बीच किये गये थे। चतुर्थ सर्वेक्षण (1991) में 1988 तक सम्पन्न हुए अध्ययनों का उल्लेख किया गया है। प्रथम सर्वेक्षण में 462 पी.एच.डी. तथा 269 प्रोजेक्ट स्तर के अध्ययनों का विवरण है। द्वितीय सर्वेक्षण में 839 अनुसंधानों का वर्णन है, जो शिक्षा के 17 क्षेत्रों में किए गए थे। ये क्षेत्र हैं : तुलनात्मक शिक्षा, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, पाठ्य-पुस्तकें, शैक्षिक उपलब्धि के कारक, शिक्षा-तकनीकी, शैक्षिक प्रशासन, शैक्षिक अर्थशास्त्र, शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा-दर्शन, शिक्षा-समाजशास्त्र, मार्गदर्शन एवं मंत्रणा, शैक्षिक मूल्यांकन, मापन एवं परीक्षाएँ, अध्यापक प्रशिक्षण, शिक्षण एवं शिक्षा का इतिहास एवं उसकी समस्याएँ। तृतीय सर्वेक्षण (1987) ने 1940 से 1983 के बीच हुए अनुसंधानों का दशकवार ब्यौरा प्रस्तुत किया है। पी.एच. डी. स्तर के अध्ययनों का ब्यौरा इस प्रकार है–

तालिका 1.1: दशकवार पी.एच.डी. अध्ययन

वर्ष	संख्या
1941-1950	10
1951-1960	63
1961-1970	234
1971-1980	850
1981-1983	266
कुल	1423

नोट

इसी प्रकार पी.एच.डी. के अतिरिक्त जो अनुसंधान इन दशकों में हुए उनका ब्यौरा इस प्रकार है–

तालिका 1.2: दशकवार अन्य अध्ययन

वर्ष	संख्या
1941–1950	5
1951–1960	56
1961–1970	250
1971–1980	556
1981–1983	150
कुल	1017

कुल 19 क्षेत्रों में ये अध्ययन सम्पन्न हुए। द्वितीय सर्वेक्षण में कुल 17 क्षेत्र थे। इनमें भाषा शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा दो विषय और जुड़ गए।

चतुर्थ सर्वेक्षण (1991) में कुल 4703 अनुसंधानों का उल्लेख है जो 29 क्षेत्रों में बँटे हुए हैं। इनमें से 3289 पी.एच.डी. स्तर के तथा 1414 अन्य प्रोजेक्ट स्तर के अध्ययन हैं। इन 3289 पी.एच.डी. अनुसंधानों में से 2272 शिक्षा विभागों में तथा 1017 अन्य विभागों जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विभागों में सम्पन्न हुए।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा के अनेक क्षेत्रों में अनुसंधान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। यह भी कहा जा सकता है कि संख्यात्मक दृष्टिकोण से शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान का बहुत द्रुतगति से विकास हुआ है। कुछ शिक्षाशास्त्री इसे विस्फोटक वृद्धि भी मानते हैं। उनका मानना है कि शिक्षा के क्षेत्र में थोक में (mass production) पी.एच.डी. तैयार किए जा रहे हैं। चतुर्थ सर्वेक्षण में इस वृद्धि की गति (जतमदक) को इस प्रकार व्यक्त किया है : सन् 1940 के दशक में प्रतिवर्ष एक, 1950 के दशक में प्रति 73 दिन पर एक, 1960 के दशक में प्रति 16 दिन पर एक, 1970 के दशक में प्रति 4ऋ दिन पर एक, 1980 के दशक में प्रति 3 दिन पर एक पी.

एच.डी. की उपाधि प्रदान की गई। यदि इसमें पी.एच.डी. स्तर के अतिरिक्त अन्य अनुसंधानों को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो चतुर्थ सर्वेक्षण के अनुसार प्रति 36 घंटे एक अनुसंधान रिपोर्ट प्राप्त होती है। आगे यह भी कहा गया है कि यदि यही गति बनी रही तो भविष्य में प्रतिदिन एक अनुसंधान सम्पन्न होगा।

1.5 शैक्षिक अनुसंधान का क्षेत्र

शिक्षा के क्षेत्र में किस प्रकार के अनुसंधानों को प्राथमिकता दी जाए, यह प्रश्न भी दो दशकों से बराबर उठाया जा रहा है। समय-समय पर इस संबंध में संस्तुतियाँ भी की जाती रही हैं, परन्तु शोध कर्ताओं ने इसे कभी गम्भीरता से नहीं लिया। इसका एक कारण तो यह रहा है कि प्राथमिकता का आधार क्या हो। इस संबंध में कोई निश्चित मत नहीं बन सका। तृतीय अनुसंधान सर्वेक्षण (1987) के अन्तिम अध्याय में डॉ. शिव के. मित्रा ने सुझाव दिया है कि उन समस्याओं को अनुसंधान हेतु प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जिनकी राष्ट्रीय शिक्षा-नीतियों में उठाई गई समस्याओं के समाधान उपलब्ध कराने हेतु तत्काल आवश्यकता है। इससे पूर्व भी 1975 में एन.सी.ई.आर.टी. के एक प्रकाशन "एजुकेशनल रिसर्च एण्ड इन्नोवेशन्स" में निम्नलिखित समस्याओं को शिक्षा-अनुसंधान की प्राथमिकता सूची में रखा गया था–

1. समाज के गरीब वर्ग के बालकों की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति के समाधान खोजना।
2. अन्तर्विषयी अनुसंधान (interdisciplinary research)।
3. प्रतिभाओं की खोज एवं उनके विकास से संबंधित समस्याएँ।
4. चौदह वर्ष तक के बालकों की अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा जिसका भारतीय संविधान की धारा 45 में प्रावधान है, से संबंधित समस्याओं का अध्ययन।
5. अनुसूचित जातियों एवं जन-जातियों के बालकों की शिक्षा से संबंधित समस्याओं का अध्ययन।

नोट

कुछ अन्य शिक्षा-शास्त्रियों ने भी इस संबंध में विचार व्यक्त किए हैं। उन सबको ध्यान में रखते हुए शिक्षा के निम्नलिखित क्षेत्रों में उपरोक्त के अतिरिक्त प्राथमिकता के आधार पर अनुसंधान की आवश्यकता प्रतीत होती है–

1. छोटे बालकों की देखरेख एवं उनकी शिक्षा,
2. अनौपचारिक शिक्षा,
3. शिक्षा का व्यावसायीकरण,
4. पाठ्यक्रम संशोधन,
5. जीवन-मूल्यों की शिक्षा,
6. शिक्षा में क्षेत्रीय असन्तुलन,
7. शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन,
8. शिक्षा-प्रशासन,
9. शिक्षा में नेतृत्व,
10. शिक्षा-संस्थाओं के कार्यक्रमों एवं उनकी प्रभाविकता का अध्ययन,
11. पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ,
12. शिक्षा संस्थाओं के वातावरण का अध्ययन,
13. अध्यापक प्रशिक्षण,
14. तुलनात्मक शिक्षा,
15. नैतिक शिक्षा,
16. शैक्षिक अर्थशास्त्र,
17. शिक्षा एवं विधि शास्त्र,
18. शिक्षा एवं राजनीति।

उपरोक्त क्षेत्र अति-विस्तृत एवं व्यापक हैं। प्रत्येक क्षेत्र में अनेक समस्याएँ अध्ययन हेतु उपलब्ध हो सकती हैं। इन क्षेत्रों में अध्ययन बहुत कम हुए हैं। इस दृष्टिकोण से ही इनको दर्शाया गया है। विशिष्ट समस्याओं की सूची देना संभव नहीं है।

1.6 अनुसंधान की विशिष्ट भावी आवश्यकताएँ

शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन के बीच अटूट संबंध है। मानव-जीवन एवं उसके परिवेश से संबंधित प्रत्येक परिप्रेक्ष्य कहीं न कहीं शिक्षा को छूता है। अत: इस क्षेत्र से संबंधित समस्याओं का अध्ययन

नोट

भी आवश्यक है। उनमें से बहुतों का अध्ययन विदेशों में किया भी जा चुका है। इन अध्ययनों के आधार पर बहुत से सिद्धांतों का प्रतिपादन भी किया गया है। ये सिद्धांत अनेक तथ्यों, घटनाओं, समस्याओं एवं विसंगतियों की व्याख्या भी करते हैं। तो भी इन सिद्धांतों की व्यावहारिक उपयोगिता अधिक नहीं है। इसका एक कारण तो शिक्षा-विज्ञान के विषय-क्षेत्र का प्रातीतिक (Subjective) होना है। अत: इस क्षेत्र में जो अनुसंधान हुए हैं, उनके परिणामों एवं तदाधारित सिद्धांतों की व्यापकता (generality) का स्तर बहुत ऊँचा उठ पाया है अर्थात् उनके आधार पर घटनाओं के बहुत बड़े समूह अथवा बहुत अधिक शैक्षिक परिस्थितियों की व्याख्या नहीं की जा सकती। कुछ विशिष्ट प्रकार के परिप्रेक्ष्यों का ही उनके आधार पर विश्लेषण किया जा सकता है, परन्तु आवश्यकता अधिक व्यापक सिद्धांतों की है। अत: भविष्य में ऐसे अनुसंधानों की आवश्यकता है, जो अधिक व्यापक हों तथा जिनके आधार पर अधिक से अधिक परिप्रेक्ष्यों एवं समस्याओं को समझना संभव हो।

इस परिप्रेक्ष्य से संबंधित जो सिद्धांत (educational theories) उपलब्ध हैं, वे अधिकांशत: विदेशों में किए गए अनुसंधानों के आधार पर विकसित हुए हैं, परन्तु प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक यथार्थता (social reality) होती है। अत: यह आवश्यक नहीं है कि जिन सिद्धांतों का विकास दूसरे देशों में हुआ हो, वे अपने देश की सामाजिक यथार्थता के भी अनुरूप हों।

1.7 शिक्षा-अनुसंधान का वर्गीकरण

शिक्षा-अनुसंधान के उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि शैक्षिक अनुसंधानों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। प्रमुख वर्गीकरण के मानदण्ड अधोलिखित हैं–

योगदान की दृष्टि से

शोध-कार्यों के योगदान की दृष्टि से शैक्षिक-अनुसंधानों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

1. **मौलिक अनुसंधान** (Basic or Fundamental Research)–इन शोध-कार्यों द्वारा नवीन ज्ञान की वृद्धि की जाती है–नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन, नवीन तथ्यों की खोज, नवीन सत्यों का प्रतिस्थापन होता है। मौलिक अनुसंधानों से ज्ञान-क्षेत्र में वृद्धि की जाती है। इन्हें उद्देश्यों की दृष्टि से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है–
   (अ) प्रयोगात्मक शोध कार्यों से नवीन सिद्धांतों तथा नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। सर्वेक्षण-शोध भी इसी प्रकार का योगदान करते हैं।
   (ब) ऐतिहासिक शोध कार्यों से नवीन तथ्यों की खोज की जाती है, जिनमें अतीत का अध्ययन किया जाता है और उनके आधार पर वर्तमान को समझने का प्रयास किया जाता है।
   (स) दार्शनिक शोध कार्यों से नवीन सत्यों एवं मूल्यों का प्रतिस्थापन किया जाता है। शिक्षा का सैद्धान्तिक दार्शनिक-अनुसंधानों से विकसित किया जा सकता है।
2. **क्रियात्मक अनुसंधान** (Action Research)–इस प्रकार के शोध-कार्यों से स्थानीय समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जिससे शिक्षण की प्रक्रिया में सुधार तथा विकास किया जाता है, इनसे ज्ञान-वृद्धि नहीं की जाती है। इन्हें प्रयोगात्मक आयाम अनुसंधान भी कहते हैं।

शोध-आयाम की दृष्टि से

शोध-कार्यों में तथ्यों का अध्ययन करने के लिए दो आयामों का प्रयोग किया जाता है–अनुदैर्घ्य-आयाम (Longitudinal Approach) तथा कटाव-आयाम (Cross- sectional Approach)।

नोट

1. **अनुदैर्घ्य आयाम** (Longitudinal Approach)–यह शब्द वनस्पति विज्ञान से लिया गया है। जब किसी पौधे का अध्ययन बीज बोने से लेकर फल आने तक किया जाता है तब उसे अनुदैर्घ्य-आयाम कहा जाता है। इसे आयाम भी कहा जाता है क्योंकि अध्ययन में समय प्रमुख घटक होता है ऐतिहासिक, इकाई तथा उत्पत्ति संबंधी (ळमदमजपब) अनुसंधान विधियों में इसी आयाम का प्रयोग किया जाता है।
2. **अनुप्रस्थ-आयाम** (Cross-sectional Approach)–यह शब्द भी वनस्पति विज्ञान का है। जब किसी पौधे के तने, पत्ती या जड़ तथा अन्य किसी अंग के स्वरूप का अध्ययन करना होता है तब उस पौधे के उस अंग का कटाव करके अध्ययन कर लिये जाते हैं, तब उसे अनुप्रस्थ-आयाम की संज्ञा दी जाती है। इसमें समय का महत्त्व नहीं होता है। प्रयोगात्मक तथा सर्वेक्षण विधियों में इस आयाम का प्रयोग किया जाता है।

शोध-निष्कर्षों की शुद्धता की दृष्टि से

अनुसंधान के निष्कर्षों को शुद्धता की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. प्रयोगात्मक अनुसंधान (Experimental Research) तथा
2. अप्रयोगात्मक अनुसंधान (Non-Experimental Research)

प्रयोगात्मक-अनुसंधान के निष्कर्षों की शुद्धता अधिक होती है क्योंकि इसमें नियंत्रण, शुद्ध मापन तथा निरीक्षण विशेषताओं को ध्यान में रखा जाता है। अप्रयोगात्मक अनुसंधान के निष्कर्षों की शुद्धता कम होती है, क्योंकि मापन अधिकांश शुद्ध नहीं होता, निरीक्षण तथा नियंत्रण भी संभव नहीं होता है।

1.8 शिक्षा-अनुसंधान के कार्य

शिक्षा-अनुसंधान के अधोलिखित प्रमुख कार्य होते हैं–

1. शिक्षा-अनुसंधान का प्रमुख कार्य शिक्षा की प्रक्रिया में सुधार तथा विकास करना है। यह कार्य ज्ञान के प्रसार से किया जाता है।
2. शिक्षा की प्रक्रिया के विकास के लिए आन्तरिक प्रयास नवीन ज्ञान में वृद्धि करना तथा वर्तमान ज्ञान में सुधार करना है।

अनुसंधान किस उद्देश्य को लेकर किया जाता है तथा किस प्रकार किया जाता है, इस दृष्टिकोण से उनमें परस्पर अन्तर पाए जाते हैं। सभी अनुसंधानों के उद्देश्य समान नहीं होते और न उनकी प्रक्रिया ही एक सी होती है। विभिन्न प्रकार के अनुसंधानों का एक वर्गीकरण आगे के अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इन सबसे भिन्न एक अनुसंधान का वर्णन किया गया है। इसे **क्रियात्मक अनुसंधान** (Action Research) की संज्ञा दी गई है।

1.9 सारांश

शिक्षा अनुसंधान शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान एवं पूर्वस्थित ज्ञान का परीक्षण एवं सत्यापन तथा नये ज्ञान का विकास करने की एक विधा, एक प्रक्रिया है। **यूनेस्को** के एक प्रकाशन के अनुसार,

शिक्षा अनुसंधान से तात्पर्य है उन सब प्रयासों से जो राज्य अथवा व्यक्ति अथवा संस्थाओं द्वारा किए जाते हैं तथा जिनका उद्देश्य शैक्षिक विधियों एवं शैक्षिक कार्यों में सुधार लाना होता है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। उसका मूलभूत उद्देश्य व्यक्ति में ऐसे परिवर्तन लाना होता है, जो सामाजिक विकास एवं व्यक्ति के जीवन को उन्नतशील बनाने के दृष्टिकोण से अनिवार्य होते हैं। तृतीय अनुसंधान सर्वेक्षण में डॉ. शिव के. मित्रा ने सुझाव दिया है कि उन समस्याओं को अनुसंधान हेतु प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जिनकी राष्ट्रीय शिक्षा-नीतियों में उठाई गई समस्याओं के समाधान उपलब्ध कराने हेतु तत्काल आवश्यकता है।

नोट

1.10 अभ्यास-प्रश्न

1. शैक्षिक अनुसंधान से आप क्या समझते हैं?
2. शिक्षा के क्षेत्र में शैक्षिक अनुसंधान की आवश्यकता पर प्रकाश डालें।
3. शैक्षिक अनुसंधान के क्षेत्र का वर्णन करें।
4. अनुसंधान की भावी आवश्यकताओं पर टिप्पणी लिखें।
5. शिक्षा अनुसंधान का वर्गीकरण करते हुए विस्तृत वर्णन करें।

1.11 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल. कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शिक्षा तकनीकी–आर.ए. शर्मा, भट्ट ब्रदर्स।

अध्याय-2

शैक्षिक अनुसंधान क्षेत्र

नोट

(Structure)

2.1 उद्देश्य
2.2 शैक्षिक अनुसंधान-वैशिष्ट्य
2.3 शैक्षिक अनुसंधान – बाधाएं
2.4 शैक्षिक अनुसंधान – सीमाएं
2.5 शैक्षिक अनुसंधान - नीतिगत विवेचन
2.6 शैक्षिक अनुसंधान के विभिन्न स्तर
2.7 अनुसंधान की परिभाषा
2.8 अनुसंधान के क्षेत्र
2.9 शैक्षिक पाठ्यक्रम व शिक्षा अनुसंधान
2.10 अध्यापक शिक्षा व शैक्षिक अनुसंधान
2.11 शैक्षिक मूल्यांकन व शिक्षा अनुसंधान
2.12 शिक्षण एवं शैक्षिक अनुसंधान
2.13 शैक्षिक समाजशास्त्र व शैक्षिक अनुसंधान
2.14 शिक्षा दर्शन व शैक्षिक अनुसंधान
2.15 शैक्षिक अर्थशास्त्र व शिक्षा अनुसंधान
2.16 शिक्षा राजनीति व शिक्षा अनुसंधान
2.17 शिक्षा का इतिहास व शैक्षिक अनुसंधान
2.18 शिक्षा मनोविज्ञान व शैक्षिक अनुसंधान
2.19 सारांश
2.20 अभ्यास-प्रश्न
2.21 संदर्भ पुस्तकें

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शैक्षिक अनुसंधान की विभिन्न विशेषताओं का अध्ययन कर यह समझ सकेंगे कि यह एक उद्देश्यपरक, जटिल प्रामाणिक, तार्किक एवं धैर्ययुक्त उत्साहपरक प्रक्रिया है जिसका सबल आधार शिक्षा दर्शन है तथा जो अन्त: अनुशासन पर आधारित है;

नोट

- शैक्षिक अनुसंधान की विभिन्न विशेषताओं के साथ इसकी कार्य प्रक्रिया के नियोजन एवं सम्पादन में अनेक सीमाएं एवं बाधाएं भी हैं, जिनकी अनुसंधानकर्ता पर निरन्तर अनुभूति होती है;
- शैक्षिक अनुसंधान के, इसकी कार्य प्रणाली एवं रचनात्मक प्रक्रिया के आधार पर, अनेक रूप एवं स्तर हैं—यथा मौलिक अनुसंधान, अनुप्रयुक्त अनुसंधान एवं क्रियात्मक अनुसंधान - जिनकी अपनी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं;
- शैक्षिक अनुसंधान की आवश्यकता तथा इसके अर्थ को जान जायेंगे;
- शिक्षा पाठ्यक्रम के विभिन्न अंग में शैक्षिक अनुसंधान के क्षेत्र को जान जायेंगे।

2.2 शैक्षिक अनुसंधान-वैशिष्ट्य

शैक्षिक अनुसंधान का अर्थ, आवश्यकता एवं महत्व के अध्ययन के पश्चात् शैक्षिक अनुसंधान की मुख्य विशेषताओं के बारे में गहन अध्ययन किया जाना आवश्यक प्रतीत है, जिससे कि इसकी विशेषताओं के संदर्भ में शिक्षा शोध की सीमाओं के बारे में जानकारी कराई जा सके, संबंधित नीतिगत विवेचन प्रस्तुत किया जा सके तथा शैक्षिक अनुसंधान के प्रमुख त्रिस्तरीय प्रारूपों यथा मौलिक, व्यवहृत एवं क्रियात्मक अनुसंधान पर विस्तार से चर्चा की जा सकें।

"'शैक्षिक अनुसंधान" चूँकि शैक्षिक वरीयम बिन्दुओं पर आधारित नवीन ज्ञान के अन्वेषण एवं विवेचना को समाहित करता हुआ योजनाबद्ध प्राथमिक स्त्रोतों पर आधारित, विशेषज्ञतापरक एक खोज पूर्ण कार्य है, अत: इसकी विशेषताएं एवं लक्षण भी स्वयंसिद्ध है, जिन्हें निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

शैक्षिक अनुसंधान - सबल आधार शिक्षा दर्शन

शैक्षिक अनुसंधान का अपना स्वयं का दर्शन होता है, इसकी प्रमुख मान्याएं होती हैं - यह वैज्ञानिक कार्य विधि है, जिसके आधार पर संबंधित सिद्धान्तों का अन्वेषण एवं विवेचना की जाती है। शिक्षा क्षेत्र में ज्वलंत एवं जटिल समस्याओं के वैज्ञानिक हल खोजे जाने तथा उनके विभिन्न पक्षों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने तथा शोध प्रक्रिया के दौरान सदैव यह ध्यान में रखा जाना आवश्यक होता है कि कहीं शिक्षा एवं जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं मान्यताओं की अनदेखी न कर दी जाये। यदि कहीं अधिक वास्तविक एवं व्यावहारिक बनने की दिशा में हम जीवन के मौलिक सिद्धान्तों एवं मूल्यों को ध्यान में रखना भूल गये तो निश्चित रूप से हमारी शोध प्रक्रिया में वैज्ञानिकता गौण हो जायेगी तथा हम शोध के सबल आधार को खो देंगे।

शैक्षिक अनुसंधान- एक धैर्ययुक्त उत्साहपरक सतत् कार्य

चूँकि शिक्षा के क्षेत्र में किया जाने वाला अनुसंधान एक धैर्ययुक्त, उत्साहपरक सतत प्रक्रिया है, अत: अनुसंधानकर्ताओं से आशा की जाती है कि वे कार्य प्रक्रिया के संचालन में अनावश्यक शीघ्रता न करें तथा धैर्यपूर्वक संबंधित साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् ही शोध कार्य की रूपरेखा का निर्माण करें तथा अनुसंधान के सोपानों में क्रमिकता बनाये रखें। विषय शीर्षक चाहें पूर्णरूपेण सैद्धान्तिक हो या व्यावहारिक अथवा कार्यपरक, अनुसंधान की रूपरेखा निर्माण से पूर्ण गहन अध्ययन तो करना ही होगा। शोधकर्ता को रूपरेखा निर्माण के पश्चात् तथ्यों या प्रदत्तों के संकलन हेतु उपकरण - निर्माण एवं कार्य प्रक्रिया के सुनिश्चितीकरण में असीम धैर्य से कार्य करना होगा। अध्ययन प्रक्रिया संचालक के दौरान सभी प्रकार की आने वाली बाधाओं को दूर करने में अपने उत्साह में कमी नहीं आने देनी होगी। विशेष रूप से तथ्यों के निरुपण के पश्चात् परिणाम-निरुपण के दौरान तो की जाने वाली असावधानी एवं शीघ्रता शोध उपलब्धियों में अर्थ का अनर्थ

कर देंगी। अत: यह स्पष्ट है कि शिक्षा शोध प्रक्रिया के संचालन में शोधकर्ता का प्रारम्भ से अंत तक असीम धैर्य एवं उत्साह एवं सततता हो उसे निश्चित रूप से सफलता एवं संतोष प्रदान करेगी।

नोट

शैक्षिक अनुसंधान उद्देश्य परक होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी

शैक्षिक अनुसंधान की वैज्ञानिकता के विषय से पहले भी चर्चा की जा चुकी है। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि शिक्षा शोध एक प्रयोजनपरक कार्य के साथ ही विज्ञान-निष्ठ है, और इसके कार्य सोपान एवं विधि पूर्णत: विज्ञान सम्मत है। उदाहरणार्थ—कक्षा के मेधावी छात्रों का अध्ययन एवं निर्देशन कार्य, एक सोद्धेश्य शोध-परियोजना तो है, साथ ही आवश्यक है कि कक्षा के मेधावी छात्रों की खोज एवं उनका चयन एक वैज्ञानिक कार्य प्रक्रिया पर आधारित हो, जिसके लिए विश्वसनीय एवं वैध उपकरण (शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक) की सहायता लेनी होगी। उनकी कई वर्षों की प्रगति एवं उपलब्धियों का वैज्ञानिक अध्ययन करना होगा। शिक्षक वर्ग द्वारा भी उनकी शैक्षिक उपलब्धि एवं सहभागिता के आधार पर उन्हें योग्यता के संदर्भ में वर्ग मत करना होगा। फिर उनकी खोज एवं चयन करने के पश्चात् उन्हें शैक्षिक एवं कार्यसार्थक निर्देशन प्रदान कराने की संपूर्ण प्रक्रिया वैज्ञानिक विधि पर ही आधारित होगी। तत्पश्चात् शोध उपलब्धियों की प्रस्तुति भी पूर्णत: वैज्ञानिक होगी, जहाँ पर वस्तुनिष्ठता को ही स्थान दिया जायेगा, पूर्वाग्रह एवं आत्मनिष्ठता को नहीं। यहाँ यह भी निरन्तर ध्यान में रखना होगा कि कहीं भी वर्तमान शोध-धर्म अपने पूर्व विवेचित उद्देश्यों एवं लक्ष्यों से हटकर इधर-उधर तो नहीं जा रहा है, कि कार्य प्रक्रिया पूर्व विवेचित उद्देश्यों को ही निरन्तर सामने रखकर चलाई जा रही है।

शैक्षिक अनुसंधान तर्क सम्मत सामान्यीकरण पर आधारित

शैक्षिक शोध सामान्यत: सिद्धान्तों के सामान्यीकरण पर चल देता है। सामान्यीकरण की क्रिया वैज्ञानिकता के लिए हुए रहती है, जिस पर आधारित एक-एक निश्चित क्रिया विधि होती है तथा संबंधित प्रश्नों का एकत्रीकरण होता है। यही कारण है कि अनुसंधानकर्ता निष्पक्ष भाव से शोध कार्य सम्पादित करता है तथा शोध कार्य के निष्कर्षों को ज्यों का त्यों स्वीकार करता है। यही कारण है कि जहाँ कभी भी पूर्वाग्रह की शंका हो जहां अध्ययन से संबंधित परिकल्पनाओं का निर्माण किया जाता है। यदि पूर्व ज्ञान, अनभुव, अन्य सूचना व तर्क सम्मत विवेचन के आधार पर परिकल्पनाएं बनायी जाती है तभी वे वैज्ञानिक विधि के अंतर्गत आयेगी। परिकल्पना निर्माण में निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ होना आवश्यक है। चाहें परिकल्पना दिशात्मक अथवा शून्य-अन्तर हों। यह इसीलिए कि शोधकर्ता का वैज्ञानिक दृष्टिकोण बना रहे तथा अपने अदम्य साहस को वह उस समय तक बनाये रखें जब तक कि शोध कार्य के निष्कर्ष उसकी आशा के अनुरूप न आयें। **बेस्ट** ने कहा है कि, चाहे शोध निष्कर्ष कितनी ही चौंकाने वाली क्यों न हो, उसे अप्रसिद्ध क्यों न प्रदान करें, फिर भी उसे अपना साहस खोना नहीं पड़ता है तथा बाह्य बलों से प्रभावित हुए बगैर अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है, चाहे अन्ततोगत्वा इनको समाजिक अनुमोदन न प्राप्त हो। इस विचारधारा को सुविधा-मेहरोत्रा आदि ने भी व्यक्त किया है।

शैक्षिक अनुसंधान जटिल एवं प्रामाणिक मानक से युक्त

सामान्यत: शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधानकर्ता से यह आशा की जाती है वह परिश्रम व अध्यवसाय के साथ वैज्ञानिक क्रियाविधि का अनसुरण करेगा तथा कल्पनाशीलता एवं विद्ववता का परिचय देगा। उसकी कार्य विधि में पूर्वाग्रहों, जल्दबाजी एवं सुने-सुनाये तथ्यों को कोई स्थान नहीं दिया जायेगा। सत्य की खोज में इस

दीर्घकाल तक अथक परिश्रम करने के लिये स्वयं को तैयार करना होगा। सतही काम में संतुष्ट न हो कर वह गहराई से अध्ययन करता है।

नोट

शैक्षिक अनुसंधान निगमनात्मक तर्क – विधि आधारित

चूँकि, शिक्षा मानव व्यवहार संबंधित विज्ञान है जिसकी कार्य विधि एवं प्रदत्तों का वर्णन व्याख्या एवं विवेचना मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र की भाँति सामान्य बोध पर आधारित होती है। यह वर्णनात्मक एवं विवेचनात्मक शोध विधि अधिकतर व्यक्तिनिष्ठता, (subjectivity), संभाव्यता (probability) एवं अनुमानात्मक होती है। शिक्षा के क्षेत्र में बहुत से अनुसंधान जो ऐतिहासिक एवं दार्शनिक तथ्यों पर आधारित है, में व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या की जाती है तथा ऐसा अनुसंधान निगमनात्मक तर्क से युक्त होता है। उदाहरणार्थ यहाँ ऐसा भी हो सकता है कि..... सम्भवत: इस प्रकार के व्यवहार का यह कारण हो सकता है कि. ....।

शैक्षिक अनुसंधान अन्तः अनुसंधान उपागम पर आधारित

शैक्षिक अनुसंधान अन्त: अनुसंधान उपागम पर आधारित होता है। शिक्षा के क्षेत्र की कोई भी समस्या का हम क्यों न चुनाव करें, व्यावहारिक रूप से समस्या मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीति एवं राजनीतिशास्त्र अथवा विज्ञान आदि से संबंधित हो सकती है तथा अनेक अनुशासनों की विशिष्ट शोध-विधि संकल्पनात्मकता विचारधारा पर भी आधारित होती है।

शैक्षिक अनुसंधान परिणाम – प्राकृतिक विज्ञान के अनुसंधान के समान शत/प्रतिशत यथार्थ या सटीक नहीं

शैक्षिक अनुसंधान के अन्त: अनुशासन उपागम होने के साथ-साथ उपलब्धियों एवं परिणाम निरुपण के दौरान निश्चित विशिष्टता (Specification) उन अंशों तक प्राप्त नहीं हो पाती है, जितनी प्राकृतिक विज्ञान के शोध कार्य में देखी जाती है। 'साक्षात्कार' की पद्धति का सामान्यत: वहां उपयोग होता है, जहां विज्ञान एवं कला दोनों का संगम दिखलाई पड़ता है। किसी "प्रयोगात्मक शोध विधि' पर आधारित परीक्षण परियोजना में परिणाम-निरुपण में शुद्ध परिणाम ज्ञात करने के लिए जिन संबंधित चरों को नियंत्रित करना एवं संचालित करना होता है वह इतनी शुद्धता से नहीं हो पाता है जितना प्राकृतिक विज्ञान में किया जाना संभव होता है क्योंकि मानव व्यवहार एवं उसका अध्ययन निरन्तर गतिशील बना रहता है। मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में भी मानवीय व्यवहार आधारित अध्ययन की उपलब्धियाँ उतनी वैज्ञानिक नहीं बन पाती है।

शैक्षिक अनुसंधान - केवल विशेषज्ञ का हो क्षेत्र नहीं

कोई भी शिक्षक प्रप्रशासक एवं प्राचार्य जिसमें सामान्य समझदारी है, बुद्धि है, अनभुव है, जानकारी है तथा पर्याप्त सूझ शक्ति है वह शिक्षा संबंधी समस्या पर शोध कार्य किसी-न-किसी स्तर सम्पादन कर सकता है। उदाहरणार्थ छात्र वर्ग के विकास के लिए विषय संबंधी पाठ एवं अनुदेशन के उद्देश्यों को निर्धारण करना, उन्हें अभिप्रेरणा प्रदान करना, उपयुक्त एवं उत्तम प्रकार की शिक्षण विधियों का प्रयोग करना, अन्ततोगत्वा, शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को अधिक प्रभावपूर्ण बनाकर छात्र वर्ग की शैक्षिक उपलब्धियों का उच्च बनाना आदि सभी शैक्षिक क्रियाकलाप के अंग है तथा शिक्षा शोध के विषय बिन्दु भी है। शिक्षा में लगे सभी व्यक्तियों का इनसे संबंध है। शिक्षा के व्यावहारिक क्षेत्र में किये जाने वाले अनुसंधान में यह भावना स्वत: ही समाहित रहती है कि अनुसंधानकर्ता (शिक्षक प्राचार्य प्रप्रशासक एवं अन्य लोग) अपने कार्य को पहले की

अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ विधि से करने के लिए सतत् प्रयासरत रह कर नवीनतम की खोज करेगा। सैद्धान्तिक शोध अवश्य हो विशेषज्ञ हो कर पाते हैं) व्यावसायिकता का होना सदैव आवश्यक है।

शोध कार्य करने के दौरान अधिक मूल्यवान उपकरण की आवश्यकता नहीं होती है। अधिकतर शैक्षिक अनुसंधान के सम्पादित करने में विभिन्न उपकरणों पर बहुत अधिक धन व्यय नहीं करना होता है। केवल (अ) कागज तथा पेन्सिल (ब) मानवीय सामग्री अर्थात् छात्र, शिक्षक, प्राचार्य, प्रशासकगण (स) पुस्तकालय सुविधाएं तथा (द) प्रारम्भिक सांख्यिकी का ज्ञान आदि हो शिक्षा में शोध कार्य करने के लिए प्रारम्भिक रूप से आवश्यक होता है। सुखिया-मेहरोत्रा आदि का मत है कि शोध पत्रों के प्रकाशन के लिए उपयुक्त वर्णित वस्तुओं को हो आवश्यकता होती है।

नोट

शैक्षिक अनुसंधान केवल यांत्रिक-क्रिया मात्र नहीं

शैक्षिक अनुसंधान में यांत्रिक-क्रिया जैसा प्रयोग ही नहीं किया जाना चाहिए। यह इससे अधिक आगे का कार्य है, जहाँ नवीन अनभुव एवं ज्ञान से शोधकर्ता का साक्षात्कार होगा। चूँकि, अनुसंधान को उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में कुछ अपना योगदान प्रतिस्थापित करना है, जिससे किसी वरीयत जिज्ञासाओं के संभावित, लेकिन सटीक उत्तर खोजे जा सकें। अत: प्रदत्तों का संग्रह, विश्लेषण एवं आलेखन इस प्रकार से किया जाता है। जिससे कि घटनाचक्र या परिस्थिति के आधार पर बनी परिकल्पनाओं का परीक्षण किया जा सकें तथा घटनाचक्र या परिस्थिति/विषयवस्तु की उपलब्ध नवीन साक्ष्यों एवं नवीन ज्ञान के आधार पर व्याख्या की जा सकें। लेकिन यह सभी कार्य मौलिकता से तर्क विचार से युक्त नवीन प्रक्रिया पर आधारित होता है। वैसे हो सूचनाओं का एकत्रीकरण, सारणीयन एवं परिणाम निरुपण नहीं होता है अर्थात् "अचानक की गई दिमार्गी कसरत" शोध कार्य नहीं है।

अत: शैक्षिक अनुसंधान की विशेषताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसके भी अपने मानदंड है, अपनी एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसमें वैज्ञानिकता एवं क्रमबद्धता समाहित है। शोध समस्याएं नीतिशास्त्र – समाजशास्त्र, मनोविज्ञान एवं दर्शन से संबंधित होने के साथ-साथ लक्ष्यों सूचक भी है। शोध कार्य के लिए कल्पनाशील, समर्पित, योग्य-नीरक्षीर शिक्षा संबंधित विवेकी बुद्धि से युक्त अनुसंधानकर्ताओं की आवश्यकता है जो कि शिक्षा के क्षेत्र में नवीनता लाना चाहते हैं, समस्याओं के हल के लिए वैज्ञानिक, सूझपरक दृष्टिकोण से युक्त होकर संभावित कारणों की खोज करना चाहते है तथा संभावित वैज्ञानिक हल प्रस्तुत करने के इच्छुक हैं।

चूँकि, शिक्षा शोध कार्य प्रक्रिया इतनी वैज्ञानिक, जटिल एवं अथक परिश्रम साध्य है। अत: इस प्रक्रिया को सम्पादित करने के दौरान अनुसंधान की सीमाओं एवं बाधाओं का भी अध्ययन किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है। अत: शैक्षिक अनुसंधान संबंधित बाधाओं (constraints) एवं सीमाओं (Limitations) का अध्ययन निम्न रूप में किया जा रहा है।

2.3 शैक्षिक अनुसंधान – बाधाएं

बाधाएं अथवा व्यवधान से तात्पर्य शैक्षिक अनुसंधान के संदर्भ में आने वाली उन बाधाओं एवं कठिनाइयों से है जिनमें शोध कार्य सम्पादन प्रक्रिया में व्यवधान उत्पन्न होता है तथा निश्चित सीमा की अवरुद्धधि में कार्य भली प्रकार सम्पन्न नहीं हो पाता है। संक्षेप में जिन कठिनाइयों को शोधकर्ता अपने शोध कार्य सम्पादन प्रक्रिया में झेलता है, उनसे जूझता है जो उसे कभी-कभी अपने मार्ग से विचलित सा कर देती है। वह अपना धैर्य खोने लगता है तथा कभी-कभी बहुत तनावत हो आया करता है, ऐसे सभी अनुभव अन्य कठिनाइयां तनाव-बाधाएं कही जाती है। इनका विवेचन निम्न रूप से किया जा सकता है–

नोट

चूँकि शैक्षिक अनुसंधान का मुख्य लक्ष्यों मानवीय व्यवहार का अध्ययन है, जो एक अत्यन्त जटिलतम प्रक्रिया (Complex Process) है। अत: उसके स्वरूप का वर्णन विवेचन एवं व्याख्या करना भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। मानवीय संघटन (Organism) के किसी भी अंग की शुद्ध वैज्ञानिक व्याख्या एवं विवेचना करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। मानवीय व्यवहार के संचालन में इतने अधिक चर (variables) क्रिया करते है, कि उन सभी चरों को वैज्ञानिक विधि से नियंत्रित करना कठिन होता है, तथा न हो उनकी वैज्ञानिक व्याख्या हो की जाती है। जिन नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया जाता है ये भी सीमित परिस्थितियो में हो शुद्ध एवं सही साबित होते हैं।

शिक्षा-जैसे "व्यवहारपरक विज्ञान" (Behavioural Sciences) में अन्य ऐसे विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र एवं दर्शन की भाँति हो नियमों एवं सिद्धान्तों की शत-प्रतिशत शुद्धता के साथ वैज्ञानिक-विवेचना नहीं की जा सकती है। यह शिक्षा शोध की एक मुख्य बाधा है जबकि विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग एवं परीक्षण पर आधारित निकाले एवं खोजे गये नियम एवं सिद्धान्तों लगभग शत-प्रतिशत शुद्धता का प्रतिपादन करते हैं, तथा किसी भी परिस्थिति, स्थान, जलवायु के बीच वैज्ञानिक नियमों एवं सिद्धान्तों की सत्यता पर प्रश्न चह नहीं लगाया जा सकता है, जबकि मानवीय अध्ययन पर आधारित व्यवहारपरक विज्ञान की सभी शाखाओं एवं उपशाखाओं में विकसित किये गये सिद्धान्तों में शत-प्रतिशत शुद्धता यदि 60 प्रतिशत शुद्धता भी आ जाए तो, मान लिया जाता है।

सिद्धान्तों नियमों के समान हो समावेदना प्रत्यय एवं विचार तथा परिभाषाएं जिनसे कि मानवीय व्यवहार की विशिष्ट पक्षीय विवेचना की जाती है, वे भी पूर्णरूप से निरपेक्ष नहीं रहती है वरन् सापेक्ष आशय (Relatives Meaning) को समाहित किये रहती है।

अनुसंधान कार्य सम्पन्न करने के लिए आवश्यक सूचनाएं एवं प्रदत्त व एकत्र करने के लिए जितने भी मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षिक परिक्षण एवं विधियों का निर्माण किया जाता है, शुद्धता का अंकन किया जाता है, विश्वसनीयता एवं वैधता नापी जाती है तथा मानक आदि भी निकालें जाते हैं, फिर भी सभी शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक उपकरण शत-प्रतिशत शुद्ध (Hundred percent Accurate) नहीं होते हैं, न उन पर इतनी यर्थाथता ही निहित होती है जैसे बुद्धि-परीक्षण संस्कृति संदर्भित अथवा शैक्षिक-उपलब्धि परीक्षण जैसे प्रतीत होते हैं, मानों वे सामान्य ज्ञान का परीक्षण ही ले रहे हो। अत: ऐसे परीक्षण से शोध कार्य के लिए जो भी प्रदत्त एकत्र किये जाते हैं वे भी उतने वैध नहीं होते हैं। जितने होने चाहिए।

शोध के लिए उपलब्ध माप उपकरण प्रश्नावलियां (Questionnaires), मतावलियां (Opinionnaires), सूचियां (Inventories) एवं निर्धारण मापनी Rating Scales) में वस्तु स्थिति चित्रण के साथ पूर्वानुमान (Prediction) करने अथवा पूर्व कथन करने की क्षमता अधिक विकसित नहीं हो पाई हैं। यहां तक विशिष्टता का शुद्ध मापन भी नहीं कर सकते हैं, जिनके मापन के लिए वे निर्मित किये गये है। यही कारण है कि उनमें पूर्व कथन करने की क्षमता बहुत कम है जो अनुसंधानकर्ताओं के लिए एक समस्या है।

बुद्धि, अभिवृत्ति रुचि आदि चर भी ऐसे हैं, जिनकी सटीक, यथार्थ परिभाषा नहीं हो पाती है, उनकी संकल्पना व उनसे आशय भी सर्वसम्मत एक ही नहीं होता है, अत: उनका मापन भी यथार्थ नहीं हो पाता।

2.4 शैक्षिक अनुसंधान – सीमाएं

सीमाओं से तात्पर्य अनुसंधान कार्य के दौरान आने वाली उन कठिनाइयों से है, जिनका अनुसंधानकर्ता को निरन्तर अनुभव होता रहता है, जिनके संपर्क में रहकर उसे सतत् कार्य करना होता है तथा जिनका मुकाबला करने के लिए उसे मानसिक रूप से तैयार रहना पड़ता है। शोध कार्य-सम्पादन में आने वाली कठिनाइयां या

नोट

सीमाएं कुछ उसकी अपनी होती है यथा व्यक्तिगत (Individual), कुछ परिस्थिति जन्य (Situational), कुछ भौतिक (Physical) एवं कुछ प्रशासकीय (Departmental) होती है। बहुधा अनुसंधानकता किसी विभाग, विश्वविद्यालय एवं किसी अनुसंधान के (Research Centre) से सब होता है जहाँ उसे अन्य विभागीय कार्यों के सम्पादन के साथ निहित अनुसंधान कार्य भी करना आवश्यक होता है। अत: यहाँ कुछ एक सीमाओं की विवेचना उपर्युक्त वर्णित विषय बिन्दुओं के अन्तर्गत की जा रही है।

अनुसंधानकर्ता की स्वयं की सीमाएं

अनुसंधानकर्ता को जब व्यक्तिगत शोध कार्य करना होता है तो वह फिर किसी डिग्री 7 डिप्लोमा के लिए किया जाता है। शिक्षा में स्नातकोतर उपाधि (M.A. (Education) (M. Ed.) या एम.फल. (M. Phil) के लिए कुछ छोटी-छोटी शोध समस्याओं को लेकर वर्ष या कुछ माह के बीच कार्य संपन्न कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होती है। यहां शोधकर्ता को केवल अपने विषय की समस्याओं एवं वैज्ञानिक-अनुसंधान की विधि एवं प्रक्रिया से परिचित कराना तथा उनका प्रारम्भिक अनुभव देना हो मुख्य उद्देश्य होता है। अत: जब अनुसंधानकर्ता को केवल अनुसंधान करना सीखना मात्र हो उद्देश्य है तो वह फिर उसके कार्य में श्रेष्ठता व गहनता नहीं हो पाती हैं। अनेक कमियां स्पष्ट दिखाई देने लग जाती है। कहीं-कहीं तो छात्रगण पुराने शोध ग्रन्थों में से विषय वस्तु को थोड़े परिवर्तन के साथ-साथ नकल करते तक देखे जाते हैं, जिसमें उनका स्वयं का कुछ नहीं होता है। ऐसे शोध कार्य का सम्पादन कराना एवं कभी-कभी शोध निर्देशक को उसकी कृति को प्रमाणित करने के लिए हस्ताक्षर करना एक समस्या बन जाती है। लेकिन, समय की सीमा में कार्य की सम्पन्नता एक शोध कार्य की सीमा बन जाया करती है अत: इस परिस्थति में शोध कार्य करना तथा उसकी मौलिकता को प्रमाणित करना भी कठिन हो जाता है।

डिग्री-आधारित अल्प स्तरीय अनुसंधान कार्य एक विचारणीय सीमा

अधिकतर एम.एड./एम.फल. स्तरीय शोधकर्तागण शोध कार्य करने में गहन प्रशिक्षण, योग्यता एवं क्षमता भी विकसित नहीं कर पाते हैं और उनको शोध के सोपान, कार्य-प्रक्रिया के बारे में अधिक जानकारी हो होती है। उनका संबंधित विषयगत ज्ञान भी अल्प होता है। कभी-कभी तो जब बिना संबंधित साहित्य का अध्ययन किये शोध-कार्य रूपरेखा अकस्मात् मिल जाया करती है, तो फिर उस ग्राह्य विषय में उसकी बिलकुल भी गति नहीं हो पाती है। परिणामत: संबंधित साहित्य के अध्ययन के बिना शोध कार्य के गहन-अध्ययन एवं अभ्यास के अभाव में बनाई जाने वाली शोध कार्य रूपरेखा तथा उसका क्रियान्वयन शोधकर्ता की सबसे बड़ी सीमा बन जाती है तथा उसका यह संकट भी होता है।

अनुसंधान कार्य प्रक्रिया जनित सीमाएं

अनुसंधान कार्य प्रक्रिया के सम्पादन के बीच भी अनुसंधानकर्ता को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो कि वास्तव में अनुसंधान कार्य प्रक्रिया की सीमाएं हैं जिन्हें सामान्यत: विषयगत सर्वेक्षण के दौरान प्रत्येक शोधकर्ता द्वारा अनुभव किया जाता है।

1. **प्रदत्त सूचनाएं एकत्रीकरण से संबंधित** – जहाँ किसी सामाजिक एवं शैक्षिक सर्वेक्षण में किसी प्रश्नावली या सूची की सहायता से विभिन्न सूचनाएं एकत्रित की जाती है, जहां अनुकर्ताओं (Respondents) से प्रश्नावली या सूची को भली प्रकार भरवाया जाना बड़ी ही टेढ-खीर होती है। अनुकर्ताओं को बार-बार याद दिलाना कि वे कृपया समय निकाल कर प्रश्नावली भरे, या चैक लिस्ट पर यथा स्थान रेखांकित

नोट

करें, बड़ा कठिन कार्य होता है। विशेष रूप से प्रश्नावली के प्रारूप उन परिस्थितियों में अधिकतर लौट कर नहीं आते हैं - (अ) अनुकर्ताओं को प्रश्नों के लम्बे-लम्बे उत्तर स्वयं लिखने होते हैं अर्थात् प्रश्नपद में उत्तर विकल्पों में लिखे नहीं होते हैं। (ब) अनुकर्तागण शिक्षण तथा अपने शैक्षिक कार्य में बहुत व्यस्त रहते हैं, विशेष रूप से परीक्षा काल के दौरान। (स) अनुकर्तागण शिक्षा अधिकारी के रूप से स्वतंत्र रूप से कार्यरत होते है तथा उन्हें प्रश्नावलियों, मतावलियों सूचियों को भरने का समय हो नहीं होता है। (द) अनुकर्तागण सम्पादित किये जा रहे शोध कार्य के उद्देश्य आशय को नहीं समझ पाते है तथा प्रश्नावली सूची को भरना अपने समय की बरबाद समझने लगते हैं। इन सभी परिस्थितियों को अनुकर्ताओं को बार-बार भरे जाने के लिए मरण कराना तथा उनसे निर्धारित समय में हो प्राप्त करना एक बहुत बड़ी कठिनाई तथा अनुसंधान कार्य प्रक्रिया की सीमा होती है। अनुकर्ताओं को कैसे प्रेरित किया जाए, यह कौशल शोधकर्ता को सीखना होता है। इस कौशल में पारंगत न होना हो सूचना प्रदत्त एकत्रीकरण करने में बाधक होता है।

2. **प्रदत्त-विश्लेषण एवं विवेचन से संबंधित सीमाएं -** सूचनाएं एवं प्रदत्त एकत्रीकरण के पश्चात् प्रदत्तों के वैज्ञानिक विश्लेषण हेतु भी अनेक समस्याओं का सामना शोधकर्ता को करना होता है। प्रदत्तों के सांख्यिकीय विश्लेषण हेतु उसे अपनी सीमाओं के अन्दर निम्न निर्णय स्वयं लेने होते हैं-

   (अ) संकलत प्रदत्तों को सांख्यिकी विधि की पूर्ण जानकारी के आधार पर स्वयं अथवा संगणक (Calculator) की सहायता से वह प्रदत्तों का विश्लेषण करें। ऐसा करना स्वयं में एक समय-साध्य, श्रम-साध्य एवं लगन-युक्त कार्य है, जिसमें त्रुटियों की संभावना भी हो सकती है। कभी-कभी यदि दत विश्लेषण प्रक्रिया अति जटिल हैं, सूक्ष्म एवं गहन सांख्यिकी विधि का प्रयोग किया जाना है तथा यदि शोध कार्य के लिए निर्धारित अवरुद्धधि भी कम है तो संगणक की सहायता से भी प्रदत्तों का विश्लेषण करना बहुत कठिन होता है।

   (ब) यदि अनुसंधानकर्ता को सांख्यिकी विधि की पूर्ण जानकारी नहीं है, संगणक का भली प्रकार प्रयोग करना भी अनुसंधानकर्ता नहीं जानता है तो ऐसी स्थिति में उसे 'कम्प्यूटर' का प्रयोग करना आवश्यक होता है लेकिन कभी-कभी 'प्रोग्राम संचालनकता' (Programmer) उपलब्ध नहीं होते हैं। यदि किसी प्रकार प्रदत्त-विश्लेषण हो भी गया तो फिर उसके विवेचनकर्ता (Interpretors) विशिष्ट विद्वान उपलब्ध नहीं हो पाते जो विश्लेषण उपलब्धियों को वैज्ञानिक ढंग से शोध की भाषा में वर्णित एवं विवेचित कर सकें।

अनुसंधान-ज्ञान की परिधि को दुतगति से विकसित करने में अक्षम-विशिष्ट सीमा

ज्ञान के क्षेत्र में शोध कार्य निरन्तर चल रहा है तथा नवीन ज्ञान शिक्षा, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शन आदि क्षेत्र में निरन्तर बढ़ता जा रहा है। नवीन शोधकार्य की उपलब्धियों खोजों के माध्यम से पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन आता जा रहा है। यह सहज में देखा जा सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में सम्पादित किये गये अनुसंधान ज्ञान की परिधि को दुतगति से विकसित नहीं कर पा रहे है। शिक्षक प्रशिक्षण, दर्शन, शिक्षण-प्रौद्योगिकी तथा शिक्षा-प्रसार, सम्प्रेषण, सुदूर शिक्षा में प्रभावी विधियों की खोज हेतु किया जाने वाला शोध कार्य मानक ग्रहण नहीं कर पाया है और वह प्रयोगशालाओं से वास्तविक क्षेत्र तक नहीं पहुँच पाया है। शिक्षा-प्रशिक्षण प्रसार एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र में आयोजित किये गये अनुसंधान की ये मुख्य सीमाएं है :-

आज हम सुदूर शिक्षा, पाचार शिक्षा, खुले-विश्वविद्यालय तथा अभिनव विश्वविद्यालय की बातचीत तो बहुत करते है। विदेशों में सम्पादित किये गये शोध अध्ययन की उपलब्धियों के आधार पर अपने मत को पुष्ट

नोट

कर अपना पक्ष अपने शोध पत्रों में प्रस्तुत करते हैं। विभिन्न सम्प्रेषण विधियों की व्याख्या एवं विवेचना भी करते है, उनकी उपयुक्तता तथा सीमाओं की समालोचना भी करते हैं। लेकिन कभी हमने यह सोचा तथा गहन रूप से आवश्यकता अनुभव की थी कि भारतीय परिवेश में उपर्युक्त वर्णित आवश्यकता जनित शीर्ष बिन्दुओं पर क्या कोई नवीन कार्य हमने किया है? यदि कहीं हमने शोध कार्य कुछ किया भी है तो क्या वह वास्तविक उपभोता तक पहुंच पाया तथा उस समूह ने शोध उपलब्धियों पर आधारित अपनी कार्य प्रक्रिया में क्या कुछ परिवर्तन किया। शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में सम्पादित किये गये शोध कार्य की यह एक बहुत बड़ी सीमा है कि शोध उपलब्धियों शिक्षा- संस्थान, प्रयोगशालाओं से शिक्षण केन्द्र तथा सामान्य कार्य-कर्ता तक नहीं पहुंच पाई है और यदि पहुंची भी है तो उनका स्वागत नहीं किया गया है। इसका ज्वलन्त उदाहरण है परीक्षा के क्षेत्र में किया जाने वाला शोध आधारित अभिनव प्रयोग "संपुस्तक परीक्षा" जिसे उ.प्र. में माध्यमिक स्तर पर प्रयोग के रूप में लागू किये जाने के बाद भी न तो वह अध्यापकवर्ग को पसंद आया, न प्रधानाचार्य वर्ग को और न शिक्षा अधिकारी वर्ग को परिणामत: उस अभिनव प्रयोग को बंद कर देना पड़ा तथा फिर चलने लगी वह परम्परागत परीक्षा-प्रक्रिया।

अनुसंधान कार्य केवल विभागीय अनुसंधान हेतु एक विशिष्ट सीमा

कहीं-कहीं शोध कार्य जब समूह में अनुसंधान संस्थाओं द्वारा नियंत्रित किये जाते हैं तो उन्हें 'विभागीय अनुसंधान' ही कहकर पुकारा जाता है। उनमें बहुधा शोध कार्य शोध के लिए किया जाता है, किसी विभागीय शीर्ष अधिकारी की मर्जी को पूरा करने के लिए या उसके विचार को सिद्ध करने के लिये किया जाता है। कभी-कभी ऐसा शोधकार्य आवश्यकतापरक उद्देश्योन्मुखी एवं उपयोगितापरक नहीं बन पाता है। ऐसे शोध कार्य का सम्पादन उसी समय तक किया जाता है जब कि वह शीर्ष अधिकारी पदेन है या उस विभाग से संबंधित है, क्योंकि वहीं अधिकारी या वर्ग शोध कार्य सम्पादन के लिए निश्चित बजट-धन की व्यवस्था करता है, मानव संसाधन विकसित करता है तथा जब यह विभाग से जाने को होता है तो जैसे-जैसे सूचनाओं तथा प्रदत्तों को एकत्रित कर शोध उपलब्धियों को प्रदत्त विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत कर शोध परियोजना को अन्तिम विराम दे दिया जाता है। ऐसा शोध साहित्य विभागीय अलमारी में सजा दिया जाता है तथा फिर कभी ऐसा अधिकारी आता है तो पुन: वह कार्य प्रारम्भकर दिया जाता है। सामान्यत: सभी देश को शिक्षा-विभाग में संचालित शिक्षक शिक्षण एवं शोध संस्थान, शीर्ष व्यक्ति आधारित प्रयोग एवं परीक्षण पर चला करते हैं। बीच-बीच में शोध कार्य प्रगति मंद गति से ही चलती रहती है। यह विभागीय शोध संस्थान एवं उनके क्रियाकलाप पर आधारित शोध सीमाएं हैं।

शोध कार्य संचालन, सम्पादन एवं प्रकाशन में वित्तीय असुविधा, अनुपलब्धि एवं अपर्याप्तता एक विचारणीय सीमा

चाहे शोध कार्य का नियोजन एवं क्रियान्वयन व्यक्तिगत हो या फिर विभागीय धन एवं सुविधाओं का उपयुक्तता के आधार पर यह समय से उपलब्ध न हो पाना भी गंभीर समस्या, शोध कार्य सीमा एवं शोधार्थी का व्यक्तिगत संकट बन जाता है। व्यक्तिगत प्रयास को जाने भी दे विभागीय शोध कार्य सम्पन्न हुए वर्ष बीत गया, पिछली व्यय की गई धनराशि का भुगतान नहीं हो पा रहा है, शोध आख्या लिखी पड़ी है, लेकिन प्रकाशित करने के लिए धन की व्यवस्था नहीं हो पा रही है, तो फिर ऐसे सम्पादित शोध कार्य, परिश्रम से बनी उपलब्धियों एवं संबंधित सुझाव का महत्व हो क्या है? यदि कहीं विभागीय स्तर पर शोधकर्ता-विशेष की पदोन्नति हो गई तथा स्थानान्तरण हो गया तो फिर वह रिपोर्ट, उसका प्रकाशन सभी कुछ लम्बी अवरुद्धधि के लिए अवरुद्ध हो जायेगा। यह भी शोध कार्य की महत्वपूर्ण सीमा है। व्यक्तिगत स्तर पर डिग्री के लिए आयोजित शोध कार्य, चाहे जितने परिश्रम, निष्ठा, लगन से आयोजित किये गये हों सामान्यत: अप्रकाशित ही रहा करते हैं तथा शनै: शनै: उनका महत्व सदा-सदा के लिए कम होता चला जाता है।

नोट

विशिष्ट शैक्षिक कार्यक्रमों से संलग्न व्यक्तियों के लिए नबीनतम शोध कार्य जनित परिणाम की अनपुलब्धता एक सीमा

शिक्षा-प्रसार, कृषि-शिक्षा, गृहविज्ञान-शिक्षा ग्रामीण स्तरोन्न्यन कार्यक्रम के संदर्भ में आयोजित किये जाने वाले शोध कार्य जनित परिणाम सामान्य जन क्षेत्र में लगे कर्मचारीगण, अधिकारीगण तक उपलब्ध नहीं है। यदि उनकी उपलब्धियों के आधार पर विभिन्न कार्यक्रमों में किये जाने वाले परिवर्तन की जानकारी नहीं है, कार्यक्रम आयोजन में शोध निर्धारित यहू रचनाओं की जानकारी क्षेत्र में कार्यरत व्यक्ति को यदि नहीं है तो फिर व्यक्ति अथवा समूह की परम्परागत कार्य शैलियों में कैसे परिवर्तन आ पायेगा, यह एक समस्या हैं? ऐसे व्यावहारिक एवं उपयोगी शोध कार्य योजना की अपनी सीमाएं है जो किन्हीं कारणों से या सशक्त चार-माध्यम के अभाव में शोध उपलब्धियों शोधशालाओं, या संस्थाओं से सीधे कार्य क्षेत्र तक (from lab to land) नहीं पहुंच पाती है। अगर नवीन खोजे गये शिक्षण प्रतिमान (Teaching Models) सामान्य विद्यालयी शिक्षक तथा प्रसार कार्यकता तक नहीं पहुंच पाते हैं, तो यह शैक्षिक अनुसंधान की विचारणीय सीमा ही कही जायेगी। यह सीमा ही नहीं वरन् शोध कार्य का व्यावहारिक संकट भी है।

निष्कर्षत: यदि हम इन शोध सीमाओं को संकट के रूप में आवश्यक समझकर उचित समय पर उचित निर्णय लें तथा धन, भौतिक सुविधा आदि की उचित समयानुसार व्यवस्था बनायें तथा शोध परिणाम कार्यान्वित करें तो बहुत-सा उपयोगी शोध-साहित्य प्रकाश में आयेगा। शोध के नवीन आयाम खुलेंगे तथा नये-नये शोध कार्यकर्ता संस्थाओं एवं विभाग में उपलब्ध होंगे। करना यही है कि शोध कार्य की विशेषत: शिक्षा क्षेत्र में व्यक्ति, विभाग, समाज एवं राष्ट्र की आवश्यकता समझी जाये।

समुचित निर्देशन एवं प्रेरणा का अभाव एक विशिष्ट विचारणीय सीमा

अनुसंधानकर्ता को शोध कार्य प्रक्रिया के दौरान निरन्तर अपने शुभ चिंतकों से सम्पर्क रखना पड़ता है जो उसके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले शोध कार्य के दौरान उसे निरन्तर प्रेरणा प्रदान करने के साथ-साथ उसका पग-पग पर निम्न वर्णित शोध सोपानों के संदर्भ में सतन् निर्देशन करते रहेंगे (अ) अनुसंधान कार्य योजना हेतु रूप रेखा निर्माण (Preparing Synopsis) के दौरान उसे पर्याप्त सहायता एवं निर्देशन प्रदानकर (ब) अनुसंधान कार्य के अभिकल्प निर्माण करने (Preparing Research Design) के दौरान (स) उपलब्ध रूपरेखा के आधार पर संबंधित साहित्य के अध्ययन के दौरान (Studying Related Literature) (द) संकलत सूचनाओं प्रदत्तों के संकलन के दौरान (During collection of the data and research material) (य) उपलब्ध सूचनाओं प्रदत्तों के प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण, वर्णन एवं विवेचन के दौरान (During the presentation analysis and interpretation of the data and facts) (प) परिणाम-निरुपण, सीमांकन एवं सुझाव प्रतिवेदन (Reporting the conclusion, limitation and suggestions) दौरान।

सामान्य रूप से देखा जाता है कि अनुसंधान का प्रारूप बनवाये जाने, संबंधित साहित्य के अध्ययन के दौरान तो शोध निर्देशक एवं विभाग द्वारा निर्देशन कर दिया जाता है, लेकिन उपकरण निर्माण अथवा शोध अध्ययन कार्य- प्रक्रिया के सुनिश्चितीकरण के समय यह निर्देशन कम सीमा में मिल जाता है। अधिकतर शोधकर्ताओं को सूचनाओं प्रदत्तों के प्रस्तुतीकरण विश्लेषण एवं विवेचन के दौरान उपयुक्त गहन एवं अनुभवी निर्देशन जब शोध निर्देशकों द्वारा नहीं मिल पाता है तो शोधकर्ताओं में तो जब शोधकर्तागण किन्हीं कारणों से अधिक शीघ्रता में होते हैं, शोध-निर्देशकगण अपने पुनीत कर्तव्य के प्रति चिन्तित प्रतीत नहीं होते हैं अथवा शोध कार्य के साथ-साथ वे यश एवं धनार्जन की ओर भी उन्मुख हो जाते हैं तथा जब शोध कार्य करना तथा कराना दोनों का ही एक व्यावसायिक कार्य हो जाता है तो ऐसी परिस्थिति में समुचित निर्देशन एवं प्रेरणा के अभाव की अनुभूति होने लगती है।

नोट

समुचित निर्देशन प्रदान करने तथा प्राप्त करने के लिए शोधार्थी तथा शोध निर्देशक के बीच 'प्रभावी अन्त: क्रिया-प्रक्रिया" (Effective Interaction Process) एवं 'सुमधुर-संबंधों' का होना बहुत आवश्यक है, जिसमें परस्पर प्रेम-श्रद्धा तथा सहायता समाहित हो, दोनों एक-दूसरे के व्यक्तित्व का आदर करें, परस्पर दोनों हो अपनी-अपनी सीमाओं एवं कठिनाइयों को समझ तथा सूझ-बूझ के आधार पर शोध सम्पन्न करें तथा किराये-अन्यथा दोनों के बीच पड़ने वाली दरार शोध कार्य सम्पादन के बीच बहुत बड़ी सीमा या बाधा बनकर उपस्थित हो जाया करती है।

शोध संस्कृति का अभाव एक विशिष्ट विचारणीय सीमा

समाज में प्रश्न करने, समालोचना करने बालों को बिना हिचक के मान लेने, शिक्षक अध्यापक के अधिकार में दबे रहने आदि की संस्कृति में छात्र बिना सोचे विचार तर्क-विश्लेषण किये मान लेने को बाध्य होता है। जब बड़ों की गुरुजनों की बात को बिना प्रश्न किये चुपचाप सहीं मान लें, शोधकर्ता प्रत्येक समय निर्देशन पर निर्भर रहे, तो कार्य कैसे अच्छा होगा। ऐसा व्यवहार प्रशंस्य होता है, तब छात्र किसी भी ज्ञान के लिए जिज्ञासु नहीं होता। ऐसे वातावरण में शोध कार्य श्रेष्ठ स्तर का नहीं हो सकता। शोध का स्तर तो तभी ऊंचा होगा जब शिक्षा अधिगम में खुलापन हो, वाद-विवाद हो, सबको अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता हो नहीं, प्रोत्साहन हो। ऐसे परिवेश का अभाव शोध कार्य की मुख्य बाधा है।

2.5 शैक्षिक अनुसंधान - नीतिगत विवेचन

अनुसंधान कार्य में सम्पादन भी एक प्रकार से स्वयं में ही एक नीतिपरक परम पुनीत कार्य है अथवा कोई बड़ा अनुष्ठान आयोजन है, जिसमें अनुसंधानकर्ता की निष्ठा, तपस्या एवं समर्पण भावना ओतप्रोत होती है। वह दत्तचित्त होकर तब तक लगनशीलता से कार्य करता जाता है जब तक यह अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो जाता है। सही मायने में यह असीम सता के प्रति विनीत भाव से समर्पित किया गया कार्य है, जहां विषयगत ज्ञान के अगाध समुद्र में शोधकर्ता का भी अपना योगदान समाहित होता है। विषयगत नवीन शोध उद्धावनाओं, संभावनाओं से जुड़कर नये-नये मार्ग प्रशस्त किये जाते हैं तथा नवीन आयाम को खोजा जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में तो यह वैसे हो निष्ठापूर्ण कार्य है, जहाँ शिक्षक शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम मूल्यांकन, शिक्षण विधियों को केन्द्र बिन्दु मानकर नवीन संभावनाओं की खोज की जाती है। अधिगम शिक्षण विधियों को सरलतम बनाया जाता है। अमुर्त तथ्यों एवं संप्रत्ययों की सम्यक् रूप से विवेचना को जाती है। वहीं तो, यह और भी तपस्या से युक्त कार्य या अनुष्ठान बन जाया करता है तथा शोधकर्ता को इस अनुष्ठान के आयोजन एवं नियोजन में अनेक नीतिगत संकरे मार्ग एवं पगडंडियों के बीच होकर गुजरना पड़ता है। यदि उसने एक बार अपना मन शोध कार्य करने हेतु बनाया लिया तो उसे निश्चित रूप से निम्न नीतियुक्त मार्ग का अनुसरण करना ही होगा।

अनुसंधान-प्रमाद रहित एक पवित्र कार्य

चूँकि नीति शब्द में "नौ" उपसर्ग है जिसका अर्थ है 'ले जाना' तथा "इत" प्रत्यय है जिसका तात्पर्य है 'समाप्ति की ओर'। अत: नीति शब्द का अर्थ हुआ समाप्ति की ओर प्रयाण करना। यह कार्य तात्कालिक लाभों के लिए न होकर नि:स्वार्थ समर्पण की भावना से युक्त होता है। इसके लिए कुछ नैतिक संयमों एवं नियमों का होना आवश्यक है।

अनुसंधान कार्य में अनुसंधानकर्ता की ज्ञानार्जनीय उत्कंठा एवं जिज्ञासा

वास्तव में अनुसंधानकर्ता को सत्य की खोज में लिप्त होना महत्वपूर्ण है। उसे नवीन ज्ञान के प्रति अपनी जिज्ञासा को निरन्तर विकसित करना होगा। जिसमें नवीन तथ्यों को जानने की तीव्र उत्कंठा नहीं होती है,

नोट

वह शुद्ध अनुसंधानकर्ता नहीं हो सकता है। उसे ज्ञान का जिज्ञासा बनकर विपरीत परिस्थितियों में भी मनोयोग से कार्य करते जाना होगा तथा अपने लक्ष्यों तक पहुंचे बिना विश्राम न करना होगा। उसे तब तक नवीन ज्ञान की खोज करनी होगी, जब तक शोधगत सप्रत्यय (Conceptions) शब्दों तथा तथ्यों की संदर्भगत व्याख्या एवं विवेचना (Interpretations) नहीं हो गयी है तथा विषयगत नवीन आयाम निकल कर बाहर नहीं जाते। अनुसंधानकर्ता में जिज्ञासा के साथ-साथ "कार्य संलग्नता" को भी विकसित करने का स्वाभाविक दायित्व विकसित करना होगा।

अनुसंधान कार्य सम्पादन के बीच ईमानदारी, समझदारी तर्क सम्मतता का अनुसरण

अनुसंधानकर्ता से यह आशा की जाती है कि वह अपने कार्य सम्पादन के बीच निरन्तर ही ईमानदारी, समझदारी, तर्कसम्मतता तथा वस्तुनिष्ठता का मार्ग अपनायेगा। सूचनाओं प्रदत्तों के प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण एवं विवेचन में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं अपनाया जायेगा। उसकी विवेचना किसी भी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं होगी तथा तथ्यों के विवेचन, उपलब्धियों एवं शोध परिणाम के प्रस्तुतीकरण में किसी प्रकार के पक्षपात का मार्ग नहीं अपनाया जायेगा तथा जो जैसा है, वैसा ही वर्णन एवं विवेचन किया जायेगा। प्रस्तुत की गई सूचनाएं सभी प्रकार से विश्वसनीय एवं वैध होंगे।

अनुसंधानकर्ता की अगाध लगन, परिश्रम, सूझ-बूझ एवं गहन स्वाध्याय से युक्त कार्य

अनुसंधानकर्ता को अपने मन में यह दृढ़ विश्वास जगाना होगा कि विषयगत अनुसंधान उसका अपना मौलिक अनुसंधान है, जिसे उसने स्वयं किया है। उसकी वर्तमान एवं भविष्यगत कृति में उसका अगाध परिश्रम, सूझ, विषयगत गहनता, स्वाध्याय निहित है। उसके विषय प्रतिपादन में तटथता से हो "सत्य" का अनुसंधान संभव हो सकेगा। उसे यह विश्वास भी रखना होगा कि समय की सीमा में हो अपना शोधकार्य सम्पन्न कर लेगा। अनुसंधान कार्य को सम्पन्न करने की प्रक्रिया में उसे कुछ नैतिक मान्यताओं तथा आदेश का निरन्तर अनुसरण करना आवश्यक होगा तथा उसे अपने आचरण में भी परिवर्तन करने होंगे। आचरणगत परिवर्तन कर बौद्धिक ईमानदारी, निष्ठा, लगन एवं सूझबूझ की सहायता से गहनतम रुचि अभिव्यक्त करने का दृढ़-निश्चय अनुसंधानकर्ता को करना होगा।

सत्य, धैर्य एवं कार्य संलग्नता से युक्त मार्ग अनुसरण

अनुसंधान कार्य प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर यह अनुसंधानकर्ता सत्यता, धैर्य एवं कार्य संलग्नता से युक्त मार्ग का अनुसरण करेगा। वह संबंधित सूचनाओं एवं प्रदत्तों का एकत्रीकरण जहाँ तक संभव होगा प्राथमिक स्त्रोतों से हो करेगा। सूचनाओं प्रदत्तों के एकत्रीकरण में सही तरीके हो (Accurate Methods) अपनाये जायेंगे तथा उनमें सत्यता भी समाहित होगी। डी. शर्मा (1990) के अनुसार "यदि वह पूर्ववत विचारक के विचार का चवर्ण मात्र करना हो जानता है तो उसे शोध का अधिकारी नहीं माना जा सकता है"।

संक्षेप में अनुसंधानकर्ता को अनुसंधान कार्य नीतिगत प्रक्रिया प्रारम्भ करने से पूर्व तथा सम्पन्न करने तक निम्न आधार से स्वयं को युक्त बनाना होगा–

(अ) असुविधाजनक अरुचिकर शोध-निष्कर्षों को मानने का साहस।

(ब) अनुकर्ताओं में प्राप्त जानकारी की गोपनीयता बनाये रखने का विश्वास दिलाना।

(स) छोटी-से-छोटी जानकारी के लिए सतर्क रहना तथा गहराई से उसकी वांछनीय करना।

2.6 शैक्षिक अनुसंधान के विभिन्न स्तर

नोट

शैक्षिक अनुसंधान की विशेषताओं, बाधाओं एवं सीमाओं के संदर्भ में नीतिगत विवेचन के प्रस्तुतीकरण के पश्चात् आवश्यकता अनुभव होती है कि शैक्षिक अनुसंधान के विभिन्न स्तरीय आधार की विवेचना की जाये-

(ज) आधारभूत /मौलिक अनुसंधान (Basic Fundamental/Basic Research)

(ब) अनुप्रयुक्त अनुसंधान (Applied Research)

(स) क्रियात्मक अनुसंधान (Action Research)

उपर्युक्त वर्णित शैक्षिक अनुसंधान के विभिन्न स्वरूप को अनुसंधान की मौलिकता एवं शुद्धता के आधार पर स्तरीय रूप प्रस्तुत किये गये है। शिक्षा एवं मनोविज्ञान की अनेक शोध पुस्तक में इन्हें स्तर के स्थान पर वर्गीकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है लेकिन अनुसंधान की मौलिकता, शुद्धता तथा व्यावहारिकता के आधार पर इनका स्तरवार विवेचन किया जाना उपयुक्ता है। अनुसंधान के स्वरूप की विभिन्न स्तरवार विवेचना यहाँ की जा रही है।

मौलिक अनुसंधान

इस प्रकार के अनुसंधान में शिक्षा संबंधित आधारभूत सिद्धांत-नियमों तथा तथ्यों की खोज की जाती है। विद्वान बैस्ट 1963, शर्मा (1986-5), कपल (1989-28) के अनुसार यह शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें परिणाम निरुपण विस्तृत सामान्यीकरण के आधार पर किया जाता है। इन सिद्धान्तों एवं नियमों का किसी विशिष्ट व्यावहारिक क्षेत्र से संबंध नहीं होता है। वर्तमान की समस्याओं से इस प्रकार के अध्ययन का संबधं नहीं होता है। ट्रेवर्स के मतानुसार मौलिक अनुसंधान व्यवस्थित वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि के लिए किया जाता है एवं अनुसंधान तात्कालिक व्यावहारिक मूल्यों वाले परिणाम को आवश्यक रूप से पैदा करने वाले नहीं होते हैं। उदाहरणार्थ - शैक्षिक एवं वास्तविक विकास की विभिन्न अवरुद्धथाएं, अभिप्रेरणा (Motivation) सप्रत्यय निर्माण एवं अधिगम (Concept formation and Learning), पुनर्बलन (Reinforcement) आदि।

मौलिक अनुसंधान की निम्न विशेषताएं होती है—

मौलिक अनुसंधान की विशेषताएं

1.1 मौलिक अनुसंधान, व्यवस्थित अनुसंधान एवं विशेषज्ञ का क्षेत्र

1.2 विशेष कौशल अनुभव एवं अध्ययन क्रमबद्ध

1.3 जटिल तरीका व्यापक सामग्री नवीन उद्धावनाएं

1.4 अनवरत अध्ययन प्रेक्षण तथा वैध साक्ष्यों के आधार पर सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं व्याख्या।

1.5 प्राचीन 'अधिगम-शिक्षण' सिद्धान्तों की नवीनतम विवेचना

1.6 ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर तत्वों के सिद्धान्तों की नवीन विवेचन।

1.7 खोजे गये तथ्यों, विवेचनों एवं साक्ष्यों का किसी परिकल्पना के संदर्भ में निरीक्षण एवं परीक्षण

1.8 मानक चिन्तन के आधार पर युगानुरूप तथ्यों की व्याख्या।

व्यवहृत/अनुप्रयुक्त अनुसंधान

शिक्षा के क्षेत्र इस प्रकार अनुसंधान का संबधं प्राय: व्यावहारिक समस्याओं के वर्तमानकालिक समाधान से रहता है। ऐसे शोध अध्ययन विशिष्ट क्षेत्र आधारित एवं व्यावहारिक धरातल पर सम्पादित किये जाते हैं।

नोट

मौलिक अनुसंधान के माध्यम से खोजे गये सिद्धान्तों एवं नियमों की विवेचना वर्तमान के संदर्भ में किसी क्षेत्र व समस्या को केन्द्र बिन्दु मानकर की जाती है तथा वास्तविक परिस्थितियों में इन नियमों एवं सिद्धान्तों की उपयुक्ता एवं सार्थकता का अध्ययन किया जाता है। इन नियमों एवं सिद्धान्तों की अनेक क्षेत्र बार एवं परिस्थिति बार अध्ययन करके सिद्धान्तों के पुन: प्रतिपादन के सबल आधार के रूप में अनेक साक्ष्य प्रस्तुत किये जाते हैँ - उदाहरणार्थ - "विभिन्न अधिगम विधियों का किसी वर्ग या स्थान के छात्रों की अधिगम शैली पर प्रभाव। परीक्षा प्रणाली में आयोजित सुधार की उपयुक्तता-छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के सुधार के संदर्भ में"। "छात्रों की अध्ययन आदत के सुधार में पुस्तकालय-अध्ययन की उपयोगिता"। अनुप्रयुक्त या व्यवहृत अनुसंधान की निम्न विशेषताएं प्रस्तुत की जा सकती हैं-

अनप्रयुक्त अनुसंधान की विशेषताएं

2.1. सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों की दैनिक कार्य क्षेत्र की समस्याओं के समाधान में संभावना।

2.2. अतीत के अध्ययन से वर्तमान को समझने का प्रयास-वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में।

2.3. मौलिक अध्ययन से शिक्षण प्रक्रिया एवं परिस्थिति में सुधार के प्रयास।

2.4. वर्तमान हेतु "नीति निर्धारण प्रक्रिया" में अनुप्रयुक्त अनुसंधान की सार्थकता

2.5. शिक्षा की विभिन्न क्षेत्रीय आधारभूत समस्याओं का समाधान।

2.6. अनुसंधान का ध्येय स्पष्टत: उपयोगितावाद एवं सुधारवाद।

2.7. अनुप्रयुक्त अनुसंधान - मौलिक अनुसंधान पर आश्रित एवं पूरक दोनों ही है।

2.8. अनुप्रयुक्त अनुसंधान का क्षेत्र - अभिप्रेरणात्मक अनुसंधान, औयोगिक अनुसंधान, मनोचिकित्साअनुसंधान एवं सामाजिक अनुसंधान आदि।

2.9. कलिंघर (1964) के मतानुसार अनुप्रयुक्त अनुसंधान का संबधं "क्षेत्रीय प्रयोग" (Field Experiments) से है, जहां अध्ययन वास्तविक स्थिति में किया जाता है।

अनुप्रयुक्त अनुसंधान से संबंधित शोध समस्याएं (Action Research) व्यावहारिक जीवन के सामाजिक शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर आधारित एवं अधिक सार्थक होती है।

क्रियात्मक अनुसंधान

'क्रियामक-अनुसंधान'-विद्वान के अनुसार, यह खोज की विधि है जिसके द्वारा कार्य प्रणाली की समस्याओं का वस्तुनिष्ठ (Objectives) रूप से अध्ययन किया जाता है तथा जिसका उद्देश्य क्रिया-कलाप में रचनामक सुधार लाना तथा उन्हें अधिक उपयोगी बनाये जाने का प्रयास करना होता है। सुखया-मेहरोत्रा आदि) ने **एस.एम. कोरे** (1962) के इससे संबंधित विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है यह वह अनुसंधान है जिसे कोई व्यक्ति या संस्था अपने हो उद्देश्यों एवं क्रिया-कलाप को अधिक प्रभावी ढंग से प्राप्त करने के लिए स्वयं हो परिचालित करता है। किसी शिक्षण संस्था स्थित 'कक्षा-शिक्षण विधि' एवं प्रशासनिक अथवा शैक्षिक समस्या के संदर्भ में उसके कारणों एवं हल खोजने जाने का यह विधिवत एवं वैज्ञानिक प्रयास है जिससे कि मौलिक एवं अनुप्रायोगिक अनुसंधान के आधार पर खोजे गये नवीन शिक्षा एवं शिक्षण सिद्धांत, नियमों, शिक्षण-विधियों आदि की उपयुक्तता एवं व्यावहारिकता का अध्ययन किसी शिक्षण संस्था विशेष अर्थात् विशुद्ध स्थानीय परिस्थितियों के संदर्भ में किया जा सकें , जिससे कि प्राचार्य, अध्यापक, प्रशासक-निरीक्षक तथा संस्था के सभी कार्यकता अपनी कार्य प्रणाली में वांछित सुधार कर सकें तथा मौलिक, अनुप्रायोगिक अनुसंधान विशेषज्ञ तथा शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने बालों के बीच चली आ रही खाई को पाटा जा सकें।

नोट

क्रियामक अनुसंधान के प्रतिपादक प्रो. एम.एम. कोरे (1953) का यह स्पष्ट मत था कि शैक्षिक क्षेत्र के वास्तविक कार्यकता अपनी अपनी क्षेत्र की समस्याओं के कारण तथा हल खोजने में अपनी-अपनी स्थानीय परिस्थिति के संदर्भ में स्वयं क्रियात्मक अनुसंधान करें। उन्हीं के शब्दों में "जहां अभ्यासकर्ता अपनी समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करता है, जिससे कि सही कार्य को सही दिशा मिल सकें और निर्णय का मूल्यांकन कर सकें "। "The process by which practioners attempt to study their problems scientifically in order to guide, correct and evaluate their decisions." उदाहरणार्थ - शिक्षक वर्ग या प्राचार्य वर्ग द्वारा किये जाने वाले अनुसंधान कार्य का उद्देश्य यह होगा कि विद्यालय तथा कक्षा कार्य में वांछित सुधार लाया जा सकें।

व्यक्तित्व एवं सहयोगी क्रियामक-अनुसंधान

जब यह शोध प्रयास किसी एक व्यक्ति द्वारा किया जायेगा तो वह "व्यक्तिगत क्रियात्मक अनुसंधान" होगा लेकिन जब किसी प्रयोग द्वारा अनेक व्यक्तियों के प्रभावित होने की संभावना होती है तो उस दिशा में किया गया अनुसंधान सभी व्यक्तियों को अपने में प्रत्यक्ष समाहित कर लेता है तथा इसे "सहयोगी क्रियात्मक अनुसंधान" कहा जाता है। संक्षेप में, चाहे इस प्रकार का शोध कार्य व्यक्तिगत स्तर पर या सामुहिक स्तर पर आयोजित हो, यह प्रचलित क्रियाकलाप में सुधार लाने वाला अवश्य होता है। इससे वास्तविक अभ्यासकतार्ओं के अध्ययन, शासन एवं मानवीय संबंधों में सुधार लाया जाता है तथा उनके सैद्धान्तिक एवं व्यवहारपरक ज्ञान में भी वृद्धि होती है। "क्रियामक अनुसंधान" उन्हीं के द्वारा सम्पादित किया जाता है, जिन्हें अपने परम्परावादी क्रियाकलाप को निरन्तर करते रहने से अरुचि हो जाती है तथा वे उनमें परिवर्तन करने की इच्छा रखते हैं।

क्रियात्मक अनुसंधान की विशेषताएं

(1) व्यावहारिक दृष्टि से क्रियात्मक अनुसंधान वास्तविक अभ्यासकताँओं (प्रधान अध्यापक- प्रशासक - निरीक्षक) के लिए सर्वोपरि रोचक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होता है, क्योंकि शोध समस्या शोधकर्ता अर्थात् उसकी अपनी है, प्रयास उसके अपने है तथा जो भविष्य में लाभ या हानि मिलेगी वह भी उसकी अपनी हो होगी। इस प्रकार का अनुसंधान उसके व्यावसायिक जीवन का केन्द्र बिन्दु बनेगा। शिक्षक के लिए कक्षा उसकी कार्यशाला, विषयवस्तु तथा शिक्षण विधि उसके उपकरण तथा छात्र हो उसके न्यायदर्श होंगे।

(2) "अनुसंधान समस्या" की पहचान में कोई कठिनाई नहीं होगी क्योंकि वह तो उसकी अपनी होगी, जिसके कारण एवं हल ढूंढने हेतु वह स्वयं ही प्रयासरत रहेगा।

(3) समस्या के संभावित हल खोजने हेतु परिकल्पना के निर्माण में उसे अधिक संबंधित साहित्य खोजने हेतु परिश्रम नहीं करना होगा। उसे इस संबंध में उसके साथियों, प्राचार्य एवं अधिकारियों से चर्चा करने पर संभावित हल प्राप्त हो जायगे।

(4) चूँकि, प्रतिदर्श (Sample) एवं संपूर्ण जनसंख्या (Population) में कोई अन्तर नहीं होगा अत: प्रतिदर्श वैज्ञानिक रूप से चयन करने में कोई कठिनाई की अनुभूति नहीं होगी। अनुसंधान कार्य के आधार पर खोजे गये निष्कर्ष एवं परिणाम संपूर्ण जनसंख्या पर लागू करने हेतु सार्थकता की जांच भी नहीं करनी होगी।

(5) बाध्य चरों के नियंत्रण (Control of Extrancous Variables) की आवश्यकता भी शोध अभिकल्प (Research Design) के निर्माण में नहीं होगी क्योंकि यह प्रयोग विशेष चर के लिए नहीं वरन् संपूर्ण विशिष्ट परिस्थितियों के लिए आयोजित किया जा रहा है।

(6) पूर्व कल्पित उपायों (Pre-determined Actions) को लागू करने के पश्चात् परिणाम की विवेचना एवं मूल्यांकन के लिए विशिष्ट सांख्यिकीय विधियों (Statistical Techniques) के ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं होगी। वहं साधारण विधियां एवं पैमाने (Scales) होंगे, जिन पर शोध कार्य किया जा सकता है।

नोट

(7) चूँकि क्रियात्मक अनुसंधान का उद्देश्य प्रयोगाधीन प्रतिदर्श तक ही सीमित रहता है, अत: परिणाम के लम्बी अवरुद्धधि तक विशिष्ट परिस्थितियों में सामान्यीकरण की आवश्यकता भी नहीं होगी तथा थोड़े हो समय में वांछनीय परिवर्तन सुधार दिखलाई देने लगते है। आवश्यकता अनुभव होने पर कार्य प्रक्रिया में संशोधन कर लेना अनुसंधान कार्य प्रक्रिया के लचीलेपन एवं निकटवर्ती होने का प्रमाण है।

शैक्षिक क्रियात्मक अनुसंधान के क्षेत्र एवं उद्देश्य

4.1 विद्यालय की कार्य प्रणाली में सुधार लाना - कक्षा-शिक्षण, विषयवस्तु प्रभावी अनुक्रम, शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया-अनुशासनामक क्रियाएं आदि।

4.2 कक्षा-शिक्षण के दौरान प्रयोग की जाने वाली सहायक सामग्री - छात्रोपयुक्त बनाना जिसके संबंध में कक्षा विशेष के संदर्भ में निर्णय लिया जाना आवश्यक है।

4.3 विद्यालय की परम्परागत रुढ्वादिता तथा इसके अरुचिकर-अप्रेरक-यांत्रिक बातावरण में वांछित परिवर्तन करना –

छात्रों की रुचि, ध्यान, तत्परता, जिज्ञासा में वृद्धि किये जाने से संबंधित प्रयास अधिगम प्रक्रिया को सरल, स्वाभाविक एवं रोचक बनाने के प्रयास।

छात्रों की चहुंमुखी प्रगति सतत एवं समग्र मूल्यांकन कार्यक्रम नकल करने की प्रवृत्ति पर सकारात्मक रोक सतत अध्ययन की प्रेरणा से संबंधित कार्य योजनाएं।

4.4 विद्यालय के वातावरण को शैक्षिक-प्रेरक एवं उपयोगी बनाने का प्रयास करना-

विद्यालय कक्षा संबंधित अनुशासन संबंधी समस्याओं पर कार्य योजना निर्माण छात्रों की कक्षा अनुपस्थित एवं विद्यालय में विलम्ब से आने की समस्या का समाधान।

कक्षा वातावरण शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न करने, विषय शिक्षक एवं छात्रों को परेशान करने, डराने, धमकाने की समस्याओं का निदान करना।

विद्यालय-वातावरण सुधार संबंधी योजनाएं।

शिक्षा-शिक्षण एवं शासन से संबंधित कार्यकर्ताओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना

- शिक्षक एवं अन्य कमच ारय के कार्य विश्लेषण के आधार पर कार्य कु शुता में वृद्धि से संबंधित प्रयास।
- पदोन्नतिय एवं व्यावसायिक लाभ से संबंधित कार्य योजनाएं उनका नियोजन-क्रियान्वयन एवं उपयुक्तता मूल्यांकन।
- पाठ्यक्रमीय क्रियाकलाप से संबंधित विषयगत परियोजनाएं-नियोजन क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन।

शिक्षण-संस्था की कार्य प्रणाली को प्रभावशाली बनाना तथा छात्रों के नपित स्तर में सुधार करना

- कक्षा-शिक्षण विधियों में सुधार विषयगत शैक्षिक निष्पत्ति के संदर्भ में।
- विषयगत कक्षा अध्यापन को अधिक स्तरीय बनाने तथा क्षोभ-निराशा को दूर करने हेतु कार्य।

नोट

अनुभूबित योजनाएं

- आन्तरिक मूल्यांकन, लघुस्तरीय प्रश्न पत्र
- अंक के स्थान पर प्रतीक परीक्षा
- गृह कार्य मूल्यांकन-परीक्षा में देय अधिभार

इस प्रकार शैक्षिक अनुसंधान में कार्य विवेचित सभी स्तर के क्रम में "क्रियामक अनुसंधान" का एक विशेष महत्व है। यह अनुसंधान प्रक्रिया प्राचार्य एवं शिक्षा अधिकारी वर्ग को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए अपने शैक्षिक समस्याओं के कारणों एवं संभावित हल खोजने की प्रेरणा प्रदान करती है। किसी भी स्तर की शिक्षण संस्था के शैक्षिक वातावरण में सुधार लाने के लिए "क्रियामक अनुसंधान" एक प्रभावी विकल्प है जिसको सम्पादित करने से शिक्षक शिक्षा जगत को बहुमूल्य योगदान प्रदान करने के साथ-साथ अपने "व्यावसायिक-विकास" में भी अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सकते हैं।

अनुसंधान की आवश्यकता

अनुसंधान या खोज आज के वैज्ञानिक अध्ययन की एक उभरती हुई आवश्यकता है जहाँ एक ओर शिक्षाविद् इस कथन को देने में तनिक भी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करते हैं कि शिक्षा का स्तर दिन प्रतिदिन गिरता ही चला जा रहा है वहां उन्हें दूसरी ओर इस कथन को देने में भी संकोच नहीं होना चाहिए कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारतवषर् में शिक्षा जगत के विभिन्न पहलुओं की भाँति शिक्षा शोध में भी अभिवृद्धि हुई है। वास्तव में यदि देखा जाए तो भारतवषर् में शैक्षिक शोध या शैक्षिक अनुसंधान की अवरुद्धधारणा नवीन नहीं है। इसका प्रयोग शिक्षा के विभिन्न आयाम में तो नहीं होता था परन्तु विभिन्न विषय में इसका प्रयोग अवश्य होता था। परन्तु जैसा हम सबको वदित है कि पहले शोधकार्यविज्ञान, चिकित्सा व इजीनियरिंग तक सीमित थे और जैसे-जैसे सामाजिक विषय ने विज्ञान की श्रेणी में अपने आपको सम्मिलित करने की बात सोची वैसे ही वैसे इन विषय ने अपने अध्ययन को व्यवस्थित व नियंत्रित किया इसी कारण शिक्षाविदों की यह मायता है कि अनुसंधान एक ऐसा व्यवस्थित व नियंत्रित अध्ययन है जिसके अन्तर्गत संबंधित चरों व घटनाओं के पारस्परिक संबंध का अन्वेषण तथा विश्लेषण उपयुक्ता सांख्यिकीय विधि तथा वैज्ञानिक विधि के द्वारा किया जाता है तथा प्राप्त परिणाम से वैज्ञानिक निष्कर्षों, नियमों तथा सिद्धान्तों की रचना, खोज तथा पुष्टि की जाती है। वास्तव में यदि देखा जाए तो अनुसंधान का उद्देश्य वैज्ञानिक ज्ञान की परिधि को अधिक-से-अधिक विस्तृत तथा विशुद्ध करना होता है साथ-ही-साथ उपलब्ध नवीनतम वैज्ञानिक उपकरण तथा कठोरतम वैज्ञानिक पद्धतियोंं द्वारा पूर्व स्थापित तथ्यों, नियमों तथा सिद्धान्तों की विश्वसनीयता परिशुद्धता तथा वैधता का पुर्नपरीक्षण व पुष्टीकरण करना होता है, तथा उसमें यथा संभव नये संबंधों की स्थापना करना होता है। इस प्रकार अनुसंधान द्वारा प्राप्त ज्ञान विशुद्ध, संगठत तथा क्रमबद्ध होता है इसकी विभिन्न इकाइयाँ एक-दूसरे से सहसंबधित होती है व तर्क के आधार पर उसमें परस्पर निर्भरता पाई जाती है।

2.7 अनुसंधान की परिभाषा

सामाजिक विज्ञान के कोष के अनुसार –अनुसंधान वस्तुओं, प्रत्यय तथा संकेतों आदि को कुशलतापूर्वक व्यवस्थित करता है जिसका उद्देश्य सामान्यीकरण द्वारा विज्ञान का विकास, परिमार्जन तथा सत्यापन होता है चाहे वह ज्ञान व्यवहार में सहायक हो अथवा कला में"

(According to Encyclopedia of social sciences- "Research is the manipulation of things, concepts, or symbols for the purpose of generalizing to extend, correct or verify knowledge, whether that knowledge aids in the practice or not")

नोट

एम.एम. ट्रैवर्स के अनुसार - "शैक्षिक अनुसंधान वह प्रक्रिया है जो शैक्षिक परिस्थितियों में एक व्यवहार संबंधी विज्ञान के विकास की ओर असर होती है।"

(According to M.M. Travers- "Educational research is that activity which is directed towards development of a science of behavior in educational situations).

वास्तव में, यदि देखा जाये तो अनुसंधान ने आधुनिक यगु में बहुत ही प्रगति की है आज का विकासवाद अनुसंधान मानव चिन्तन और अन्वेषण पद्धति को एक नई दिशा प्रदान कर रहा है और साथ ही इसमें परिकल्पना पर आधारित निगमनात्मक विधि का विकास हुआ है इसी कारण आज समाज वन में प्रत्यक्षवाद पर बल है तो मनोविज्ञान में व्यवहारवाद विचाराधारा की प्रबलता है वहीं दूसरी ओर मनोविश्लेषणवाद सिद्धांत ने मानव व्यवहार के विश्लेषण में नियतत्ववाद (Law of determinations) के नियमों को प्रतिपादित किया है। अनुसंधान के क्षेत्र में अन्वेषण के क्रम में वैज्ञानिक उपागम (scientific approach) तथा वैज्ञानिक पद्धति (Scientific method) को बल दिया जाने लगा और गणित के क्षेत्र में मात्रात्मक विधि (Quantitative method) को आधार बनाया जाने लगा। यह विधियों जो प्रारम्भ में विभिन्न विषय से संबंधित थी धीरे'-धीरे अपने विषय से ही संबंधित नहीं रही वरन् एक-दूसरे में भी इनका प्रयोग किया जाने लगा उदाहरणार्थ सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक घटनाओं का अध्ययन मात्रात्मक विधि के आधार पर होने लगा। थर्स्टन (Thurstone) अभिवृत्ति मापनी (Attitude Scale) बोगार्डस (बिगरर्ड) का सामाजिक दूरी मापन के स्केल (Social distance scale) लेवन (Lewin) के मानव व्यवहार में गणितीय नियमों का प्रतिपादन (Implication of mathematical law in human behavior) ब्राउन (Brown) के क्षेत्र सिद्धांत केनियन (Field theoretical law) शैरिफ (sherrif) के घटनात्मक उपागम (Phenomenological approach) इसी विचारधारा की देन है।

2.8 अनुसंधान के क्षेत्र

अनुसंधान के क्षेत्र उस विषय विशेष की प्रकृति पर निर्भर करता है जिसमें उसे हमें क्रियावित करना है इसी कारण हमारे लिये यह जानना भी आवश्यक है कि विभिन्न विषय में अनुसंधान के मुख्य क्षेत्र कौन-कौन से है। यदि हम सामान्य रूप से शिक्षा जगत के अन्तर्गत होने वाले अनुसंधान क्षेत्र की चर्चा करें तो नि:सदेह यह कह सकते है कि शिक्षा विषय का क्षेत्र वैयक्तिक व सामाजिक दृष्टि से बहुत व्यापक है चूँकि यह व्यक्ति व समाज दोनों ही के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनैतिक पक्षों का अध्ययन करता है और साथ ही इन क्षेत्रों से संबंधित समस्याओं का विश्लेषण करके उनके उचित समाधान हेतु विचार विमर्श किया जाता है। शिक्षा क्षेत्र से संबंधित मुख्य समस्यायें कौन-सी है इससे पूर्व हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उनका वर्गीकरण कर लें जैसा कि आर.एसी. ऑलीवर ने अपनी पुस्तक रिसर्च इन एजूकेशन में कहा है "शिक्षा की बिना सुलझाई हुई समस्यायें इतनी अधिक तथा इतने विविध प्रकार की है कि उन समस्याओं ने अध्ययन तथा सर्वेक्षण को सरल बनाने के लिये आवश्यक है कि पहले हम उनका वर्गीकरण कर लें चूँकि हम जब शिक्षा जगत से संबंधित समस्याओं को किसी भी आधार पर वर्गीकृत कर लेंगे तो हमारे लिये शिक्षा अनुसंधान के क्षेत्रों का निर्धारण करना सरल हो जायेगा।" अब हम इस बात की चर्चा करेंगे कि शिक्षा क्षेत्र के अंतर्गत किस पर शोध कार्य किया जा रहा है और किन क्षेत्रों पर अध्ययन की आवश्यकता है।

2.9 शैक्षिक पाठ्यक्रम व शिक्षा अनुसंधान

नोट

शिक्षा जगत से संबंधित समस्याओं के अंतर्गत सर्वप्रथम हम विषयवस्तु से संबंधित समस्याओं को निहित करेंगे। पाठ्यक्रम का छात्रों की आवश्यकताओं के अनुरूप तय कर पाना हमारे लिये एक चकुता है। आज के मनोवैज्ञानिक यगु में हम यह कल्पना करते हैं। कि शिक्षा बालक की रुचियोंों, योग्यताओं व क्षमताओं के अनुकूल होनी चाहिये, अत: शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो बालक की इच्छाओं व आवश्यकताओं को संतृप्त कर सकें। हमारे लिये यह भी आवश्यक है कि हम छात्रों की बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक व व्यक्तिगत विशेषताओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण करें। साथ ही दूसरी आवश्यकता पाठ्यक्रम के संबधं में यह है कि लिंग के आधार पर पाठ्यक्रम में अन्तर अवश्य होना चाहिए चूँकि बालक की रुचियों, आवश्यकताओं व विशेषताओं को ध्यान में रखकर जो पाठ्यक्रम बनाया जायेगा वह बालिकाओं को पाठ्यक्रम से निश्चित रूप में अन्तर लिये होगा। इसी प्रकार ग्रामीण व शहर छात्रों के जीवन की परिस्थितियों व आवश्यकताओं की यदि हम तुलनात्मक विवेचना करें तो हम यह कह सकते हैं कि इनके लिये भी अलग-अलग पाठ्यक्रम होना चाहिये।

पाठ्यक्रम से जुड़ी है पाठ्य पुस्तक। पाठ्य पुस्तक पाठ्यक्रम की पूर्ति का माध्यम है ओर शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक साधन है। पाठ्य पुस्तक विषयवस्तु की दृष्टि से ठीक हैं अथवा नहीं, यह छात्रों के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं, यह अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर पा रही है अथवा नहीं? यह कुछ ऐसी समस्यायें हैं जिनको हम शोध द्वारा जान सकते हैं। पाठ्यक्रम के संबंध में भी अनेकों प्रश्न हमारे समक्ष उत्पन्न होते है उदाहरणार्थ - बच्चों को क्या पढ़ाना है? कितना पढ़ाना है किस रूप में पढ़ाना है। आयु स्तर व बौद्धिक स्तर से पाठ्यक्रम को कैसे संबंधित किया जाये। यह प्रश्न है जिसका संतोषप्रद उत्तर हमें प्राप्त होना चाहिए और यही वह प्रश्न है जो पाठ्यक्रम के संबंध में अनेकानेक समस्याओं को जन्म देते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि शिक्षा जगत में होने वाले अनुसंधान का महत्वपूर्ण क्षेत्र पाठ्यक्रम है। पाठ्यक्रम के अंतर्गत होने वाले शोध कार्य से हम इस बात का भी मान कर सकते है कि वर्तमान में शिक्षा के किसी भी स्तर पर या किसी भी विषय में जो पाठ्यक्रम विद्यमान है वह क्या उचित है अथवा उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

पाठ्यक्रम संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

क्वालिटी कंट्रोल इन एजूकेशनल रिसर्च डी. एस.के. पाल व डी. पीसी. ससक्सैना द्वारा लिखित पुस्तक में डी. जी.एल. अरोरा ने अपने लेख पाठ्यक्रम शोध (Curriculum Research) में शोध क्षेत्रों को निम्न भागों में वर्गीकृत किया है।

परिस्थिति विश्लेषणामक शोध

इसके अंतर्गत हम विद्यमान पाठ्यक्रम का मूल्यांकन समाज की वर्तमान सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में करते हैं।

पाठ्यक्रम संबंधी आधारभूत शोध

इसके अन्तर्गत पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धांत, उद्देश्य, स्रोत, प्रारूप व विकास का अध्ययन किया जाता है।

पाठ्यक्रम सामग्री संबंधी शोध

इसके अन्तर्गत की जाने वाली शोध पाठ्यक्रम के अनुरूप पाठ्य पुस्तक का निर्माण उचित सहायक सामग्री का विकास आदि से संबंध रखती है।

नोट

कार्यात्मक शोध

विद्यालय व्यवस्था में पाठ्यक्रम का क्रियान्वयन, अध्यापन कौशल शिक्षण तकनीकियों से संबंधित शोध कार्य इसमें सम्मिलित किये जाते हैं।

पाठ्यक्रम संबंधी मूल्यांकनामक शोध

पाठ्यक्रम संबंधी सामग्री का मूल्यांकन करना व समूह विशेष के लिये पाठ्यक्रम का औचित्य निर्धारित करना आदि से संबंधित शोध कार्य इस श्रेणी में आते हैं।

पाठ्यक्रम संबंधी शोध समस्यायें

1. शिक्षा के विभिन्न स्तर पर क्रियावित किये गये पाठ्यक्रम का मूल्यांकन करना और इस बात की परख करना कि यह पाठ्यक्रम शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति में अपना क्या योगदान दे रहा है।
2. वैयक्तिक भिन्नताओं की दृष्टि से पाठ्यक्रम का मूल्यांकन करना ओर यह देखना कि यह पाठ्यक्रम विभिन्न बौद्धिक स्तर के छात्रों के लिये कहां तक उपयोगी है।
3. विभिन्न विषय के पाठ्यक्रम की समीक्षा करना व यह देखना कि पाठ्यक्रम नवीन ज्ञान को किस सीमा तक समन्वित किये हुये है।
4. पाठ्यक्रम के परिवर्तन में अवरोध क्यों उत्पन्न होते हैं इनके कारणों का समीक्षात्मक अध्ययन करना।
5. इस बात का प्रयास करना कि सभी स्तर पर राष्ट्रीय के प्रारूप को तैयार किया जा सके व उसका क्रियान्वयन संभव किया जा सकें।
6. पाठ्यक्रम निर्माण का आधार दार्शनिक है, मनोवैज्ञानिक है या समाजशास्त्रीय इसका अध्ययन करना।
7. पाठ्यक्रम के लिये अनुदेशनात्मक सामग्री को तैयार करना।
8. पाठ्यक्रम संबंधी शोध की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करना।
9. विद्यालय में पाठ्यक्रम का क्रियान्वयन समय, अध्यापक संख्या व शिक्षण पद्धतियोंं की दृष्टि से संभव है या नहीं इसका अध्ययन करना।
10. विद्यालय पाठ्यक्रम का समाज की आकांक्षाओं, समाज की वर्तमान व भविष्य की आवश्यकताओं व उद्देश्यपूर्ति की दृष्टि से मूल्यांकन करना।

2.10 अध्यापक शिक्षा व शैक्षिक अनुसंधान

शिक्षा जगत में किये गये शोध कार्य का संबंध या तो अध्यापक से होता है या फिर छात्रों से। आज इस संबंध में अनेक प्रश्न हमारे मस्तिष्क में उठते हैं जिनमें से मुख्य है क्या शिक्षा के गिरते हुये स्तर के लिये अध्यापक जिम्मेदार है? अध्यापक अपने व्यवसाय से संतुष्ट है अथवा नहीं अध्यापक कार्य में संलग्न व्यक्तियों में अध्यापक दक्षता या अध्यापक कौशल किस सीमा तक विद्यमान है। क्या अध्यापक शिक्षण द्वारा हमें अच्छे शिक्षक बनाने की भविष्यवाणी कर सकते हैं।

अध्यापक शिक्षण संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

डॉ. वाई.पी. अग्रवाल द्वारा रचित इमर्जिंग फील्डस इन एजूकेशनल रिसर्च में डी. एल. सी. सिंह द्वारा लिखित लेख अध्यापक शिक्षण में शोधकार्य में निम्नलिखित शोध क्षेत्रों की चर्चा की गई है :-

नोट

- **विषयवस्तु या संदर्भ (Context)**—इसके अंतर्गत शिक्षण महाविद्यालय की कक्षाओं का वातावरण, कक्षा का आकार, पाठ्य की संरचना, अभ्यास कार्य हेतु लिये गये विद्यालय का स्तर आदि पर शोध कार्य किया जा सकता है।
- **आगाम (Presage)**—जो विद्यार्थी अध्यापक शिक्षण हेतु आये हैं उनकी विशेषताओं का अध्ययन करना इसमें उनकी शिक्षा, अनुभव शिक्षण अनुभव प्रेरणा, वैयक्तिक विशेषतायें. बुद्धि व शिक्षण कौशल की जांच की जा सकती है।
- **प्रक्रिया (Process)**—इसमें जिन क्षेत्रों पर शोध कार्य किया जा सकता है उसमें अध्यापक व छात्रों के मध्य की जाने वाली अन्त: क्रिया, विद्यालय में छात्रों की उपस्थिति, व्यावहारिक कार्य का विवरण, अध्यापक छात्र संबंध, प्रशिक्षणार्थी का पढ़ाते समय व्यवहार।
- **परिणाम (Product)**—इन्हें हम दो भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं।

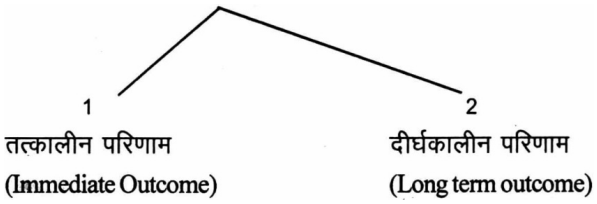

तत्कालीन परिणाम के अन्तर्गत छात्रों की उपलब्धि अध्यापन अभिवृत्ति व अध्यापन कौशल को सम्मिलित करते हैं जबकि दीर्घकालीन परिणाम में व्यावसायिक दक्षता व अध्यापन सफलता पर शोध किया जा सकता है।

अध्यापक शिक्षण संबंधी शोध समस्यायें

1. कुशल शिक्षक-शिक्षक संबंधी समस्यायें।
2. अध्यापक को प्रेरणा देने संबंधी कारक का अध्ययन।
3. अध्यापक शिक्षण संस्थाओं के स्रोत व सुविधाओं संबंधी समस्याओं का अध्ययन।
4. अध्यापक शिक्षण पर किये जाने वाले व्यय का विश्लेषण।
5. अब तक अध्यापक शिक्षण या कौशल पर जो कार्य किये गये हैं उनकी सार्थकता जांच करना।
6. शिक्षक शिक्षण के कार्यक्रम को व्यवहारिक व प्रभावशाली कैसे बनाया जा सकता है।
7. शिक्षक शिक्षण के क्षेत्र में नवीन अनुसंधान करना जिससे उसे प्रभावशाली बनाया जा सके।
8. अध्यापक शिक्षण कार्यालय का मुख्य लक्ष्यों क्या है व इन लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु किस प्रकार के पाठ्यक्रम की आवश्यकता है।
9. प्रशिक्षित व अप्रशिक्षित अध्यापक की शिक्षण कौशल की दृष्टि से तुलना करना व यह देखना कि अध्यापक शिक्षण सफल अध्यापक बनाने की दिशा में कहां तक सहयोगी हैं।
10. सफल व असफल अध्यापक के व्यक्तित्व का तुलनात्मक अध्ययन करना।
11. कार्यरत अध्यापक की अध्यापन प्रवीणता का अध्ययन करना।
12. जो व्यक्ति अध्यापन व्यवसाय में संलग्न है वह अपने व्यवसाय से कहां तक संतुष्ट है इसका समालोचनामक अध्ययन करना।

13. एक सफल अध्यापक के लिये छात्रों से शाब्दिक व अशाब्दिक अन्त: क्रिया करना क्यों आवश्यक है इसका अध्ययन करना।
14. विद्यालय वातावरण का अध्यापक के व्यवहार व शिक्षण दक्षता पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका अध्ययन करना।

नोट

2.11 शैक्षिक मूल्यांकन व शिक्षा अनुसंधान

शिक्षा मूल्यांकन संबंधी समस्याओं पर शोधकर्ता का ध्यान इस कारण जाना चाहिए क्योंकि अनेक प्रश्न ऐसे है जिनका उत्तर शोध कार्य द्वारा ही मिल सकता है। उदाहरणार्थ आपकी मूल्यांकन पद्धति कितनी विश्वसनीय व वैध है? मूल्यांकन पद्धति में गुणात्मक सुधार कैसे लाया जा सकता है? क्या पूर्व निर्मित परीक्षण उचित है।

मूल्यांकन संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

शैक्षिक मापन व मूल्यांकन क्षेत्र में किये गये शोध कार्य को हम निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

1. बुद्धि संबंधी परीक्षण

   शाब्दिक, अशाब्दिक

   सामाजिक बुद्धि

   सृजनात्मकता

2 अभिवृत्ति संबंधी परीक्षण

   शैक्षिक उपलब्धि

   व्यवसायिक उपलब्धि

3. व्यक्तित्व संबंधी परीक्षण समायोजन

   मूल्य

   अभिरुचि

शैक्षिक मूल्यांकन संबंधी शोध समस्यायें

1. व्यक्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों के मापन हेतु उपकरण का निर्माण करना और इस बात पर विशेष ध्यान देना कि यह उपकरण भारतीय सांकृतिक, सामाजिक व आर्थिक विशेषताओं के अनुरूप हो।
2. व्यक्तित्व मापन की विधियों को अधिक-से-अधिक विश्वसनीय व वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास करना।
3. छात्रों के व्यवहार परिवर्तन का मूल्यांकन करने के लिये मानदंड परीक्षाओं का निर्माण करना।
4. निबंधात्मक परीक्षा पद्धतियों की क्या कमियां हैं व उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है इस पर शोध करना।
5. निबंधात्मक परीक्षण पत्रों के निर्माण की सही प्रक्रिया का ज्ञान होना।
6. निबंधात्मक परीक्षण के विकल्प के रूप में हम किस परीक्षण प्रणाली को अपना सकते हैं इस पर व्यावहारिक सुझाव देना।
7. वर्तमान परीक्षा प्रणाली के दोष को कैसे दूर किया जा सकता है इस पर व्यवहारिक सुझाव देना।
8. विभिन्न वैयक्तिक विशेषताओं को मापने हेतु विभिन्न परीक्षण का विकास करना।

2.12 शिक्षण एवं शैक्षिक अनुसंधान

नोट

शिक्षण के क्षेत्र में भी शोध की बहुत आवश्यकता है आज इससे संबंधित अनेक प्रश्न हमारे समक्ष उत्पन्न होते है। अध्यापक कैसे कुशलता प्राप्त कर सकता है। विभिन्न क्षेत्रों में पढ़ाने वाले अध्यापक के स्तर की तुलना करना? विभिन्न विषय को पढ़ाने वाले अध्यापक में क्या अन्तर होता है।

शिक्षण संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

डी. पासी एवं सनसनवाल ने शिक्षण संबंधी शोध कार्य को सात श्रेणियों में विभक्त किया है जो इस प्रकार हैं—

1. आधुनिक कारक जो अध्यापक व्यवहार व अध्यापन कुशलता को प्रभावित करते हैं।
2. अध्यापक शिक्षण जिसका प्रभाव अध्यापक के व्यवहार पर पड़ता है।
3. अध्यापक व्यवहार व अध्यापन कौशल जो सीखने को प्रभावित करते हैं।
4. अध्यापक कारक जिसका प्रभाव सीखने पर पड़ता हैं (T.Fact–Lout)
5. अध्यापक कारक जो अध्यापक व्यवहार व शिक्षण कौशल को प्रभावित करता है व उसका सम्मिलित प्रभाव सीखने पर पड़ता है। (T.Fact– TB/TS-L.out)
6. वर्णनात्मक अध्ययन।
7. यंत्रों का विकास संबंधी अध्ययन।

   (T-Fac-(Teacher factor), TB-Teacher behaviour), T.Sc. Teaching Strategies), L-out (Learning outcome)

शिक्षण संबंधी शोध समस्याय

1. अध्यापक के व्यवहार का आयु लिंग , प्रशिक्षण, अनुभव आधुनिकता व सामाजिक आर्थिक दृष्टि से अध्ययन करना।
2. अध्यापक व्यवहार व वैयक्तिक विशेषताओं के संदर्भ में अध्ययन करना।
3. अध्यापक कुशलता का बुद्धि, समायोजन, मूल्य, शिक्षक, अभिवृत्ति आदि के संदर्भ में अध्ययन करना।
4. शोध द्वारा विभिन्न विषय को पढ़ाने वाले अध्यापक की कुशलता को मापना।
5. ग्रामीण, शहर, जनजाति क्षेत्रों में विद्यमान विद्यालय की शिक्षक अभिवृत्ति व शिक्षण कुशलता का अध्ययन करना।
6. कक्षा के उदार व उग्र वातावरण का छात्रों की बुद्धि, सृजनात्मकता, समस्या समाधान क्षमता आदि पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका अध्ययन करना।
7. क्या कक्षा का वातावरण छात्रों के अन्दर गयात्मक शिक्षण को विकसित करने में समर्थ है।
8. सूक्ष्म शिक्षण द्वारा छात्राध्यापकों में किस सीमा तक शिक्षण कौशल का विकास किया जा सकता है।
9. शिक्षण के जो विभिन्न मॉडल है वह किन-किन गुणों को विकसित करने में अपना सहयोग दे पायें हैं क्या यह मॉडल अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति कर पा रहे हैं।
10. अध्यापक व छात्रों के मध्य होने वाली अन्तःक्रिया का सीखने पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका अध्ययन करना।

2.13 शैक्षिक समाजशास्त्र व शैक्षिक अनुसंधान

नोट

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज में विद्यमान सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सांकृतिक शक्तियों से सदैव ही प्रभावित होती रहती है। भारतीय समाज की यदि इन परिस्थितियों का हम अवलोकन करें तो हमें यह बहुत ही अन्दर देखने को मिलेगा। इस अन्तर के फलस्वरूप हमारे मस्तिष्क में प्रश्न उठता है कि कौन सी शिक्षा व्यवस्था किस समाज के लिये उपयुक्त रहेगी। समाज में जहां एक ओर हमने सामने सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील वर्ग है वहीं दूसरी ओर वह वर्ग भी है जो रूढ़ियों, अन्धविश्वास व परम्पराओं से ग्रसित लोगों की विचारधारा को वस्तुनिष्ठ बना सकें। शिक्षा द्वारा हम जनसाधारण के सामाजिक स्तर को कैसे ऊपर उठा सकते हैं। यह भी एक महत्वपूर्ण समस्या है, जिसका प्रत्युत्तर अनुसंधान द्वारा दिया जा सकता है। भारतवर्ष के भौगोलिक धरातल को यदि देखा जाए तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि भौगोलिक पर्यावरण के कारण रहन सहन के तरीकों में जो भिन्नता है वह मानव मस्तिष्क में पृथक्करण का भाव जागत कर रही है। पृथक्करण की इस भावना को दूर करने हेतु भी शोध की आवश्यकता है। समाज में कुछ वर्ग ऐसे भी हैं जो पर्याप्त सुविधाओं के ना मिलने के कारण शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ गये हैं। इन वर्ग को शिक्षा की ओर कैसे प्रेरित कर सकते हैं यह भी आज एक ज्वलन्त समस्या है। शिक्षा द्वारा हम कैसे नवीन सामाजिक व्यवस्था को खड़ा कर सकते हैं यह भी आज के भारतीय समाज की ज्वलन्त समस्या है। चूँकि आज हम कृष प्रधान देश सेविज्ञान व तकनीक प्रधान देश की ओर उन्मुख हो रहे है। हमने प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था को अपनाया तो हमें शत नागरक की भी आवश्यकता है। हम सार्वभौमिक शिक्षा के लक्ष्यों को कैसे प्राप्त कर सकते हैं विभिन्न वर्ग को शिक्षा की समान सुविधायें प्रदान की जाय यह सब प्रश्न हमें इस बात के लिये प्रेरित करते हैं कि शैक्षिक समाजशास्त्र वह क्षेत्र है जिस पर विशेष रूप से ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

शैक्षिक समाजशास्त्र संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

बी.बी. शाह ने शैक्षिक अनुसंधान सर्वेक्षण के द्वितीय व ततृ ीय संकरण में शैक्षिक समाजशास्त्र संबंधी शोध कार्य को निम्नलिखित पांच श्रेणियों में विभक्त किया है।

1. **शिक्षा व समाज** (Education and Society) – इसके अंतर्गत समाज शिक्षा व समाजीकरण तथा शिक्षण आधुनिकीकरण को सम्मिलित किया जाता है।
2. सामाजिक उप व्यवस्था यथा आर्थिक, राजनैतिक स्तरीकरण, धर्म व अल्पसंख्य समूह के संदर्भ में शैक्षिक उपव्यवस्था का अध्ययन
3. बालक की शिक्षा व व्यक्तित्व के विकास के लिये कौन से कारक उत्तरदायी हैं।
4. शिक्षा संस्थाओं का समाजशास्त्र
5. बाल अपराध व छात्र असंतोष संबंधी समस्यायें तथा विक्लांग बच्चों की शिक्षा

चिटनिस : (Chitnis) ने शैक्षिक समाज शास्त्र सर्वेक्षण के द्वितीय संकरण में इसके क्षेत्रों को दो उपभागों में विभक्त किया है जो इस प्रकार है–

प्रथम उपभाग :

1. स्वतंत्र भारत में शिक्षा के उद्देश्य व कार्य
2. शिक्षा, अर्थव्यवस्था व राजनीति।
3. शिक्षा - आधुनिकीकरण, परिवर्तन और विकास
4. शिक्षा - सामाजिक समानता व गतिशीलता।

द्वितीय उपभाग :

1. सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण व उसके विशिष्ट पहलू।
2. सामाजिक ढांचे में परिवर्तन व नवाचार।
3. शिक्षा की समस्यायें।
4. विद्यार्थी वर्ग की विशेषतायें व समस्यायें।
5. विद्यालय व महाविद्यालय के अध्यापक की स्थिति व कार्य।
6. अनौपचारिक शिक्षा के साधन।

नोट

शैक्षिक समाजशास्त्र संबंधी शोध समस्यायें

1. किस प्रकार के छात्र अधिकांशतया विद्यालय नियमित रूप से जा रहे हैं अर्थात् उनकी जाति, सामाजिक पृष्ठभूमि, पता का व्यवसाय व आय का अध्ययन।
2. वह कौन से बालक हैं जो विद्यालय नहीं जा रहे हैं।
3. विद्यालय में छात्र कैसे रहते हैं व कार्य करते हैं।
4. अनुसूचित जाति व जनजाति पर आरक्षण के सिद्धांत का क्या प्रभाव पड़ रहा है इसकी जानकारी करना।
5. शिक्षा सामाजिक आर्थिक सांकृतिक एवं मनोवैज्ञानिक चरों की दृष्टि से एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में।
6. विद्यालय एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में।
7. शिक्षा व समाज - समाजीकरण, समानता, सामाजिक गतिशीलता व्यवसायिक गतिशीलता, सामाजिक स्तरीकरण, समाजीकरण परिवर्तन व विकास आधुनिकीकरण पर शोध करना।
8. शिक्षा व राजनीति में संबंध देखना।
9. कमजोर वर्ग व ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों में शैक्षिक अवरोध के कारणों को जानना।
10. सांकृतिक दृष्टि से विषम समाज में शिक्षा का क्या कार्य है।
11. प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिक व विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रजातांत्रीकरण पर विभिन्न तत्वों का क्या प्रभाव पड़ रहा है। इसका अध्ययन करना।
12. बालक को प्रारम्भिक स्तर से ही मातृभाषा में शिक्षण कराने का क्या लाभ है।
13. बालक विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम व सीखने की परिस्थितियों में कैसे सीखते हैं।
14. गुप्त पाठ्यक्रम क्या है व इसका सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुये बालक पर क्या प्रभाव पड़ता है।
15. समाज के विभिन्न वर्ग की शिक्षा विशेषताओं व शिक्षा समस्याओं का अध्ययन करना। साथ ही उनकी शैक्षिक आवश्यकतायें जानना।
16. सामाजिक आर्थिक स्तर का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है इसकी जानकारी करना।
17. विभिन्न जातियों की वर्तमान- शिक्षा के क्षेत्र में की गई उपलब्धियों का अध्ययन करना।
18. विभिन्न जातियों व वर्ग के मध्य विद्यमान शैक्षिक अन्तर को कैसे समाप्त किया जा सकता है इसके लिए कार्यात्मक सुझाव देना।

2.14 शिक्षा दर्शन व शैक्षिक अनुसंधान

नोट

शिक्षा क्षेत्र में शोधकर्ताओं का ध्यान शिक्षा दर्शन की ओर बहुत ही तीव्र गति से आकर्षित हो रहा है परन्तु फिर भी इसके संबधं में कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं : यह अनुसंधान सामाजिक दृष्टि से कहा तक लाभपद्र है। यह अनुसंधान शिक्षा दर्शन के वास्तविक संबोध से कहां तक संबधं रखते है। अब तक किये गये अनुसंधान का विश्लेषण किया जाये तो हम यह कह सकते है कि यह शोध ऐतिहासिक या वर्णनात्मक अधिक है जिसमें किसी भी विचारक के विचार का विश्लेषण किया गया है अथवा एक विचारक के विचार की तुलना दूसरे विचारक के विचार की तुलना दूसरे विचारक से कर ली गई है। जबकि आज आवश्यकता इस बात की है कि हम शिक्षा दर्शन की उपयोगिता की शिक्षानीतियों का निर्धारण कर प्रयोग करें व साथ ही शिक्षा जगत में उठने वाले विरोध का उत्तर दार्शनिक पृष्ठभूमि में दें। आज भारतवषर् में शिक्षा जगत में एक समस्या बहुत हो विकराल रूप लिये हुये है। वह है पाठ्यक्रम व विषयवस्तु को कैसे भारतीय बनाया जा सकता है और इसके लिये यह आवश्यक है कि हम सामाजिक-सांस्कृतिक परिपेक्ष में भारतीय आवश्यकताओं को समझ व उसके अनुकूल पाठ्यक्रम का निर्माण करें।

शिक्षा संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

डी. सी. शैषाद्रि ने अपने लेख शिक्षादर्शन में अनुसंधान में शिक्षा दर्शन संबंधी शोध क्षेत्रों को निम्न भागों में विभाजित किया है।

1. शिक्षादर्शन, किसी भी दार्शनिक के शैक्षिक विचार, शिक्षा जगत को उनकी देन उस दार्शनिक का अन्य दार्शनिक से संबंध देखना आदि संबंधी शोध कार्य।
2. किसी विशेष काल में शिक्षा दर्शन का ऐतिहासिक दृष्टि से विकास उस समय की ऐतिहासिक, धार्मिक व दार्शनिक परिस्थितियों के संदर्भ में।
3. किसी भी दर्शन का प्रत्यय संबंधी अध्ययन।

शिक्षा दर्शन संबंधी शोध समस्यायें

1. विभिन्न शिक्षाविद्दों के दार्शनिक विचार का अध्ययन करना तथा वर्तमान संदर्भ में उनकी सापेक्षता देखना।
2. धर्म निरपेक्ष शिक्षा, राष्ट्रीय एकता की शिक्षा, शाति शिक्षा, उदार शिक्षा, सार्वभौमिक शिक्षा, शिक्षा में गुणात्मक सुधार व समान स्कूल व्यवस्था का अध्ययन।
3. मूल्य शिक्षा का संबधं व उसकी व्यवहारिकता का अध्ययन करते हुये इस बात का अध्ययन करना कि क्या मूल्यों की शिक्षा विद्यालय द्वारा देना संभव हैं क्या कोई मूल्य सिर्फ भारतीयता से संबंध रखते हैं।
4. पश्चिमी तथा भारतीय दार्शनिक के विचार का तुलनात्मक अध्ययन करना।
5. वर्तमान बदली हुई सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक परिस्थितियों में शिक्षा के मूल्यों व लक्ष्यों का निर्धारण करना।
6. महान भारतीय ग्रन्थों में प्रतिपादित मूल्यों का वर्तमान में क्या औचित्य है, इसकी जानकारी करना।
7. आधुनिक पाठ्यक्रम की प्रवृत्ति के दार्शनिक आधार की विवेचना करना।
8. दर्शन के आधार पर शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण करना।

2.15 शैक्षिक अर्थशास्त्र व शिक्षा अनुसंधान

नोट

अनुसंधान हेतु एक क्षेत्र है समाज मे विद्यमान आर्थिक परिस्थितियां किसी भी प्रकार के अथवा किसी भी स्तर के शैक्षिक कार्यक्रम हेतु हमें धन की आवश्यकता होती है, धनाभाव की परिस्थितियां शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधक होती हैं। भारतवषर् के संपूर्ण बजट का यदि मूल्यांकन किया जाये तो हमारे सामने एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि शैक्षिक आवश्यकताओं की दृष्टि से यहां पर शिक्षा के ऊपर व्यय किया जाने वाला धन शून्य समकक्ष है। इस धनराशि का बढ़ा पाना तो हमारे बस की बात नहीं है परन्तु हम यह विचार अवश्य कर सकते हैं कि इस धन का कैसे व्यय किया जाये कि कम-से-कम खर्च में हम अधिक-से-अधिक लाभ अर्जित कर सकें। हमें आज ऐसी शैक्षिक योजना को तैयार करना होगा जिसके अंतर्गत हम शैक्षिक आवश्यकताओं की आर्थिक आधार पर प्राथमिकता निर्धारित कर लें। वर्तमान संदर्भ में शिक्षा को हमें एक नियोजन प्रक्रिया के रूप में देखना होगा और यह मानकर चलना होगा कि शिक्षा रूपी कारखाने में मानव रूपी सामग्री का निर्माण होता है और शिक्षा के द्वारा इस प्रकार की मानवशक्ति का निर्माण होना चाहिए जिसका उपयोग हम समकालीन आवश्यकताओं में कर सकें। आज हमारे लिये यह जानना भी आवश्यक है कि शिक्षा के विभिन्न स्तर पर किस अनुपात में व्यय किया जाना चाहिए। जिससे शिक्षा में संख्यामक व गुणात्मक दोनों हो दृष्टि से विकास किया जा सकें। शिक्षा अर्थशास्त्र के अंतर्गत किये जाने वाले शोध कार्य हमें विभिन्न तथ्यों का ज्ञान भी कराते है उदाहरणार्थ शिक्षा सामाजिक आर्थिक स्तर कैसे ऊंचा उठाया जा सकता है। किस प्रकार की शिक्षा समाज में विद्यमान बेरोजगार की समस्या का निदान करने में सहयोग देगी। शिक्षा पर किये गये व्यय का परिणाम मानव के कौशल के विकास पर किस सीमा तक पड़ता है।

शैक्षिक अर्थशास्त्र संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

पी. आर. पंचमुखी ने अपने लेख रिसर्च इन इकोनोमिक्य ऑफ एजूकेशन में शिक्षा अर्थशास्त्र संबंधी शोध क्षेत्रों को निम्नलिखित चार भागों में वर्गीकृत किया है—

1. शिक्षा व अर्थशास्त्र में परस्पर निर्भरता

2. शिक्षा व सामाजिक आर्थिक समानता
3. शैक्षिक व्यय से ब शैक्षिक अर्थ से संबंधित समस्यायें
4. शिक्षा की योजना व व्यवस्था

शैक्षिक अर्थशास्त्र संबधी शोध समस्यायें

1. जनसाधारण पर शिक्षा की दृष्टि से किये गये व्यय का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करते हुये यह देखना कि इसमें कितनी अभिवृद्धि किस क्षेत्र के अन्तर्गत की गई है।
2. विभिन्न वर्षों में राष्ट्रीय बजट के अन्तर्गत शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय का अवलोकन करना।
3. शिक्षा पर व्यय करने के लिये धन प्राप्त होने के विभिन्न स्रोत कौन से है - केन्द्रीय व राज्य स्तर पर शिक्षा को जो धन प्राप्त होता है उसके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्तर पर इन स्त्रोतों को कैसे बढ़ाया जा सकता है इसका अध्ययन करना।

नोट

4. शिक्षा में सुधार हेतु पाठ्यक्रम, कार्य करने के घंटे, विद्यालय भवन व अन्य सुविधाओं का क्या योगदान है इसका अध्ययन करना।
5. शिक्षा पर सामाजिक दृष्टि से, संस्थागत दृष्टि से, तथा निजी दृष्टि से कितना व्यय किया जाता है।
6. शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय का आर्थिक प्रगति से क्या संबंध है इसका अध्ययन करना।
7. शिक्षा का व्यक्ति व समाज की आर्थिक प्रगति में क्या योगदान है।
8. विभिन्न सामाजिक आर्थिक व सांकृतिक समूहों की आर्थिक समस्यायें व उनका बालक की शिक्षा पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
9. शिक्षण सुविधाओं का अध्ययन करना। कुछ स्थान तो ऐसे हैं जहाँ पर बहुत अधिक सुविधायें प्राप्त हैं परन्तु उनका उपयोग करने वाले नहीं है और जहां इनका उपयोग करने वाले लोग हैं जहां पर्याप्त सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं।
10. राज्य या केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त अनुदान की प्रणाली का मूल्यांकन करना व इस बात का अध्ययन करना कि कैसे इस व्यवस्था को बदलकर एक सरल रूप दिया जा सकता है।
11. शिक्षा के विभिन्न स्तर पर 'किये गये खर्च के औचित्य का परीक्षण करना।
12. तकनीक शिक्षा में प्रति व्यक्ति किये गये खर्च को ज्ञात करते हुये उसके संबधं में व्यवहारिक सुझाव देना।
13. प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर होने वाले अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या पर विचार विमर्श करना।
14. प्राथमिक, माध्यमिक व विश्वविद्यालय स्तर पर इकाई व्यय का अध्ययन करना।

2.16 शिक्षा राजनीति व शिक्षा अनुसंधान

भारतवर्ष का शैक्षिक ढांचा इस प्रकार का है कि यहां शिक्षा से संबंधित विभिन्न नीतियों का निर्धारण बुद्धिजीवियों द्वारा नहीं किया वरन् यह राजनीतियों द्वारा निर्धारित की जाती है। समय-समय पर शिक्षा के क्षेत्र में राजनैतिक व्यवस्था के हस्तक्षेप को लेकर शिक्षाविद्दों ने विचार किया है और अपनी सहमत अभिव्यक्त की है कि शिक्षा का राजनीतिकरण होने का अभाय है, उसकी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध कर देना। इसके संबंध में हमारे मस्तिष्क में अनेक शंकार्य उठती हैं हम विचार करते हैं कि शिक्षा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए या नहीं? क्या विद्यार्थियों को सक्रिय राजनीति में भाग लेना चाहिए? क्या भारतवर्ष में किसी भी स्तर की शिक्षा का विकास निजी संस्थाओं द्वारा हो संभव है? प्रजातांत्रिक ढांचे में शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए यह सब समस्यायें हमें यह सोचने पर बाध्य करती हैं कि शिक्षा को राजनैतिक प्रपंचों से दूर रहना चाहिए। विभिन्न राजनैतिक दल शिक्षा के विभिन्न आयाम के बारे में विचार अवश्य प्रस्तुत करते हैं परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हम इन विचार का विश्लेषण करें व राजनैतिक परिपेक्ष में शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करें।

शिक्षा राजनीति संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण :

शिक्षा राजनीति संबंधी शोध कार्य को निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. शिक्षा का राजनीति पर प्रभाव।
2. राजनीति का शिक्षा पर प्रभाव।

3. प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता।
4. संविधान के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा।

शिक्षा राजनीति संबंधी शोध समस्यायें

नोट

1. विभिन्न राजनैतिक दल द्वारा अपने-अपने घोषणा पत्रों में शिक्षा के संबंध में व्यक्त किये गये विचार का विश्लेषण।
2. प्रजातंत्र में शिक्षा के उद्देश्यों के संबंध में खोज करना।
3. संविधान में निहित सार्वभौमिक शिक्षा के लक्ष्यों को कैसे प्राप्त किया जा सकता है।
4. शिक्षा का राजनीतिकरण करने के क्या लाभ व हानि हैं।
5. शिक्षा की राजनीति का शिक्षा के गिरते हुये स्तर से संबधं देखना।
6. छात्रों की राजनीति का छात्र असंतोष व छात्र अनुशासनहीनता पर, प्रभाव जानना।

2.17 शिक्षा का इतिहास व शैक्षिक अनुसंधान

शिक्षा का इतिहास अथवा हम यह भी कह सकते है कि शिक्षा के अन्तर्गत किया गया विकास भी शिक्षा क्षेत्र में अनुसंधान हेतु एक नवीन आयाम को जन्म देता है उदाहरणार्थ यदि हम प्राथमिक शिक्षा को लें और यह दे कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारतवष में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई है? यह प्रगति किस क्षेत्र विशेष में अधिक हुई? इसका लाभ सभी जातियों व वर्ग ने समान रूप से उठाया है अथवा नहीं। यह प्रगति संतोषजनक है अथवा नहीं। यदि प्रगति असंतोषजनक है तो ऐसे कौन से उपाय है जिनके द्वारा हम शिक्षा के इस क्षेत्र का पूर्ण रूप से विकास कर सकते हैं। शिक्षा का इतिहास अनसुधांन हेतु अनेक क्षेत्रों को उद्घोषित करता है साथ ही इतिहास हमारे समक्ष वह आधार भी प्रस्तुत करता है जो हमें हमारे वर्तमान को सुधारने की दिशा प्रदान करते हैं। आज की दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति यह है कि शैक्षिक विकास की प्रक्रिया पर शोध कार्य की ओर शोधकर्ताओं पर ध्यान नहीं जा रहा है। आवश्यकता इस बात की भी है कि हम यह अध्ययन करें कि आज के स्कूल व कॉलेज का छात्रों के मूल्यों व अभिवृत्तियों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। आज शिक्षा को प्राप्त करने वाली भारतीय नारी क्यों सती हो रही है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था का जाति गतिशीलता पर क्या प्रभाव पड़ रहा है।

शिक्षा इतिहास संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

डी.आर.पी. सिंह ने अपने लेख भारतवर्ष में शिक्षा के अंतर्गत शिक्षा के इतिहास संबंधी शोध क्षेत्र निम्न बताए है—

1. प्राचीन भारत वर्ष में शिक्षा
2. मध्यकालीन भारतवर्ष में शिक्षा
3. ब्रिटिश कालीन भारतर्ष में शिक्षा
4. स्वतंत्रता के पश्चात् भारतवषर् में शिक्षा
5. भारतीय समाज की समस्यायें।
   (अ) औद्योगिकरण व शिक्षा।
   (ब) नगरीय विकास, दलित समाज व शिक्षा

(स) सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक आंदोलन व उनका शिक्षा पर प्रभाव

(द) विशिष्ट समय व क्षेत्र में नारी शिक्षा की स्थिति व विकास।

(य) विशिष्ट समय व क्षेत्र में हरिजन शिक्षा की स्थिति का विकास।

नोट

शिक्षा का इतिहास संबंधी शोध समस्यायें

1. भारतवर्ष में तकनीक व व्यावसायिक शिक्षा का विकास (स्वतंत्रता से पूर्व व स्वतंत्रता के पश्चात्)
2. पूर्व उतर देश में शिब्ली संस्थाओं का अध्ययन व मुस्लिम शिक्षा क्षेत्र में उनकी देन।
3. वैदिक काल में शिक्षा के विभिन्न आयाम का क्या स्वरूप था, इसका अध्ययन करना।
4. मुस्तिम परम्पराओं का भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा, इसकी जानकारी करना।
5. ब्रिटिश काल में भारतीय शिक्षा में क्या प्रगति हुई इसे जानना।
6. स्वतंत्रता के पश्चात् प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, विश्वविद्यालय शिक्षा, शिक्षक शिक्षा, समाज शिक्षा, स्त्री शिक्षा की क्या स्थिति है व सरकार द्वारा इनके सुधार हेतु क्या उपाय अपनाये गये है।
7. वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर प्राचीन मूल्यों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है।
8. वर्तमान शिक्षा व्यवस्था देश की भाषा प्रगति में क्या योगदान दे सकती हैं।

2.18 शिक्षा मनोविज्ञान व शैक्षिक अनुसंधान

शिक्षा मनोविज्ञान अनुसंधान का वह क्षेत्र है जहाँ पर प्राचीन काल से काम होता चला आ रहा है। **अरस्तु** ने बहुत पहले बालक के संज्ञानामक विकास की बात कही थी। एल. पद. ह्यूकिकन ने 1986 में शिक्षा मनोविज्ञान नाम की पुस्तक लिखी और इन्होंने मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को शिक्षा क्षेत्र में क्रियावित किया। फ्रोवेलए हरबर्ट, मॉन्टेसरी नामक विद्वानों ने शिक्षा को बाल केन्द्रित बनाने की बात कहीं और 1988 की नई शिक्षा नीति ने भी शिक्षा को मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुरूप ढालने पर बल दिया परन्तु मनोवैज्ञानिक धरातल पर जब हम शिक्षा के प्रारूप को तय करने की बात सोचते हैं तो हमारे समक्ष अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। बालक के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था को कैसे ढाला जा सकता है। किस प्रकार की मानसिक विशेषता वाले बालक के लिये किस प्रकार का पाठ्यक्रम का औचित्य निर्धारित करना। शिक्षा के द्वारा बालक की बुद्धि व सृजनात्मकता में विकास कर पाना किस सीमा तक संभव है। बालक की वैयक्तिक, मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के निर्धारण में वंशानुक्रम व वातावरण का क्या स्थान है। बालक की अभिवृत्ति, अभिरुचि व मूल्यों को एक निश्चित शैक्षिक कार्यक्रम के द्वारा किस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है। क्या विभिन्न दृष्टि से विक्लांग व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम के क्रियान्वयन की आवश्यकता है। वर्तमान में वैयक्तिक विशेषताओं के मापन हेतु जो परीक्षण उपलब्ध हैं उनकी विश्वसनीयता व वैधता संतोषजनक है अथवा नहीं। वह कौन से क्षेत्र हैं जिन पर अभी तक परीक्षण उपलब्ध नहीं हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण

सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजूकेशन (चतुर्थ भाग) में डी. के सी. पांडा ने 1987 में शिक्षा मनोविज्ञान संबंधी शोध को निम्न भागों में वर्गीकृत किया है-

1. **सीखने बालों की विशेषतायें** – सीखने वाले की व्यावहारिक विशेषतायें क्या हैं इसका अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है।

नोट

2. **व्यक्तित्व ब आत्मबोध** – व्यक्तित्व के विभिन्न कारक का आत्मबोध पर क्या प्रभाव पड़ता है। विभिन्न संकाय के व्यक्तियों का आत्मबोध कैसा है। अनुसूचित जाति व जनजाति के व्यक्तियों की रुचियों, सजृनात्मक समायोजन, उपलब्द्धोन्मुख प्रेरणा, बौद्धिक स्तर आदि का वैयक्तिक विशेषताओं के संदर्भ में अध्ययन करना, विशिष्ट बालक की वैयक्तिक विशेषताओं का अध्ययन करना।
3. **प्रेरणा** – लबद्धोन्मुख प्रेरणा के स्तर का अध्ययन, लबद्धोन्मुख प्रेरणा के संबंधित कारक व लबद्धोन्मुख प्रेरणा का उपलब्धि स्तर पर प्रभाव आदि का अध्ययन इसके अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है।
4. **बुद्धि** – बुद्धि का व्यक्तित्व के अन्य कारक से संबधं ज्ञात करना। बुद्धि का संज्ञानामक प्रक्रिया के विकास के रूप में अध्ययन करना।
5. **अभिवृत्तियां, रुचियां व आकांक्षायें** – अध्यापक व छात्रों की अभिवृत्तियों रुचियों व आकांक्षाओं को अन्य कारक के संदर्भ में विश्लेषण करना। छात्रों को शैक्षिक व व्यवसायिक आकांक्षाओं का अध्ययन करना।
6. **मूल्यों एवं नैतिकता का विकास** – विभिन्न वर्ग एवं लिंग के आधार पर मूल्यों का अध्ययन करना, शिक्षा द्वारा मूल्यों का विकास करके किया जा सकता है। ग्रामीण व शहरी छात्रों में क्या अन्तर है। सामाजिक दृष्टि से विचलित बालक के मूल्यों का अध्ययन करना।
7. **संज्ञानामक विकास** – इसके अंतर्गत संज्ञानामक प्रक्रिया, भाषा विकास आदि का अध्ययन किया जाता है साथ ही यह देखा जाता है कि विद्यालय वातावरण व परिवार के वातावरण का बालक के संज्ञानामक विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है।
8. **सीखने की प्रक्रिया** – भाषा को सीखने की क्षमता, तर्क व चिन्तन का विकास, समस्या समाधान क्षमता का विकास व तार्किक चिन्तन आदि का अध्ययन इसके अंतर्गत किया जाता है।
9. **कक्षा व्यवस्था** – कक्षा में अध्यापक का व्यवहार, कक्षा का वातावरण, छात्रों में नेतृत्व गुणों का विकास आदि का अध्ययन हम इसके अंतर्गत करते हैं।
10. **मानसिक स्वास्थ्य व समायोजन** – अध्यापक व छात्र का कक्षा में वांछनीय व्यवहार हो इसके लिये यह आवश्यक है कि उनके मानसिक स्वास्थ्य का भी अध्ययन किया जाये एकाक परिवार, संयुक्त परिवार में रहने वाले छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य का अध्ययन करना व मानसिक स्वास्थ्य के सहायक कारक का अध्ययन करना।
11. **व्यवहारात्मक विकास** – विभिन्न वर्ग, क्षेत्रों व लिंग के छात्रों का व्यक्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों के विकास का अध्ययन करना।
12. **परीक्षण व मापन** – व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर विश्वसनीय व वैध परीक्षण का निर्माण करना।

शिक्षा मनोविज्ञान संबंधी शोध समस्यायें

1. विशिष्ट वैयक्तिक विशेषताओं, प्रेरणा व अभिवृत्तियों को पहचानने व उनका मूल्यांकन करना
2. कक्षा के वातावरण, नेतृत्व क्षमता आदि का अध्ययन करना।
3. उपलब्धि संबंधी कारक का अध्ययन करना जिनके आधार पर उपलब्धि के संबंध में भविष्यवाणी की जा सकें।
4. बालक व व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों के विकास का अध्ययन करना।

नोट

5. बालक व व्यक्तित्व के विकास पर वंशानुक्रम और वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है।
6. सीखने की योग्यता व अभिक्षमता को शिक्षा के द्वारा कैसे विकसित किया जा सकता है।
7. 7 बालक के सीखने की क्षमता पर विद्यालय के वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है। इसका अध्ययन करना।
8. प्रेरणा, सृजनात्मकता, समायोजन, आकांक्षास्तर स्तर व कुंठाओं का लिंग, जाति व धर्म के संदर्भ में अध्ययन करना।
9. शारीरिक दृष्टि से असामान्य बालक का अध्ययन करना।
10. मानसिक दृष्टि से असामान्य बालक का अध्ययन करना।
11. उच्च बुद्धि बालों तथा प्रतिभाशाली बालक का अध्ययन करना।
12. विभिन्न क्षेत्रों के संबंध में अन्सर्न्तकृतिक स्तर पर शोध कार्य करना।
13. बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में अध्यापक के महत्व का मूल्यांकन करना।
14. अध्यापक छात्र संबंधों का बालक के व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता हैं इसका अध्ययन करना।
15 विभिन्न वर्ग के छात्रों के लिये व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी पाठ्यक्रम का निर्माण करना।
16. निर्देशन व परामर्श के कार्यक्रमों की उपयोगिता का मूल्यांकन करना व उनमें वांछनीय सुधार लाना।
17. कुशल कार्यकताओं की विशेषताओं को निर्धारित करना चूँकि इन्हें पर कार्यक्रम की सफलता निर्भर करती है।
18. शिक्षण नीतियों व पद्धतियों में सुधार लाने की दिशा में कार्य करना।

अभी हमने शिक्षा की विषय वस्तु शिक्षण, सीखना, मूल्यांकन, सामाजिक, सांकृतिक आर्थिक राजनैतिक व एतिहासिक संदर्भ में शिक्षा अनुसंधान के क्षेत्रों की चर्चा की परन्तु उपरोक्त शोध क्षेत्रों के अतिरिक्त शिक्षा के अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र अधोलिखित है।

1. जनसंख्या शिक्षा
2. भाषा शिक्षा
3. शैक्षिक निर्देशन
4. तुलनात्मक शिक्षा
5. शैक्षिक शासन व संगठन
6. शिक्षण विधि
7. विक्लांग बच्चों की शिक्षा
8. प्रौढ़ शिक्षा
9. वातावरण की शिक्षा
10. प्रदूषण की शिक्षा
11. सामाजिक दृष्टि से सुविधाहीन वर्ग

इसके साथ हो आज आवश्यकता इस बात की भी है कि हम शिक्षा दर्शन, शिक्षा इतिहास, शिक्षा समाजशास्त्र व शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये अनुसंधान का विश्लेषण करें तथा एक समवयवाद विचार धारा का विकास करें। भारतवर्ष के संबंध में यह सर्वविदित है कि यहां अनेक दृष्टि से भिन्नता पाई जाती हैं।

हम यदि जनसंख्या को विभिन्न वर्ग में विभाजित करें तो यह भिन्नता और अधिक स्पष्ट रूप में गोचर होती है। यह वर्ग निम्नलिखित है :-

1. ग्रामीण - शहर
2. उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर - निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर
3. सम्पन्न वर्ग - विपन्न वर्ग
4. शिक्षित वर्ग - अशिक्षित वर्ग
5. सवर्ण जाति - अछूत जाति
6. राजनैतिक सुविधा प्राप्त वर्ग - राजनैतिक दृष्टि से तिरस्कृत वर्ग
7. बालक - बालकायें।

नोट

इन सभी वर्गों का यदि हम अलग-अलग तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह पायेंगे कि इनकी वैयक्तिक विशेषतायें, आवश्यकतायें, सामाजिक आर्थिक स्तर, मानसिक विशेषतायें, शैक्षिक उपलब्धियों व व्यवहारगत विशेषताओं में बहुत ही अन्तर है। यह अन्तर क्यों है तथा इस अन्तर को शिक्षा की सहायता से कैसे दूर किया जा सकता है। यह एक विचारणीय प्रश्न है और इस प्रश्न के समाधान हेतु हमें गहन अध्ययन व विस्तृत शोध की आवश्यकता है। इस शोध द्वारा हमारा मुख्य रूप से प्रयास यही होना चाहिये कि हम इन वर्ग अन्तर को कम कर सकें व इन्हें एक-दूसरे के समकक्ष ला सकें। यदि हम उनके सामाजिक आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाना चाहते है तो हमें शैक्षिक कार्यक्रम इस प्रकार का बनाना होगा जो कि उनकी सामाजिक आर्थिक आवश्यकताओं व विशेषताओं के अनुरूप हों, उदाहरणार्थ ग्रामीण अंचल की शिक्षा कप्रारूप शहर अंचल की शिक्षा के प्रारूप से पूणतया भिन्न होना चाहिए चूँकि दोनों थल कसामाजिक व सांकृतिक आवश्यकताय व विशेषतायें भिन्न-भिन्न है।

शिक्षा जगत में समय-समय पर इस उद्देश्य से सेमिनार आयोजित की गई है "प्रशिक्षण महाविद्यालय के अन्तर्गत अनुसंधान की उन्नति" विषय पर आयोजित किये गये परिसंवाद में अनुसंधान पर निमित्त निम्नलिखित क्षेत्र निर्देशित किये गये थे:-

1. पाठ्यक्रम निर्माण में परीक्षात्मक कार्य
2. विद्यालय संगठन एवं शासन
3. अध्यापन कार्यकता वर्ग
4. शिक्षण तकनीकियों एवं पद्धतियों में सुधार
5. भारतीय बालक का मनोविज्ञान (पिछड़ा बालक, अपराधी बालक, विचलित बालक व प्रतिभाशाली बालक)
6. परीक्षण एवं संदर्शन
7. शैक्षिक समाजशास्त्र

बंगलौर में अखिल भारतीय शिक्षण महाविद्यालय के सम्मेलन में प्रो. वर्मा ने कहा कि "अनुसंधान द्वारा ऐसी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया जाना चाहिए जिनका व्यवहारिक महत्व हों" सम्मेलन में जिन समस्याओं का अध्ययन करने की बात भारतवर्ष के संदर्भ में कह गई थी वह निम्न है-

1. शैक्षिक तथा विकासात्मक मनोविज्ञान
2. भारतीय दर्शन
3. शैक्षिक शासन

नोट

4. शैक्षिक मूल्यांकन तथा मापन
5. शैक्षिक तथा व्यावसायिक संदर्शन
6. विद्यालय के विभिन्न विषय की अध्यापन प्रणालियां।
7. पाठ्यवस्तु विवरणिका, पाठ्य पुस्तक।
8. अध्यापक प्रशिक्षण

श्री वी.वी. कामत ने अपने लेख "कैन ए टीचन डू रिसर्च" में भारत वर्ष में शिक्षा अनुसंधान संबंधी शैक्षिक समस्याओं की एक सूची प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है :-

1. भारतवर्ष में पब्लिक स्कूल
2. भाषा अधिगम में भूलें या त्रुटियाँ
3. विद्यालय में स्वशासन व्यवस्था
4. बालक व बालकाओं की अध्ययन अभिरुचियां
5. श्रेष्ठ बालक की शिक्षा
6. पिछड़े बालक की शिक्षा
7. प्रशसनात्मक प्रथाएँ
8. प्राथमिक विद्यालय में अध्ययन की समूह पद्धतियां
9. भारतीय शिक्षाशास्त्रीओं की शैक्षिक देन
10. प्राथमिक शिक्षा क्षेत्र में ऐच्छिक विद्यालय
11. नगर तथा ग्रामीण क्षेत्रों की उपलब्धियों में अन्तर
12. भूगोल एवं इतिहास विषय की अध्यापन पद्धतियां

उपरोक्त आधार पर हम यह कह सकते है कि शोध अध्ययन हेतु अनेक क्षेत्र हैं। आवश्यकता इस बात की है कि शोद्यार्थी इन क्षेत्रों पर गहनता के साथ अध्ययन करें और इनके द्वारा संबंधित समस्याओं का निदान करने हेतु कोई ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करें। साथ ही शोद्यार्थियों के मस्तिष्क में से यह बात भी हटनी चाहिये कि शोधकार्य सिर्फ डिग्री प्राप्त करने के लिये नहीं किया जा रहा है। वरन् उसके माध्यम से शिक्षा जगत से संबंधित किसी भी समस्या का अन्वेषण किया जाना है और उस समस्या के समाधान हेतु ठोस सुझाव भी प्रस्तुत करने हैं।

2.19 सारांश

शैक्षिक अनुसंधान का अपना स्वयं का दर्शन होता है, इसकी प्रमुख मान्याएं होती हैं - यह वैज्ञानिक कार्य विधि है, जिसके आधार पर संबंधित सिद्धान्तों का अन्वेषण एवं विवेचना की जाती है। शिक्षा क्षेत्र में ज्वलंत एवं जटिल समस्याओं के वैज्ञानिक हल खोजे जाने तथा उनके विभिन्न पक्षों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने तथा शोध प्रक्रिया के दौरान सदैव यह ध्यान में रखा जाना आवश्यक होता है कि कहीं शिक्षा एवं जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं मान्यताओं की अनदेखी न कर दी जाये। सामान्यीकरण की क्रिया वैज्ञानिकता के लिए हुए रहती है, जिस पर आधारित एक-एक निश्चित क्रिया विधि होती है तथा संबंधित प्रश्नों का एकत्रीकरण होता है। यही कारण है कि अनुसंधानकर्ता निष्पक्ष भाव से शोध कार्य सम्पादित करता है तथा शोध कार्य के निष्कर्षों को ज्यों का त्यों स्वीकार करता है। यही कारण है कि जहाँ कभी भी पूर्वाग्रह की

शंका हो जहां अध्ययन से संबंधित परिकल्पनाओं का निर्माण किया जाता है। यदि पूर्व ज्ञान, अनभुव, अन्य सूचना व तर्क सम्मत विवेचन के आधार पर परिकल्पनाएं बनायी जाती है तभी वे वैज्ञानिक विधि के अंतर्गत आयेगी। परिकल्पना निर्माण में निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ होना आवश्यक है।

नोट

शोधकर्ता को केवल अपने विषय की समस्याओं एवं वैज्ञानिक-अनुसंधान की विधि एवं प्रक्रिया से परिचित कराना तथा उनका प्रारम्भिक अनुभव देना हो मुख्य उद्देश्य होता है। अत: जब अनुसंधानकर्ता को केवल अनुसंधान करना सीखना मात्र हो उद्देश्य है तो वह फिर उसके कार्य में श्रेष्ठता व गहनता नहीं हो पाती हैं। अनेक कमियां स्पष्ट दिखाई देने लग जाती है। कहीं-कहीं तो छात्रगण पुराने शोध ग्रन्थों में से विषय वस्तु को थोड़े परिवर्तन के साथ-साथ नकल करते तक देखे जाते हैं, जिसमें उनका स्वयं का कुछ नहीं होता है।

2.20 अभ्यास प्रश्न

1. अनुप्रयुक्त अनुसंधान एवं क्रियात्मक अनुसंधान में अन्तर स्पष्ट करें।
2. विद्यालयी-क्रियात्मक से संबंधित 5 उदाहरण दें जहाँ क्रियात्मक अनुसंधान किया जा सकता है।
3. मूलभूत शैक्षिक अनुसंधान की मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट करें।
4. शिक्षा के क्षेत्र में मौलिक अनुसंधान एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान की पारस्परिक निर्भरता पर अपने विचार प्रकट करें तथा उदाहरण भी दें।
5. क्रियामक अनुसंधान की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट करें कि इसके क्या-क्या मुख्य क्षेत्र हैं जहाँ इसे सफलतापूर्व क आयोजित किया जा सकता है।
6. शिक्षा अनुसंधान के विभिन्न क्षेत्रों पर संक्षिप्त निबंध लिखिये।
7. वर्तमान समय में बालक की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर शोध करने की आवश्यकता क्यों है इसकी विस्तृत विवेचना कीजिये।
8. शिक्षा इतिहास संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण कीजिये व इस क्षेत्र पर अनुसंधान की आवश्यकता बताइये।
9. शिक्षा अर्थशास्त्र पर शोध करना क्यों आवश्यक है। इस क्षेत्र की शोध समस्याओं का उल्लेख कीजिये।
10. शिक्षा मनोविज्ञान संबंधी शोध शिक्षण प्रक्रिया में सुधार कार्य लाने में सक्रिय योगदान देती है आप इस मत से कहां तक सहमत है।
11. डी. जी. एस. अरोरा द्वारा बताय गये पाठ्यक्रम शोध के क्षेत्र बताइये।
12. अध्यापक शिक्षण संबंधी शोध क्षेत्रों का वर्गीकरण लिखिये।

2.21 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शैक्षिक तकनीकी–एस.एस. माथुर, भट्ट ब्रदर्स।
- शैक्षिक तकनीकी प्रबंध एवं मूल्यांकन–जे.सी. अग्रवाल, भट्ट ब्रदर्स।

नोट

अध्याय-3

शोध के तरीके

(Structure)

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 क्रियात्मक अनुसंधान का अर्थ
3.4 क्रियात्मक अनुसंधान की प्रमुख विशेषताएँ
3.5 क्रियात्मक अनुसंधान की प्रक्रिया
3.6 क्रियात्मक अनुसंधान की उपयोगिता
3.7 क्रियात्मक अनुसन्धान की सीमाएँ
3.8 अनुसंधान विधियों का वर्गीकरण
3.9 मूलभूत एवं व्यावहारिक अनुसंधान
3.10 वर्णनात्मक अनुसंधान का स्वरूप एवं अर्थ
3.11 सर्वेक्षण अध्ययन
3.12 अन्तर्सम्बन्धात्मक अध्ययन
3.13 विकासात्मक अध्ययन
3.14 उपनत्यात्मक अध्ययन
3.15 घटनोत्तर अनुसंधान
3.16 सत्य प्रयोग से अन्तर
3.17 ऐतिहासिक अनुसंधान का अर्थ एवं स्वरूप
3.18 ऐतिहासिक अनुसंधान की प्रक्रिया
3.19 प्रयोग: अर्थ एवं स्वरूप
3.20 क्षेत्र-प्रयोग
3.21 क्षेत्र-अध्ययन
3.22 केस अध्ययन विधि की परिभाषा एवं स्वरूप
3.23 केस अध्ययन की प्रमुख विशेषताएँ
3.24 केस अध्ययन विधि के प्रकार
3.25 केस अध्ययन विधि की पूर्वकल्पनाएँ
3.26 केस अध्ययन विधि के लाभ एवं दोष
3.27 केस अध्ययन, एकाकी-प्रयोज्य प्रयोग तथा केस इतिहास में अंतर
3.28 केस अध्ययन विधि के दोषों को दूर करने के उपाय
3.29 प्रजातिलेखन क्षेत्र-कार्य

नोट

3.30 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की परिभाषा व अर्थ
3.31 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की विशेषताएँ
3.32 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति के प्रकार
3.33 वैयक्तिक अध्ययन में ध्यान रखने योग्य सावधानियाँ
3.34 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की उपयोगिता या महत्त्व
3.35 मूल्यांकन
3.36 सारांश
3.37 अभ्यास-प्रश्न
3.38 संदर्भ पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शिक्षा अनुसंधान के कार्य तथा संकल्पना के विकास को जानने में,
- क्रियात्मक अनुसंधान तथा इसकी प्रक्रिया और उपयोगिता को जानने में;
- अनुसंधान विधियों के वर्गीकरण को समझने में;
- मूलभूत एवं व्यावहारिक अनुसंधान को समझने में।
- वर्णनात्मक अनुसंधान के स्वरूप एवं अर्थ को समझने में;
- विकासात्मक एवं उपनत्यात्मक अध्ययन को समझने में;
- ऐतिहासिक अनुसंधान के अर्थ एवं स्वरूप को समझने में;
- प्रयोगात्मक अनुसंधान के अर्थ एवं स्वरूप को समझने में;
- केस अध्ययन विधि की परिभाषा, स्वरूप, विशेषता एवं प्रकार को समझने में;
- प्रजातिलेखन क्षेत्र-कार्य की जानकारी प्राप्त होती है;
- वैयक्तिक जीवन अध्ययनों की कार्यप्रणाली की जानकारी।

3.2 प्रस्तावना

प्रत्येक क्षेत्र में अनुसंधान का विशिष्ट स्थान है। वर्तमान एवं पुरातन ज्ञान के परीक्षण, सत्यापन एवं मूल्यांकन का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम है। साथ ही नवीन ज्ञान के सृजन का भी सशक्त आधार है। पिछले दो-तीन दशकों में व्यवहार विज्ञानों के क्षेत्र में उसने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है। इन विज्ञानों के क्षेत्र में लिखी जा रही पुस्तकें अत्यधिक शोध-प्रधान होती जा रही हैं। अनुसंधानों की तेजी से बढ़ती हुई संख्या के साथ-साथ उसकी गुणवत्ता में भी वृद्धि हो रही है। विशेष रूप से उसकी विधि एवं प्रक्रिया के क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में बहुत अधिक उन्नति हुई है। आज की अधिकतर अध्ययनगत समस्याएँ यथार्थता से जुड़ी पाई जाती हैं, उनकी विधि एवं प्रक्रिया भी अधिक सार्थक दिखती हैं तथा उसमें उच्च-स्तरीय सांख्यिकी का प्रयोग किया जा रहा है। शोधकर्ताओं में पहले की तुलना में अनुसंधान का अधिक अच्छा ज्ञान एवं अधिक अच्छी कुशलताएँ भी पाई जाती हैं, तो भी अनुसंधान की विधि एवं तकनीकों में अभी बहुत सुधार की आवश्यकता है।

नोट

शिक्षा का क्षेत्र अत्यंत विशद् एवं व्यापक है। अनेक ज्ञान-क्षेत्रों की सीमाओं का उसमें अतिक्रमण एवं समावेश होता है। अत: अनेक प्रकार की समस्याएँ उसके क्षेत्र को आच्छादित करती हैं। उनके समाधान हेतु अनेक प्रकार की अनुसंधान विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग उसके क्षेत्र में किया जाता है।

अनुसंधान का यह सबसे अधिक प्रचलित प्रकार है। शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रत्येक तीसरे अध्ययन को वर्णनात्मक अनुसंधान की श्रेणी में रखा जा सकता है। शोध के क्षेत्र को परिसीमित करने के लिए इस अनुसंधान में भी जनसंख्या समष्टि एवं न्यादर्श की परिभाषा एवं विधि का स्पष्टीकरण किया जाता है। **वान डालेन** ने वर्णनात्मक अनुसंधान के तीन प्रकारों का वर्णन किया है वे हैं–सर्वेक्षण अध्ययन, अन्तर्संबंधात्मक अध्ययन एवं विकासात्मक अध्ययन।

वर्णनात्मक अनुसंधान का तीसरा प्रकार विकासात्मक अध्ययन है। इस प्रकार के अध्ययनों का उद्देश्य होता है यह जानना कि किसी निश्चित अथवा निर्धारित समय के अन्तराल में किसी व्यक्ति, संस्था अथवा सामाजिक प्रक्रिया के विकास में कितना और किस प्रकार का परिवर्तन आया है। इसी के साथ इसमें यह व्याख्या भी की जाती है कि जो परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं वे किन कारण ों से तथा किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं। वान डालेन ने इन अध्ययनों के दो प्रकारों का वर्णन किया है–एक है वृद्धि एवं विकासात्मक अध्ययन (growth studies) तथा दूसरा है उपनत्यात्मक अध्ययन (trend studies)।

सृष्टि में जो कुछ भी है उसका अतीत भी होता है, वर्तमान भी एवं भविष्य भी। कोई भी घटना, संस्था, विचार, धारणा, नीति, आर्थिक-सामाजिक विशेषता, सिद्धांत अथवा परिपाटी ऐसी नहीं जिसका अतीत न हो, जिसका इतिहास न हो, साथ ही कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका इतिहास उसके वर्तमान एवं भविष्य से न जुड़ा हो। अत: किसी भी घटना, प्रक्रिया अथवा परम्परा को भली-भाँति समझने के लिए कई बार उसके अतीत में झाँककर देखना भी आवश्यक होता है। दूसरे, मनुष्य की यह जिज्ञासा बहुत स्वभाविक होती है कि जो उसके अनुभव की सीमा में आता है वह उसके अतीत को भी जानना चाहता है। इसी पृष्ठभूमि में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में ऐतिहासिक अनुसंधान का सूत्रपात एवं विकास हुआ। शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्रों में भी ये अनुसंधान महत्त्वपूर्ण समझे गए। आज इन क्षेत्रों में अनेक ऐसे अध्ययन उपलब्ध हैं जो इस श्रेणी में आते हैं।

मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शिक्षा (education) में केस अध्ययन विधि का प्रयोग आरंभ से ही किया जाता रहा है। फलस्वरूप इन विज्ञानों के शोधों (researches) में इसकी विशेष अहमियत मानी गयी है। सामाजिक शोध (social research) में केस अध्ययन विधि का उपयोग सबसे पहले फ्रेड्रिक ली प्ले (Fredric Le Play) द्वारा 1840 में पारिवारिक बजट (family budgets) के अध्ययन में किया गया।

किसी समाज के प्रथानुगत व्यवहारों, विश्वासों एवं मनोवृत्तियों का विस्तृत वर्णनात्मक लेखा-जोखा तैयार करने की विधा प्रजातिलेखन कहलाती है। यह सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा है। यह प्राय: क्षेत्र-कार्य यानि फील्ड वर्क (थ्पमसक ूवता) के माध्यम से तैयार किया जाता है। यह सामान्यत: आदिम अथवा पूर्वशिक्षित समाजों के विवरणात्मक अध्ययनों से संबंधित है। ज्ञान की इस शाखा में विश्लेषण एवं व्याख्या की अपेक्षा वर्णन को ही प्रमुखता दी जाती है। प्रजातिलेखन में बहुधा सहभागी अवलोकन की शोध विधि का प्रयोग किया जाता है।

विभिन्न समाजों के सांस्कृतिक तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाली सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा प्रजातिशास्त्र के नाम से जानी जाती है। संस्कृतियों में क्या भिन्नता है और इस

भिन्नता के क्या कारण है, प्रजातिशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख विषय-वस्तु है। प्रजातिलेखन तथा प्रजातिशास्त्र दो भिन्न अवधारणाऐं हैं। जहाँ प्रजातिलेखन में एकाधिक समुदायों का मात्र वर्णन होता है, वहाँ प्रजातिशास्त्र में प्रजातिलेखनों द्वारा उपलब्ध कराई गई सामग्री के आधार पर सिद्धांतों की खोज करने का यत्न किया जाता है। इसके लिए विभिन्न समुदायों की सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

नोट

3.3 क्रियात्मक अनुसंधान का अर्थ

मौलि के शब्दों में क्रियात्मक अनुसंधान एक तत्स्थान (on the spot) अध्ययन है जिसका उद्देश्य किसी तात्कालिक समस्या का समाधान खोजना होता है अर्थात् यह एक ऐसा अनुसंधान है जो वहीं किया जाता है जहाँ वास्तव में समस्या उत्पन्न हुई है तथा बनी हुई है। यदि किसी विद्यालय विशेष के छात्रों में अनुशासनहीनता इतनी अधिक है कि शिक्षण-कार्य सुचारू रूप से नहीं चल पाता तो इस समस्या का समाधान खोजने हेतु उसी विद्यालय में वहीं के अध्यापकों द्वारा किया गया अध्ययन एवं प्रयास क्रियात्मक अनुसंधान कहलायेगा। स्वयं **कोरे** (1962) के शब्दों में, क्रियात्मक अनुसंधान एक ऐसा अध्ययन है जिसे कोई व्यक्ति अपने ही काम को अधिक अच्छे ढंग से करने के लिए करता है, यथा–एक शिक्षक का अपने शिक्षण-कार्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से तथा एक विद्यालय-प्रशासक का अपने प्रशासन को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए किया गया अध्ययन। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि क्रियात्मक अनुसंधान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी क्षेत्र के कार्यकर्ता अपनी समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करते हैं ताकि वे जो निर्णय लेते हैं तथा जो कार्य करते हैं, उनको सही दिशा मिल सके, उनमें सुधार किया जा सके तथा उनका मूल्यांकन किया जा सके।

क्रियात्मक अनुसंधान की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया गया है। इनके द्वारा उसका अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

3.4 क्रियात्मक अनुसंधान की प्रमुख विशेषताएँ

क्रियात्मक अनुसंधान की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

मूलभूत अनुसंधान से भिन्न

क्रियात्मक अनुसंधान की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह कई दृष्टिकोणों से मूलभूत अनुसंधान (fundamental research) से भिन्न होता है। मूलभूत अनुसंधान का उद्देश्य सामान्यनों (generalizations) एवं नियमों (laws) की खोज करना होता है जिनके आधार पर उसी प्रकार की अनेक घटनाओं की व्याख्या की जा सके। इसीलिए उसमें एक वृहद् समष्टि (large population) से प्रतिनिधि न्यादर्श छाँटकर उसे अध्ययन का आधार बनाया जाता है। अत: इस प्रकार के अध्ययन में समय बहुत लगता है। उसकी अध्ययन-विधि, उसके उपकरण एवं विश्लेषण-विधियाँ सब अधिक जटिल होती हैं। इसके विपरीत क्रियात्मक अनुसंधान में उद्देश्य बहुत सीमित होता है। सामान्यन, नियमों की खोज एवं सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि जो मूलभूत अध्ययन के प्राण होते हैं, क्रियात्मक अनुसंधान के उद्देश्य नहीं होते। क्रियात्मक अनुसंधान का उद्देश्य तो अत्यन्त व्यावहारिक होता है। वर्तमान कार्य-पद्धति में सुधार लाना, किसी तात्कालिक समस्या का समाधान खोजना, किसी प्रचलित नियम अथवा विधि की प्रभाविकता अथवा उसकी असफलता के कारणों को खोजना आदि उसके

उद्देश्य होते हैं। **मौलि** के शब्दों में, क्रियात्मक अनुसंधान यह जानने के लिए किया जाता है कि किसी विशिष्ट समस्या को सुलझाने के लिए क्या कदम उठाए जाने चाहिए।

नोट

दूसरा अन्तर अध्ययन के स्थान एवं इकाइयों की संख्या के दृष्टिकोण से होता है। मूलभूत अनुसंधान का आधार एक वृहद् समष्टि तथा उससे चुना गया प्रतिनिधि-न्यादर्श होता है जिसकी इकाइयाँ (units) एक विस्तृत क्षेत्र से चुनी जाती हैं। उनके चयन की प्रक्रिया भी विशिष्ट होती है। क्रियात्मक अनुसंधान में समष्टि एवं न्यादर्श का प्रश्न नहीं उठता। यह अनुसंधान तो उसी विद्यालय अथवा संस्थान में किया जाता है जहाँ की समस्या अध्ययनगत है। वहीं से अध्ययन हेतु थोड़ी सी अथवा सब इकाइयों का चयन किया जाता है। इकाइयों की संख्या बहुत अधिक होना आवश्यक नहीं होता। मान लीजिए समस्या है एक विद्यालय की आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों का गणित में बहुत कमजोर होना। इस समस्या का समाधान खोजने के लिए पहले छात्रों की इस कमजोरी के कारण ों का पता लगाने के लिए अनुसंधान की आवश्यकता होगी। यह कार्य उस कक्षा का गणित का अध्यापक ही करेगा। तत्संबंधी जानकारी प्राप्त करने का स्रोत भी उसकी कक्षा के विद्यार्थी ही होंगे। उस कक्षा से बाहर अध्ययन-सामग्री एकत्र करने के लिए उसे जाने की आवश्यकता नहीं होगी। अध्ययन उस कक्षा तक ही सीमित रहेगा। इस प्रकार क्रियात्मक अनुसंधान सीमित एवं स्थानीय होता है जबकि मूलभूत अथवा शुद्ध (pure) अनुसंधान विस्तृत, व्यापक एवं दूरगामी होता है।

तीसरा अन्तर परिणामों की प्रयुक्ति के दृष्टिकोण से होता है। मूलभूत अनुसंधानों के जो निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं, वे केवल ज्ञान की वृद्धि तक ही सीमित होते है। जिन परिस्थितियों में लोग काम करते हैं उनमें उनका प्रयोग कम ही हो पाता है। ज्ञान के लिए ज्ञान, मात्र इसी स्तर पर वे ठहरे रहते हैं। इसके विपरीत क्रियात्मक अनुसंधान के परिणामों का उद्देश्य ही उनका क्रियान्वयन होता है। उन परिणामों के आधार पर तत्संबंधी समस्या का समाधान करना ही उनका ध्येय होता है। गणित विषय में छात्रों की कमजोरी के कारणों का अनुसंधान द्वारा पता लगाकर उन कारणों को दूर करने के प्रयास करना ही उनका परम लक्ष्य होता है। इस प्रकार क्रियात्मक अनुसंधान व्यावहारिक होता है जबकि मूलभूत अनुसंधान सैद्धांतिक होता है। क्रियात्मक शोधकर्ता अत्यन्त व्यावहारिक व्यक्ति होता है। वह स्थानीय स्तर पर वर्तमान समस्या का उपयोगी समाधान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान की कठोरता एवं जटिलता को त्यागना पसंद करता है। वर्तमान समस्या ही उसके ध्यान का प्रमुख केन्द्र होती है क्योंकि वह समझता है कि जो समस्या आज है वह कल भी रहेगी और उसके अनुसंधान के परिणाम उपयोगी होंगे क्योंकि वे वास्तविक इकाइयों पर आधारित हैं।

एक अन्य अन्तर मूलभूत अनुसंधान एवं क्रियात्मक अनुसंधान के बीच यह होता है कि क्रियात्मक अनुसंधान अध्यापक, विद्यालय का प्राचार्य अथवा शिक्षा-जगत का कोई भी कार्यकर्ता जो समस्या से किसी प्रकार जुड़ा है, कर सकता है। उसके लिए मूलभूत अनुसंधान की भाँति विशेषज्ञ की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया बहुत सरल होती है। मूलभूत अनुसंधान की प्रक्रिया एवं उसका आकल्प जटिल होता है। उसके अनुसार कार्य करने के लिए विशेष ज्ञान, विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।

मूलभूत अनुसंधान में प्राय: अनुसंधान की परिस्थितियों पर पर्याप्त नियंत्रण रखा जाता है क्योंकि उसका उद्देश्य सामान्यन एवं नियमों का प्रतिपादन करना होता है, परन्तु क्रियात्मक अनुसंधान में नियंत्रण, परिकल्पनाओं का निर्माण, आधार सामग्री का विश्लेषण आदि बहुत जटिल नहीं होता। जिन परिस्थितियों में समस्या विद्यमान है, उन्हीं में अनुसंधान की सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न होती है।

नोट

क्रियात्मक अनुसंधान व्यवहृत अनुसंधान (applied research) से भी एक दृष्टिकोण से भिन्न होता है। उद्देश्य दोनों का समान होता है, परन्तु शोधकर्ता कौन है इस दृष्टिकोण से दोनों में अन्तर होता है। **लेहमैन** तथा मेहरेन के अनुसार, क्रियात्मक अनुसंधान भी एक प्रकार से व्यवहृत अनुसंधान ही होता है, परन्तु दोनों में इतना अन्तर होता है कि क्रियात्मक अनुसंधान में जो शोधकर्ता होता है वही शोध के परिणामों का उपभोक्ता भी होता है। वही उन परिणामों के आधार पर निर्णय लेता है तथा उन्हें क्रियान्वित भी करता है। इस प्रकार क्रियात्मक अनुसंधान की एक विशेषता यह है कि उसमें शोधकर्ता तथा शोध-परिणामों का उपभोक्ता एक ही व्यक्ति होता है।

एक वैज्ञानिक एवं सुगठित कार्य-प्रणाली की विधि

क्रियात्मक अनुसंधान की दूसरी विशेषता यह है कि वह नियमित कार्य-प्रणाली की ही एक विधा है। किसी संस्था में कार्य करने वाले व्यक्तियों को प्रतिदिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनके समाधान हेतु उन्हें निर्णय भी लेने पड़ते हैं तथा उन्हें क्रियान्वित भी करना पड़ता है। सामान्यत: इन निर्णयों का कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं होता। वे अपनी बुद्धि, सामान्य ज्ञान, अनुभवों के आधार पर ये निर्णय लेते हैं जो अनेक बार क्रियान्वयन के पश्चात् अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। क्रियात्मक अनुसंधान इस प्रकार के निर्णय लेने के वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक एवं ठोस आधार प्रदान करता है। मान लीजिए किसी विद्यालय में कक्षाओं में विद्यार्थी नहीं आते, यह एक आम शिकायत अध्यापकों की है। विद्यालय के प्रधानाचार्य अध्यापकों की बैठक बुलाते हैं और सर्वसम्मति से निर्णय लेते हैं कि जो बच्चे कक्षाओं में नहीं आते उन्हें अर्थदण्ड देना होगा। इस निर्णय का कोई ठोस आधार नहीं है। अत: इसके क्रियान्वयन से स्थिति में कोई सुधार नहीं आयेगा। दूसरी वैज्ञानिक विधि है कि पहले पता लगाया जाए कि छात्रों के कक्षाओं में न आने का कारण क्या है। एक छोटा सा क्रियात्मक अनुसंधान इसके लिए पर्याप्त होगा। मान लीजिए इस अनुसंधान के आधार पर पता चला कि अध्यापक स्वयं ही कक्षाओं में नहीं जाते। अब निर्णय दूसरे प्रकार का होगा कि प्रत्येक अध्यापक को अपनी कक्षा में अवश्य जाना चाहिए तथा लगन के साथ पढ़ाना चाहिए। इस प्रकार, क्रियात्मक अनुसंधान नियमित कार्यप्रणाली को सुचारू तथा अधिक प्रभावशाली बनाने एवं निर्णयों को एक वैज्ञानिक आधार देने की विधा है। इस दृष्टिकोण से उसे संस्थागत कार्यक्रमों का अभिन्न अंग समझना चाहिए–एक अनुसंधान-आधारित स्वरूप, दिन-प्रतिदिन की समस्याओं, व्यवधानों, कठिनाइयों आदि के समाधान प्राप्त करने का, एक अनुसंधान-आधारित ढंग है।

विद्यालयों की स्थिति में सुधार लाने की विशिष्ट विधि

क्रियात्मक अनुसंधान की प्रमुख विशेषता यह है कि विद्यालय की स्थिति में सुधार लाने की यह एक विधि है। **कोरे** की इस संकल्पना का केन्द्र-बिन्दु ही "विद्यालय-सुधार" (to improve schools) था। अत: इसके अन्तर्गत इस बात पर बल दिया जाता है कि विद्यालय संबंधी छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर अनुसंधान किया जाए जिनके परिणाम अधिक वस्तुनिष्ठ एवं विश्वसनीय हों तथा जिनके क्रियान्वयन से विद्यालय के प्रशासन, विद्यालय की शिक्षण-पद्धतियों, छात्रों के व्यवहारों, अध्यापकों के व्यवहारों को वांछनीय रूप से बदलने तथा विद्यालय के लिए शिक्षण-सामग्री जुटाने एवं उसके नियोजन में उपयुक्त सहायता मिल सके।

सम्पूर्ण शिक्षण-प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण कड़ी

कोरे की क्रियात्मक अनुसंधान की संकल्पना सम्पूर्ण शिक्षण-प्रक्रिया की एक अभिन्न कड़ी है। उसे शिक्षा-प्रक्रिया से अलग की क्रिया नहीं समझा जाता है। जैसे अध्यापकों का नियमित उत्तरदायित्व

नोट

पढ़ाना तथा छात्रों के विकास के प्रयास करना है, वैसे ही अपने इस उत्तरदायित्व को और अधिक प्रभावशाली ढंग से करने के लिए क्रियात्मक अनुसंधान करना भी उनका उत्तरदायित्व है। यह उनके उस कार्य में निहित है, जैसे–शिक्षण की किसी अधिक प्रभावशाली विधि का प्रयोग करना एक अच्छे अध्यापक का धर्म होता है वैसे ही क्रियात्मक अनुसंधान द्वारा अपने व्यवहारों, अपनी शिक्षण-विधियों, अपने ज्ञान को सुदृढ़ एवं अधिक प्रभावशाली बनाना भी उसका धर्म है। अध्यापक के कौन से व्यवहार छात्रों पर वांछनीय प्रभाव डालते हैं, किन व्यवहारों से छात्रों में असंतोष पैदा होता है, किस शिक्षण-विधि का प्रयोग करने से छात्र अधिक सीखते हैं, किस आयु के छात्रों में किस प्रकार की आंतरिक प्रेरणाएँ अधिक प्रबल होती हैं आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो छोटे-छोटे वस्तुनिष्ठ अध्ययनों से पता चल सकती हैं और यह जानकारी अध्यापक को अपना उत्तरदायित्व अधिक प्रभावशाली ढंग से निभाने में बहुत सहायक हो सकती हैं। यही बात प्रधानाचार्य के विषय में भी सही है। वह अपने काम को प्रभावशाली ढंग से करने हेतु क्रियात्मक अनुसंधान के माध्यम से वांछनीय जानकारी प्राप्त कर सकते हैं जो उनके निर्णयों, योजनाओं, कार्यवाहियों को वस्तुनिष्ठ एवं ठोस आधार प्रदान करती है।

क्रयात्मक एवं व्यावहारिक (applied) अनुसंधान की तुलना

क्रियात्मक अनुसंधान तथा व्यावहारिक अनुसंधान के बीच प्राय: संभ्रम (confusion) उत्पन्न होता है क्योंकि दोनों का उद्देश्य उन निष्कर्षों की स्थापना होता है जिनका समस्याओं के समाधान एवं कार्य-प्रणालियों को समुन्नत बनाने में प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। व्यावहारिक अनुसंधान वृहद् समष्टि (large population) पर आधारित होता है, उसके परिणाम अधिक व्यापक होते हैं। साथ ही अन्य कई प्रकार की औपचारिकताओं से वह बँधा होता है। क्रियात्मक अनुसंधान समस्यागत कक्षा अथवा विद्यालय की सीमाओं तक ही सीमित रहता है तथा उसके औपचारिकता के बंधन बहुत ढीले होते हैं।

3.5 क्रियात्मक अनुसंधान की प्रक्रिया

क्रियात्मक अनुसंधान की प्रक्रिया तथा अन्य प्रकार के अनुसंधानों की प्रक्रिया में कोई मूलभूत अन्तर नहीं होता। लगभग वही पद-क्रम इसकी प्रक्रिया में रहता है जो अन्य प्रकार के अनुसंधानों की प्रक्रिया में रहता है। अन्तर इतना होता है कि प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर जो कार्य किया जाता है वह सीमित, लचीला तथा कठोरता एवं औपचारिकताओं से मुक्त होता है। इन सभी प्रक्रिया-पदों का विस्तार से वर्णन पहले ही किया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में क्रियात्मक अनुसंधान के परिप्रेक्ष्य में ही इनका उल्लेख किया जायेगा। इस अनुसंधान की प्रक्रिया को भी वैज्ञानिक रूप देने हेतु निम्न पदक्रम का पालन किया जाता है।

1. **समस्या का चयन, कथन एवं परिभाषा**–अनुसंधान के लिए यह सबसे पहली आवश्यकता है, परन्तु क्रियात्मक अनुसंधान में समस्याओं को ढूँढ़ना नहीं पड़ता। वे तो अध्यापकों के, प्रशासकों के दैनिक अनुभवों में विद्यमान रहती ही हैं। जो कठिनाइयाँ, बाधाएँ, परेशानियाँ, असंगत नीतियाँ एवं प्रथाएँ उनके सामने आती हैं, वही क्रियात्मक अनुसंधान की समस्याएँ होती हैं। कभी-कभी ऐसा भी संभव होता है कि कोई काम करने की अधिक सशक्त प्रणाली किसी अध्यापक अथवा प्रशासक के मस्तिष्क में आती है तो उसका परीक्षण भी क्रियात्मक अनुसंधान की समस्या हो सकती है। समस्या को खोजने के लिए संबंधित

साहित्य का अध्ययन करना तथा यह विचार करना कि वह समस्या मौलिक अथवा नवीन है या नहीं आदि आवश्यक नहीं होता। हाँ! उस समस्या का सही ढंग से कथन करना तथा उसे उसी प्रकार परिभाषित करना आवश्यक होता है जैसे अन्य प्रकार के अनुसंधानों में किया गया है।

नोट

2. **उद्देश्यों का निर्धारण एवं कथन–**यह क्रियात्मक अनुसंधान के पद-क्रम की दूसरी कड़ी है। उद्देश्यों का निर्धारण भी वैसे ही किया जाता है जैसे अन्य अनुसंधानों में किया जाता है। इसका महत्त्व एवं आवश्यकता भी वही होती है जो अन्य अनुसंधानों में होती है। क्रियात्मक अनुसंधानों में ये उद्देश्य केवल गिने-चुने एवं सरल ही होते हैं।

3. **परिकल्पनाओं का निर्माण एवं कथन–** उद्देश्यों को ही परिकल्पनाओं के रूप में बदल दिया जाता है। अत: क्रियात्मक अनुसंधानों की परिकल्पनाएँ भी बहुत जटिल नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, किसी कक्षा के छात्रों में से कुछ में अधिक अनुशासनहीनता का होना, कुछ का किसी विषय में अधिक पिछड़ा होना, कुछ का कक्षा में अनियमित रूप से उपस्थित रहना आदि समस्याओं के कारण खोजने हेतु प्रत्येक से संबंधित कुछ परिकल्पनाओं का निर्माण कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। तभी उपयोगी

   एवं संबंधित जानकारी प्राप्त करके उनका परीक्षण भी संभव हो सकेगा। यही वैज्ञानिक विधि की प्रक्रिया होती है।

4. **परिकल्पनाओं का परीक्षण अथवा अध्ययन-विधि–**इस पद-क्रम के अन्तर्गत कई बातें आती हैं, यथा–समष्टि की परिभाषा, न्यादर्श का चयन, चरों की परिभाषा, उनका मापन, सूचनाओं का संग्रह एवं उनका विश्लेषण। परन्तु क्रियात्मक अनुसंधान में प्राय: समष्टि की परिभाषा एवं न्यादर्श के चयन का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उनका उद्देश्य वृहद् समष्टि की विशेषताओं के विषय में सामान्यीकरण (generalization) करना नहीं होता। इसीलिए उनकी अनुसंधान-विधि किसी जटिल अनुसंधान आकल्प (complex research design), जिसमें अध्ययनेतर चरों का नियंत्रण आदि किया जाता है, पर आधारित नहीं होती। न ही सूचना-सामग्री के विश्लेषण हेतु अति-विशिष्ट सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग किया जाता है। तब भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य जो इस स्तर पर करने होते हैं, वे इस प्रकार हैं–

   (i) ***परिकल्पनागत चरों से संबंधित जानकारी प्राप्त करना–*** इन सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए शोधकर्ता साक्षात्कार, स्वनिर्मित परीक्षाओं, प्रश्नावलियों, अनुसूचियों, प्रेक्षणों (observations) आदि का सहारा ले सकता है। प्रमापीकृत (standardized) परीक्षाओं का प्रयोग भी कर सकता है।

   (ii) ***प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण–*** प्राप्त सूचनाएँ गुणात्मक (qualitative) तथा संख्यात्मक (quantitative) दोनों प्रकार की अथवा दोनों में से किसी एक प्रकार की हो सकती हैं। ये साधारणतया बहुत विस्तृत नहीं होतीं। इनका विश्लेषण उन नियमों के अनुसार किया जा सकता है जिनका उल्लेख अध्याय-7 में किया गया है। साधारण प्रकार की सांख्यिकीय विधियों तथा आवृत्ति वितरण तैयार करना, रेखाचित्रों द्वारा सामग्री की प्रस्तुति, मध्यमान, मध्यांक-मान ज्ञात करना, प्रमाप-विचलन (S.D.) की गणना, अनुबंध गुणांक निकालना आदि में से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है। यदि शोधकर्ता चाहे तो टी-टेस्ट का भी प्रयोग कर सकता है।

(iii) **निष्कर्ष-स्थापना–** उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर शोधकर्ता निष्कर्षों की स्थापना करता है जो केवल समस्या, उसकी कक्षा अथवा उसके विद्यालय पर ही लागू समझे जाते हैं।

नोट

5. **निष्कर्षों का क्रियान्वयन**–यह क्रियात्मक अनुसंधान प्रक्रिया की अन्तिम कड़ी होती है जो अन्य प्रकार के अनुसंधानों की प्रक्रिया में साधारणतया नहीं पाई जाती। मूलभूत अनुसंधानों एवं व्यावहारिक अनुसंधानों में शोधकर्ता के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह अपने द्वारा स्थापित निष्कर्षों का क्रियान्वयन भी करे, परन्तु क्रियात्मक अनुसंधान में यह आवश्यक होता है कि जो परिणाम आये हैं उनको समस्या के समाधान हेतु क्रियान्वित भी करे। अत: उन निष्कर्षों के आधार पर निर्णय लेकर उनके अनुसार वह अपना कार्य करता है। यदि सफल होता है तो ठीक है, अन्यथा पुन: दूसरी परिकल्पना का निर्माण करके दूसरा अनुसंधान करता है। इस प्रकार यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है जब तक समस्या का सही समाधान उपलब्ध नहीं हो जाता।

कुछ लेखकों ने एन.सी.ई.आर.टी. की प्रायोगिक योजनाओं (experimental projects) को क्रियात्मक अनुसंधान मान लिया है। यह सही नहीं है। ऐसा करने से क्रियात्मक संकल्पना के संबंध में संभ्रम (confusion) पैदा होता है।

3.6 क्रियात्मक अनुसंधान की उपयोगिता

इसमें संदेह नहीं कि जिस उद्देश्य को लेकर क्रियात्मक अनुसंधान की संकल्पना रची गई थी उस परिप्रेक्ष्य में उसकी बहुत उपयोगिता है। कुछ तथ्य जो क्रियात्मक अनुसंधान के पक्ष में जाते हैं, इस प्रकार हैं–

1. **अनुसंधान को व्यावहारिक उपयोगिता से जोड़ता है**–क्रियात्मक अनुसंधान एक ऐसा अनुसंधान है जो अनुसंधान को यथार्थता, उपयोगिता से जोड़ता है, उस खाई को पाटता है तो मूलभूत अनुसंधान एवं संस्थाओं में कार्यरत व्यक्तियों के बीच बनी हुई थी। मूलभूत एवं व्यवहृत (applied) अनुसंधानकर्ताओं का यह आरोप था कि वास्तविक परिस्थितियों में कार्यरत व्यक्ति, यथा–विद्यालयों के अध्यापक एवं प्रशासक उनके कठोर परिश्रम द्व ारा किए गये अनुसंधान के परिणामों का अपने कार्य-क्षेत्रों में प्रयोग नहीं करते। दूसरी ओर इन अध्यापकों एवं प्रशासकों का यह आरोप होता था कि ये अनुसंधानकर्ता हमारी समस्याओं की ओर ध्यान नहीं देते तथा उनके अनुसंधानों की प्रक्रिया एवं परिणाम इतने जटिल होते हैं कि हमारी समझ में नहीं आते। इनके अनुसंधान अधिकतर सिद्धांतों एवं व्यापक सामान्यनों के रूप में होते हैं, व्यावहारिक नहीं होते। इस प्रकार, अनुसंधान एवं वास्तविक परिस्थितियों में उनका उपयोग दोनों अलग-अलग एक ही क्षितिज के दो छोरों पर स्थित थे। अत: शिक्षा की प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने में अनुसंधान का कोई योगदान नहीं हो पा रहा था जबकि उसका प्रमुख उद्देश्य यही था। स्वयं कोरे ने बहुत बार कहा कि ये अनुसंधानकर्ता "वैज्ञानिक होने का गर्व करते हैं तथा वास्तविक व्यावहारिक परिस्थितियों से जुड़ने को महत्त्वपूर्ण नहीं समझते"। क्रियात्मक अनुसंधान, अनुसंधान को इस आरोप से मुक्त कराता है तथा उसे व्यावहारिकता, उपयोगिता से जोड़ता है क्योंकि यह अनुसंधान उन्हीं व्यक्तियों द्वारा किए जाते हैं जो विद्यालयों में कार्य करते हैं तथा उन्हीं समस्याओं के समाधान खोजने हेतु किए जाते हैं जिनसे वे जूझ रहे होते हैं। स्वाभाविक है कि जो

नोट

परिणाम उन्हें इस अनुसंधान द्वारा उपलब्ध होंगे उनका वे अपनी कार्य-प्रणाली में उपयोग भी करेंगे। इस प्रकार, क्रियात्मक अनुसंधान अध्यापकों एवं विद्यालय-प्रशासकों के दैनिक कार्य-कलाप का ही एक अंग बन गया है जो शैक्षिक-निर्णयों एवं शिक्षण पद्धतियों को वैज्ञानिक, अनुभवगत एवं तार्किक आधार प्रदान करता है तथा सम्पूर्ण शैक्षिक क्रिया को प्रभावशाली बनाने में सहयोग देता है। इस दृष्टिकोण से क्रियात्मक अनुसंधान को शिक्षा के क्षेत्र में बहुत लाभकारी एवं महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

2. **अध्यापकों की सोच एवं मानसिक दृष्टिकोणों में परिवर्तन**–जब अध्यापक एवं प्रशासक अपने कार्य-क्षेत्रों में वांछनीय परिवर्तन लाने हेतु अनुसंधान करते हैं तो उस बीच जो अनुभव उन्हें होते हैं उससे उनके भीतर कुछ मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होते हैं, उनके सोचने के ढंग, उनकी अभिरुचियाँ, अभिवृत्तियाँ बदलती हैं। इस आन्तरिक परिवर्तन के फलस्वरूप उनके व्यवहार भी बलदते हैं। अन्ततः वे शिक्षा की प्रक्रिया के साथ आन्तरिक रूप से जुड़ जाते हैं। यह क्रियात्मक अनुसन्धान का अति-महत्त्वपूर्ण लाभ समझा जाता है। मूलभूत एवं अन्य प्रकार के अनुसन्धानों के प्रतिवेदनों, सारांशों एवं संस्तुतियों का अध्ययन मात्र करने पर ऐसा नहीं हो पाता। जब स्वयं ही वे अपना अनुसन्धान करते हैं अपनी समस्या को महत्त्वपूर्ण समझते हैं। अतः इस अनुसन्धान द्वारा प्राप्त परिणामों को अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते हुए उसके परिणामों को व्यावहारिक परिस्थितियों में, अपनी कार्य-प्रणाली में प्रयोग करने तथा उनकी सत्यता, प्रभाविकता की जाँच करने में उनकी स्वाभाविक रुचि होती है। इन परिणामों को मन से क्रियान्वित करने का वे प्रयास करते हैं। अपने दैनिक कार्यक्रमों में इस प्रकार निरन्तर गुणात्मक परिवर्तन लाने में उनकी रुचि विकसित हो जाती है। साथ ही उनके ज्ञान में भी वृद्धि होती है क्योंकि अनुसन्धान करते हुए उन्हें अनुसन्धान के विषय में, अनुसन्धान की समस्या के विषय में बहुत कुछ पढ़ना भी पड़ता है। इन सबका परिण ाम यह होता है कि अध्यापक अथवा प्रशासक जो भी क्रियात्मक अनुसन्धान से जुड़ता है, पूर्णतया बदल जाता है, एक उच्च कोटि का प्रभावशाली अध्यापक बन जाता है।

यह आवश्यक नहीं है कि किसी समस्या पर कोई एक अध्यापक, एक प्रशासक ही कार्य करे। कई एक अध्यापक

एवं प्रधानाचार्य मिलकर एक टीम के रूप में भी कार्य कर सकते हैं। इस स्थिति में उस टीम के सभी सदस्यों में वे परिवर्तन हो सकेंगे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण संस्था में जागृति लाई जा सकती है, सम्पूर्ण संस्था को आन्दोलित करके उसे उन्नत बनाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से क्रियान्वित अनुसन्धान को अत्यन्त उपयोगी माना जाता है।

3. **शैक्षिक प्रक्रिया में गुणात्मक परिवर्तन की सम्भावना**–क्रियात्मक अनुसन्धान के माध्यम से शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन लाने की संभावना भी प्रबल होती है। शिक्षा की गुणात्मक उन्नति से तात्पर्य होता है छात्रों में वांछनीय ज्ञान के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व का भी विकास करना। इसके लिए आवश्यक है कि उन सारी समस्याओं को समझना एवं दूर करना जो इस मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती हैं। इन समस्याओं को वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ ढंग से समझने में क्रियात्मक अनुसन्धान की भूमिका निश्चित एवं महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं। छात्रों का पढ़ने में मन न लगना, कक्षा में नियमित रूप से उपस्थित न रहना, किसी विषय में विशेष कारण से पिछड़ा होना, अनुशासनहीन होना, अन्य छात्रों के साथ सहयोग

नोट

न करना, विद्यार्थियों में असामाजिक व्यवहारों का होना, उनका गृह, समाज, स्वास्थ्य, शिक्षा, सम्बन्धी समस्याओं से आक्रांत रहना आदि ऐसे अवरोध हैं जो उनकी शिक्षा की प्रगति को अवरुद्ध करते हैं। ये सब वे परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें समझकर उन्हें दूर करने के प्रयास करना शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक है, परन्तु कुछ सकारात्मक प्रयास उन दिशाओं में करना भी आवश्यक होता है जिनकी ओर छात्रों को मोड़ना उनके हित में होता है, यथा–उन्हें ज्ञानोपलब्धि हेतु प्रेरित करना, पढ़ने-लिखने तथा ज्ञान-प्राप्ति में उनकी रुचि एवं लगाव व विकास करना, अच्छे व्यवहारों एवं संस्कारों को ग्रहण करना आदि। उस प्रकार की विधियों को खोजना जिनके द्वारा यह सब सम्भव होता है, इस बात पर निर्भर करता है कि छात्रों की इन समस्याओं को अध्यापक एवं प्रशासक कहाँ तक अच्छी तरह समझते हैं। इन्हें समझने एवं उन प्रभावशाली विधियों को विकसित करने में क्रियात्मक अनुसन्धान अध्यापकों एवं प्रशासकों को महती सहायता प्रदान कर सकता है।

4. **मूलभूत अनुसन्धान के सिद्धान्तों के परीक्षण का माध्यम**– एक और लाभ क्रियात्मक अनुसन्धान का यह है कि उसके द्वारा मूलभूत अनुसन्धानों के परिणामों एवं सिद्धांतों का परीक्षण भी किया जा सकता है। किसी वास्तविक परिस्थिति में कहाँ तक ये सिद्धांत समस्या का समाधान प्रस्तुत करने में सफल होते हैं, इसका परीक्षण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, **बी.एफ. स्किनर** की 'ऑपेरेन्ट कन्डीशनिंग थ्यौरी आफ लर्निंग' (Operant conditioning theory of learning) का एक सामान्यन (generalization) है कि 'व्यक्ति वही व्यवहार सीखता है जिसे पुरस्कृत किया जाता है।' क्रियात्मक अनुसन्धान द्वारा इसकी सत्यता की कोई भी अध्यापक जाँच कर सकता है। यदि उसके परीक्षण में तथा उसकी परिस्थितियों में यह खरा उतरता है तो निश्चित ही अध्यापक अपने छात्रों के अवांछनीय व्यवहारों को बदलने तथा वांछनीय व्यवहारों को उनमें विकसित करने में उसका प्रयोग करना चाहेगा। इस दृष्टिकोण से भी क्रियात्मक अनुसन्धान लाभकारी एवं महत्त्वपूर्ण है।

3.7 क्रियात्मक अनुसन्धान की सीमाएँ

उपरोक्त पंक्तियों में यह कहा गया है कि क्रियात्मक अनुसन्धान बहुत उपयोगी है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह स्वत: ही प्रत्येक परिस्थिति में उपयोगी बन जायेगा। इसमें सन्देह नहीं कि यदि सब परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो वह अवश्य एक अत्यंत उपयोगी क्रिया होगी। अत: क्रियात्मक अनुसन्धान की उपयोगिता कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करती है। ये अनुकूल परिस्थितियाँ साधारणतया विद्यालयों में उपलब्ध नहीं होतीं। बस यही क्रियात्मक अनुसन्धान की सीमाएँ, कठिनाइयाँ, उसकी उपयोगिता के मार्ग के अवरोध हैं। इनका क्रमश: उल्लेख नीचे किया गया है।

1. **अनुसन्धानकर्ताओं में तकनीकी ज्ञान एवं कौशल का अभाव**–जब क्रियात्मक अनुसन्धान की उपयोगिता को हम स्वीकार करते हैं तो यह भी मानकर चलते हैं कि अनुसन्धानकर्ता अर्थात् अध्यापक में अनुसन्धान से सम्बन्धित वांछनीय ज्ञान एवं कुशलताएँ हैं परन्तु प्राय: ऐसा होता नहीं। विद्यालय के अध्यापकों को अधिकांशत: अनुसन्धान के सम्बन्ध में न तो जानकारी होती है और न उनमें वे कौशल होते हैं जिनकी अनुसन्धान करने में आवश्यकता पड़ती है। अधिकतर अध्यापक बी.एड. होते हैं। बी.एड. स्तर पर उन्हें अनुसन्धान के सम्बन्ध में कुछ नहीं पढ़ाया जाता। अत: इस दिशा में पग रखने की न तो वे इच्छा करते हैं और न साहस।

2. **अध्यापकों पर कार्य-भार की अधिकता**– दूसरी कठिनाई इस सम्बन्ध में यह आती है कि अध्यापकों पर शिक्षण एवं शिक्षण-सम्बन्धी कार्य का पहले से ही बहुत अधिक भार रहता है। अनुसन्धान हेतु समय निकालना उनके लिए प्रायः असम्भव ही होता है। कुछेक देशों को छोड़कर विश्व के सभी देशों में यही स्थिति पाई जाती है। चाहते हुए भी समाज अध्यापकों के कार्य-भार में कमी करने में सफल नहीं हो पा रहे। यही स्थिति प्रधानाचार्यों की भी है। अतः विद्यालय के अध्यापकों एवं प्रशासकों से यह आशा करना कि वे अनुसन्धान भी करें, वर्तमान परिस्थितियों में अधिक सार्थक प्रतीत नहीं होता।
3. **वांछनीय स्तर की गुणवत्ता का अभाव**– क्रियात्मक अनुसन्धान की एक कठिनाई यह है कि उसके परिणामों की विश्वसनीयता एवं वैधता बहुत निम्न स्तर की होती है। इसके कई कारण होते हैं। अनुसन्धान प्रक्रिया का ज्ञान न होने के कारण ये अनुसन्धानकर्ता न तो समस्या का सही ढंग से परिभाषीकरण कर पाते हैं, न परिकल्पनाओं का निर्माण उचित रूप से कर पाते हैं, न शोध-सामग्री का विश्लेषण एवं व्याख्या सही-सही कर पाते हैं। फलस्वरूप जो शोध-परिणाम उन्हें उपलब्ध होते हैं, उनके वैध एवं विश्वसनीय होने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है। उदाहरण के लिए, "यदि कक्षा के कुछ छात्र किसी विषय में पिछड़े हुए हैं", यह समस्या है तो उनके पिछड़े होने के अनेक कारण हो सकते हैं और उन सब का ज्ञान शोधकर्ता को होना चाहिए, तभी वह उपयुक्त परिकल्पना का निर्माण कर सकता है तथा अनुसन्धान द्वारा उसका परीक्षण कर सकता है। परिकल्पना के परीक्षण के लिए भी अध्ययनेतर चरों को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है अन्यथा परिणाम सही नहीं निकल सकता, परन्तु यह सब कैसे किया जाता है, इसका ज्ञान शोधकर्ता को होता नहीं। अतः जो निष्कर्ष उनके अनुसन्धान के निकलते हैं वे विश्वसनीय एवं वैध नहीं होते। स्पष्ट है कि उनके आधार पर लिए गये निर्णय एवं उनका व्यवहार में क्रियान्वयन समस्या का उपयुक्त समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकते।
4. **परिणामों एवं निष्कर्षों का अत्यन्त सीमित होना**– क्रियात्मक अनुसंधान का आधार केवल अध्यापक की अपनी कक्षा अथवा अपना विद्यालय ही होता है। अतः परिणाम भी केवल उसी कक्षा अथवा विद्यालय पर लागू होते हैं। किसी दूसरे विद्यालय अथवा दूसरी कक्षा के छात्रों की समस्या की, उनके व्यवहारों की व्याख्या उन परिणामों के आधार पर नहीं की जा सकती। अतः यदि वह अध्यापक दूसरे विद्यालय में स्थानान्तरित हो जाता है तो उसका वह अनुसन्धान उसके लिए निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार क्रियात्मक अनुसन्धान की उपयोगिता अत्यन्त सीमित होती है।
5. **विद्यालयों के वातावरण का अनुकूल न होना**– क्रियात्मक अनुसंधान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय में अनुसंधानकर्ताओं को प्रश्रय मिले, आवश्यक सुविधाएँ मिले, उनके कार्य किसी न किसी रूप में पुरस्कृत हों परन्तु हमारे देश में विद्यालयों का वातावरण ऐसा नहीं है बल्कि इसके ठीक प्रतिकूल वातावरण है। उसमें वह सब व्याप्त है जो अध्यापकों को काम न करने की दिशा में धकेलता है। अपने देश में विशेष रूप से क्रियात्मक अनुसंधान के मार्ग में यह एक बहुत विकट अवरोध है।

क्रियात्मक अनुसंधान की उपरोक्त कठिनाइयों के आधार पर यह धारणा बनाना कि वह निरर्थक है, सही नहीं होगा बल्कि इन्हें एक चुनौती के रूप में लेकर दूर करने का प्रयास करना सकारात्मक एवं रचनात्मक दृष्टिकोण होगा। सभी कठिनाइयाँ ऐसी हैं जिनका निराकरण संभव है।

नोट

अध्यापकों के कार्य-भार में कमी करना असंभव नहीं है। यह दूसरी बात है कि यह राज्य के स्तर पर ही संभव है। राज्य द्वारा अध्यापकों की संख्या में वृद्धि करके ही यह संभव हो सकता है। इसी प्रकार अध्यापकों में अनुसंधान-संबंधी ज्ञान एवं कौशलों का विकास भी कई प्रकार से किया जा सकता है। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा उनके लिए अल्पकालिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है। मार्गदर्शक के रूप में प्रत्येक विद्यालय में अथवा प्रत्येक नगर में सभी विद्यालयों के अध्यापकों के लिए एक शोध-विशेषज्ञ की नियुक्ति की जा सकती है जो ऐसे अध्यापकों को प्रत्येक प्रकार की सलाह एवं सहायता देगा। यह भी राज्य का ही उत्तरदायित्व होगा। अध्यापकों को इस दिशा में प्रेरित एवं पुरस्कृत करने का उत्तरदायित्व तो विद्यालय के प्रधानाचार्य का ही होगा। कई प्रकार से यह कार्य भी किया जा सकता है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से क्रियात्मक अनुसंधान के मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों, सैद्धांतिक दृष्टिकोण से तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि क्रियात्मक अनुसंधान शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने की एक प्रभावशाली विधि है। शिक्षण के साथ उसका जुड़ना प्रत्येक दृष्टिकोण से लाभकारी है। "अनुसंधानाधारित शिक्षा" शिक्षा-जगत का भावी नारा होना चाहिए तथा राज्य को इसे सफल बनाने के लिए उपयुक्त प्रयास करना चाहिए।

3.8 अनुसंधान विधियों का वर्गीकरण

इन विधियों का एक निश्चित एवं सर्वमान्य, वर्गीकरण नहीं हो सका है और न यह सम्भव है। जैसा कि **बार** का कहना है शिक्षा-अनुसंधान की विधियों का कई दृष्टिकोणों से वर्गीकरण किया जा सकता है, यथा–उद्देश्यों के आधार पर, शोध-सामग्री-संग्रह के तकनीकों के दृष्टिकोण से, सामग्री के विश्लेषण के आधार पर, चरों के नियंत्रण की मात्रा के दृष्टिकोण से, सामग्री के स्रोत एवं अन्य बहुत से आधारों पर। भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपने-अपने ढंग से इनका वर्गीकरण किया है। किन्हीं-किन्हीं ने प्रयोगशालागत एवं क्षेत्राधारित, मूलभूत एवं व्यावहारिक, विशुद्ध (pure) एवं क्रियात्मक अनुसंधान वर्गीकरणों का प्रयोग किया है।

उदाहरण शिक्षा के किस क्षेत्र में अनुसंधान किया गया है इस दृष्टिकोण से दार्शनिक अनुसंधान, समाजशास्त्रीय ठअध्ययन, पाठ्यक्रम-अनुसंधान आदि वर्गीकरण के रूप हो सकते हैं। एक आधारभूत वर्गीकरण **बेर्स्ट** (1959) का है जिसमें शिक्षा-अनुसंधान को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है। ये वर्ग हैं– (i) ऐतिहासिक, (ii) सर्वेक्षण एवं (iii) प्रयोगात्मक। **मौलि** ने भी इस वर्गीकरण को अपनाया है। **वान डालेन** ने भी लगभग इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया है। उन्होंने सर्वेक्षण के स्थान पर "वर्णनात्मक" शीर्षक का प्रयोग किया है। **हिलवे** (1956) ने एक चौथा वर्ग भी इसमें जोड़ दिया है जो "केस स्टडी" है। इसी प्रकार **गुड** तथा **स्केट** (1954) ने कार्य-कारण संबंधी एक-दूसरे वर्ग को जोड़ा है जिसके अन्तर्गत कारणवाची तुलनात्मक अध्ययनों, सहसंबंधात्मक अध्ययनों, केस स्टडी एवं जननीय अध्ययनों को सम्मिलित किया है। **ट्रैवर्स** (1958) ने एक दूसरे ही ढंग से इन विधियों का वर्गीकरण किया है। उन्होंने ऐतिहासिक अनुसंधानों को किसी वर्ग में सम्मिलित नहीं किया है। **कौरनेल** एवं **मनरो** (1953) ने पाँच वर्गों में इन अनुसंधान विधियों को बाँटा है। ये हैं– (i) वर्णनात्मक, (ii) मीटरिक, (iii) क्लीनिकल, (iv) सहसंबंधात्मक तथा (v) प्रयोगात्मक। साथ ही एक छठे वर्ग की संभावना व्यक्त की है। स्पष्ट है कि शिक्षाशास्त्री अनुसंधान की विधियों के वर्गीकरण के संबंध में एकमत नहीं हैं। यह न आवश्यक है और न सम्भव क्योंकि वर्गीकरण

का कोई एक आधार नहीं हो सकता। अत: सुविधा के दृष्टिकोण से ही इस अध्याय में इन विधियों का वर्गीकरण किया गया है। अधिकांश लेखकों ने जिस वर्गीकरण को अपनाया है उसी को इसमें भी अपनाया गया है। यह वर्गीकरण है–

नोट

1. मूलभूत एवं व्यावहारिक अध्ययन
2. वर्णनात्मक अनुसंधान
   (क) सर्वेक्षण
   (ख) अन्तर्संबंधात्मक अध्ययन
   (ग) विकासात्मक अध्ययन
3. ऐतिहासिक अध्ययन
4. प्रयोगात्मक अनुसंधान

3.9 मूलभूत एवं व्यावहारिक अनुसंधान

अनुसंधान विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एवं विभिन्न स्तरों पर किया जाता है। अनुसंधान का स्तर (level) इस पर निर्भर करता है कि शोधकर्ता का उद्देश्य क्या है। सामान्यत: अनुसंधान के दो स्तर होते हैं–

1. मूलभूत, शुद्ध अथवा सैद्धांतिक (Basic, fundamental, pure or theory-oriented) तथा
2. व्यावहारिक अथवा उपयोगी (Applied)

ट्रैवर्स ने इन दोनों प्रकार के अनुसंधानों के बीच इस प्रकार अन्तर किया है– "मूलभूत अनुसंधान का उद्देश्य वैज्ञानिक ज्ञान के संगठित कलेवर में वृद्धि करना होता है। आवश्यक रूप से ऐसे परिणाम उपलब्ध कराना उसका कार्य नहीं होता जो तुरन्त व्यावहारिक महत्त्व के हों। व्यावहारिक अनुसंधान तात्कालिक व्यावहारिक समस्याओं के समाधान खोजने हेतु किए जाते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान का विस्तार करना उनका गौण उद्देश्य होता है।"

मूलभूत अनुसंधान

मूलभूत अनुसंधान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. इन अनुसंधानों में नियमों (laws) एवं सिद्धांतों (theories) की खोज पर बल दिया जाता है। इनमें वैज्ञानिकों की मान्यता रहती है कि समस्त सृष्टि तथा उसकी समस्त घटनाएँ एक निश्चित व्यवस्था में बँधी नियम-नियंत्रित हैं। अत: उन नियमों, व्यवस्था के सिद्धांतों की खोज आवश्यक एवं मानव-हित में है।
2. इन अनुसंधानों का उद्देश्य ज्ञान का विकास होता है। "ज्ञान के लिए ज्ञान" उनका नारा होता है। अनुसंधान द्वारा उपलब्ध ज्ञान किस काम में जाएगा, उसकी क्या उपयोगिता होगी, इस प्रकार का चिंतन ये अनुसंधानकर्ता नहीं करते।
3. सत्य (truth) की खोज ही इन अनुसंधानों का ध्येय होता है। 'ऐसा क्यों होता है, किस प्रकार होता है' आदि प्रश्नों के उत्तरों की खोज करके समान घटनाओं के कारणों की सूत्र रूप में व्याख्या करना उनका प्रमुख लक्ष्य होता है।

नोट

1. इन अनुसंधानों का उद्देश्य प्रमुख रूप से उन समस्याओं के समाधान खोजना होता है जिनका विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वालों को प्रतिदिन सामना करना पड़ता है। ये समस्याएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं एवं उनके समाधानों की तत्काल आवश्यकता होती है। लम्बे समय तक उनके समाधानों के लिए प्रतीक्षा करते रहना सम्भव नहीं होता।
2. व्यावहारिक अनुसंधान का उद्देश्य प्रमुख रूप से सिद्धान्त-निरूपण (theory building) नहीं होता।
3. इनके परिणाम अधिकांशत: ऐसे होते हैं कि उनका नीतियों के निर्धारण में, निर्णय लेने में, किसी कार्यविधि अथवा शिक्षण-विधि के निर्माण में प्रयोग किया जाता है। साथ ही वर्तमान रीतियों, विधियों एवं तकनीकों को व्यावहारिक इसलिए कहा जाता है कि इनके परिणामों की व्यावहारिक दृष्टिकोण से उपयोगिता होती है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के अध्ययनों में कौन श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण है, इस बात को लेकर वैज्ञानिक दो वर्गों में बँट गए हैं। कुछ ऐसे हैं जैसे **हक्सले** तथा **बेकन** जो व्यावहारिक अनुसंधान को अनुसंधान ही नहीं मानते तथा कहते हैं कि मूलभूत अध्ययन ही अनुसंधान की कसौटी पर खरे उतर सकते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लेखक एवं शोधकर्ता हैं जिनका मानना है कि अनुसंधान वर्तमान समस्याओं के समाधान खोजने की तथा मानव एवं समाज के विकास की प्रक्रिया है (थौमसन)। अत: उसके परिणामों का इस दृष्टिकोण से उपयोगी होना अर्थात् उसका व्यावहारिक होना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तव में ये अतिवादी दृष्टिकोण हैं। अत: इस विवाद को बहुत महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये। दोनों प्रकार के अध्ययनों का अपना-अपना महत्त्व है तथा अधिकांशत: वे एक-दूसरे के पूरक हैं।

इतिहास साक्षी है कि मूलभूत अनुसन्धान के माध्यम से उपलब्ध सिद्धांतों एवं ज्ञान का मानव समाज की प्रगति में बहुत अधिक योगदान है। समस्त आधुनिक विकास इन्हीं सिद्धांतों एवं ज्ञान के आधार पर हुआ है, परन्तु उसमें व्यावहारिक अनुसन्धानों का भी उतना ही सहयोग रहा है। इन सिद्धांतों एवं ज्ञान के आधार पर जिन विधियों तथा तकनीकों का विकास किया गया उन्हें व्यावहारिक अनुसन्धान के माध्यम से परखा गया तथा उपयोगी सिद्ध होने पर ही उन्हें अपनाया गया। स्किनर के मूलभूत अनुसन्धानों के द्वारा व्यवहार के सिद्धांतों का निरूपण किया गया, परन्तु कितने ही अन्य लोगों ने उन सिद्धांतों का प्रयोग करके व्यवहार परिवर्तन की तकनीकी विधियों का निर्माण किया तथा उन्हें व्यावहारिक अनुसन्धानों के आधार पर परखा, सुधारा, विकसित किया। इसी प्रकार समाजशास्त्री किशोरों के समस्यात्मक व्यवहारों, वृद्धों की समस्याएँ, गुटों की समस्याओं आदि का अध्ययन करते हैं, परन्तु यदि मूलभूत अनुसन्धान की दिशा में जाते हैं तो वे इस बात की खोज करते हैं कि उनकी ये समस्याएँ क्यों और कैसे पैदा होती हैं, किन सिद्धांतों के आधार पर उनकी उत्पत्ति होती है। यदि व्यावहारिक अनुसन्धान की दिशा में जाते हैं तो यह जानने का प्रयास करते हैं कि इन समस्याओं के समाधान क्या हो सकते हैं जिससे कि इन समस्याओं को दूर किया जा सके। परन्तु मूलभूत अनुसन्धानों द्वारा उपलब्ध कराये गये ज्ञान एवं सिद्धांतों का सहारा लिये बिना वे ऐसा नहीं कर सकते। इस प्रकार ज्ञान के लिये अनुसन्धान (मूलभूत) तथा जीवन के लिये अनुसन्धान (व्यावहारिक) दोनों ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी ओर मूलभूत अनुसन्धान के क्षेत्र में कार्य करने वाले शोधकर्ता भी व्यावहारिक अनुसन्धान से लाभान्वित होते हैं। व्यावहारिक अनुसन्धान के परिणाम कई बार वैकल्पिक उपकल्पनाओं को जन्म देते हैं। मूलभूत अनुसन्धान उनको लेकर नियंत्रित

परिस्थितियों में प्रयोग करके सिद्धांतों का निरूपण कर सकता है। व्यावहारिक अनुसन्धान आधारभूत सिद्धांतों के निरूपण में भी सहायक हो सकते हैं।

3.10 वर्णनात्मक अनुसंधान का स्वरूप एवं अर्थ

नोट

स्वरूप एवं अर्थ

वर्णनात्मक अनुसंधान प्रमुख रूप से घटना, परिस्थिति, संस्था अथवा किसी विशेषता का केवल वर्णन मात्र करता है। शोध पूरा होने के पश्चात् वह इनके विषय में केवल इस बात की व्याख्या करता है कि "वह क्या है?" विगत काल में कुछ ऐसी परम्परा रही है कि वर्तमान परिस्थितियों के विश्वसनीय एवं वैध मूल्यांकन को वर्णनात्मक अनुसन्धान के अन्तर्गत रखा जाता रहा है। इसी प्रकार गत्यात्मक (dynamic) प्रक्रियाओं के स्वरूप को निर्धारित करना तथा व्यक्तियों, संस्थाओं एवं तंत्रों की व्याख्या करना भी इसी प्रकार के अनुसंधान के अन्तर्गत समझा जाता रहा है, परन्तु वर्तमान में विभिन्न घटनाओं, चरों एवं स्थितियों के पारस्परिक सम्बन्धों को ज्ञात करना तथा उनकी व्याख्या करना भी वर्णनात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत माना जाता है।

अन्य प्रकार के अनुसंधानों की भाँति वर्णनात्मक अनुसंधान की प्रक्रिया का पदक्रम भी निम्नलिखित प्रकार का होता है–

1. समस्या का चयन एवं उसकी परिभाषा करना,
2. उद्देश्यों एवं 'उपकल्पनाओं' का निर्धारण करना,
3. सम्बन्धित एवं आवश्यक सूचना सामग्री (data) एकत्र करना,
4. सामग्री का विश्लेषण करना,
5. विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निर्धारित करना।

शोध के क्षेत्र को परिसीमित करने हेतु इस अनुसंधान में भी जनसंख्या समष्टि (population) एवं न्यादर्श (sample) की परिभाषा एवं विधि का स्पष्टीकरण किया जाता है। न्यादर्श-चयन की जो विधियाँ अन्य अनुसंधानों में प्रयोग में लाई जाती हैं उन सबका प्रयोग वर्णनात्मक अनुसंधान में भी किया जाता है।

वर्णनात्मक अनुसंधान के प्रकार– वान डालेन ने इस अनुसंधान के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। ये हैं–

(क) सर्वेक्षण अध्ययन,

(ख) अन्तर्संबंधात्मक अध्ययन,

(ग) विकासात्मक अध्ययन।

3.11 सर्वेक्षण अध्ययन

1. **अर्थ एवं स्वरूप–** कर्लिंगर के अनुसार, सर्वेक्षण अध्ययनों के उद्देश्य होते हैं–
   (i) किसी घटना (incidence) की व्यापकता, गम्भीरता, घटने की सम्भावना, उसका विवरण आदि का पता लगाना तथा
   (ii) समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक चरों के पारस्परिक संबंधों का वर्णन करना।

नोट

सर्वेक्षण अध्ययन मुख्यतः घटनाओं (phenomena), चरों (variables) एवं विशेषताओं (characteristics) की वर्तमान स्थिति (status) का वर्णन करते हैं।

किसी विशिष्ट मानव-समुदाय, किसी संस्था, किसी परिपाटी (practice)ए नीति (policy) अथवा योजना की आलोचनात्मक ढंग से व्याख्या करना आदि सब सर्वेक्षण अध्ययन के उदाहरण हैं। कभी-कभी इन अध्ययनों के अन्तर्गत उपरोक्त के वर्तमान स्तर की किसी स्वीकृत मानक (standard) के साथ तुलना करके सुधार के सुझाव देना भी सर्वेक्षण का उद्देश्य होता है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में जो सर्वेक्षण किए जाते हैं वे विधि एवं तकनीक के दृष्टिकोण से पर्याप्त वैज्ञानिक होते हैं तथा स्तर-सर्वेक्षण (staus surveys) से काफी भिन्न होते हैं।

अधिकतर सर्वेक्षण अध्ययनों में न्यादर्शों के आधार पर सम्पूर्ण जनसृष्टि अथवा उसके बड़े भाग का अध्ययन किया जाता है। एक न्यादर्श के अध्ययन से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उनका सम्पूर्ण जन-सृष्टि अथवा उस न्यादर्श से अधिक विस्तृत इकाई संख्या के लिए सामान्यीकरण किया जाता है। इसलिए इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि न्यादर्श का चयन इस प्रकार किया जाए कि वह उस सृष्टि का प्रतिनिधित्व करता हो। इस प्रकार के सर्वेक्षण-अध्ययनों को न्यादर्श-सर्वेक्षण (sample surveys) कहा जाता है।

2. **सर्वेक्षण**-अध्ययनों के प्रकारः सर्वेक्षण-अध्ययनों के माध्यम से अनेक बातों का अध्ययन किया गया है। उनका स्पष्ट रूप में वर्गीकरण करना कठिन है। तो भी कुछ इस प्रकार उनका वर्गीकरण किया गया है–
   1. संस्थागत सर्वेक्षण,
   2. व्यवसायों के सर्वेक्षण,
   3. जन-समुदायों के सर्वेक्षण (community surveys)ए
   4. दस्तावेजों के सर्वेक्षण,
   5. जनमत सर्वेक्षण (opinion surveys),
   6. जनसंख्या सर्वेक्षण,
   7. समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण (sociological surveys),
   8. मनोवैज्ञानिक सर्वेक्षण।

   दस्तावेजों के सर्वेक्षण को विषय-वस्तु विश्लेषण (content analysis)ए कार्य विश्लेषण (activity analysis) भी कहा जाता है जो ऐतिहासिक अनुसंधान से बहुत मिलते-जुलते होते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययनों के केन्द्र सामाजिक तथ्य होते हैं जैसे सामाजिक धारण ाएँ, अभिवृत्तियाँ, लोगों की आदतें, रीति-रिवाज आदि। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक सर्वेक्षण अध्ययनों का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक चरों (variables) के वर्तमान स्तर (status) एवं उनके वितरण (distribution) पर प्रकाश डालना होता है। किसी कक्षा के विद्यार्थियों की औसत बुद्धि का पता लगाना तथा बुद्धि का कक्षा के विद्यार्थियों में वितरण ज्ञात करना मनोवैज्ञानिक सर्वेक्षण का एक उदाहरण है।

3. **सर्वेक्षण अध्ययनों की विधि (Methodology)–** सर्वेक्षण अध्ययन की विधि में न्यादर्श-चयन की प्रक्रिया को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। न्यादर्श का चयन (sample design)

किस प्रकार किया जाए इसकी विस्तार से व्याख्या की गई है। अध्ययन-प्रक्रिया की सम्पूर्ण रूपरेखा जिन तत्वों से मिलकर बनती है, वे हैं–

1. उद्देश्यों का विशिष्टीकरण,
2. उपकल्पनाओं का निर्धारण,
3. सूचना-सामग्री एकत्र करने का विधान निश्चित करना।

नोट

सूचना-सामग्री (data) एकत्र करने के कई माध्यम होते हैं, जैसे–प्रश्नावली, कथनावली, मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ, साक्षात्कार, व्यक्तिगत गमन (personal visits)ए आलेखों की जाँच एवं मूल्यांकन आदि। सम्पूर्ण प्रक्रिया कुछ प्रश्नों के उत्तरों पर आधारित होती है, जैसे–लक्ष्य क्या है, उस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किस प्रकार की सूचनाएँ आवश्यक होंगी, उन्हें किनसे, कहाँ से, किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस सूचना-सामग्री का तालिकाकरण (tabulation) एवं विश्लेषण (analysis) किस प्रकार किया जाएगा आदि।

सर्वेक्षण-अध्ययनों को अन्य प्रकार के अध्ययनों की तुलना में किसी प्रकार भी हीन अथवा कम महत्त्व का नहीं समझना चाहिए। विशिष्ट परिस्थितियों में उनकी बहुत उपयोगिता होती है।

3.12 अन्तर्सम्बन्धात्मक अध्ययन

ये अध्ययन सर्वेक्षण-अध्ययनों की तुलना में थोड़ा आगे जाते हैं। सर्वेक्षण की भाँति इनका उद्देश्य घटनाओं एवं तथ्यों का केवल वर्णन करना मात्र ही नहीं होता। वरन् वे उससे आगे जाकर तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं। वान डालेन ने इस प्रकार के अध्ययनों को तीन श्रेणियों में बाँटा है। ये हैं–

1. एकक वृत्त अध्ययन (Case studies)।
2. कारणवाची-तुलनात्मक अध्ययन (Causal comparative studies)।
3. सह-संबंधात्मक अध्ययन (Correlational studies)।

1. एकक वृत्त अध्ययन (Case Studies)

इस प्रकार के अध्ययन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक समय में केवल एक इकाई का अत्यन्त गहराई से अध्ययन किया जाता है। वह इकाई एक व्यक्ति भी हो सकता है और एक समूची संस्था अथवा कोई नीति, प्रक्रिया, प्रथा आदि भी हो सकती है। इसी प्रकार किसी एक परिवार, एक जन-समूह, एक जाति-विशेष, धर्म आदि का व्यापक रूप से किया गया अध्ययन भी एकक अध्ययन के अन्तर्गत आता है। इन अध्ययनों का उद्देश्य उस इकाई का प्रत्येक दृष्टिकोण से गहन अध्ययन करके इस बात पर प्रकाश डालना होता है कि वास्तव में समस्या क्या है, वह किस प्रकार उत्पन्न हुई है, उसे जन्म देने वाले कारक, तत्व एवं प्रक्रियाएँ क्या हैं तथा वे किस प्रकार गतिशील रही हैं। लक्ष्यानुसार अनुसंधानकर्ता उस इकाई के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित तथा विभिन्न स्रोतों से सूचना-सामग्री एकत्र करता है। उस सूचना-सामग्री का उपयुक्त विधि से विश्लेषण करके लक्ष्यानुसार निष्कर्षों का निर्धारण करता है। तमाम सामग्री को लक्ष्य-केन्द्रित प्रश्नों के सन्दर्भ में वर्गीकृत करके समायोजित करता है तथा आलोचनात्मक विश्लेषण के आधार पर ही निष्कर्ष पर पहुँचता है।

एकक वृत्त अध्ययन अनेक प्रकार के हो सकते हैं। किसी भी वस्तु अथवा घटना का गहराई से किया गया अध्ययन एकक-वृत्त अध्ययन होगा। इस अध्ययन की प्रक्रिया के पद-क्रम में ये निम्न कार्य सम्मिलित होते हैं–

नोट

1. समस्या अथवा प्रकरण का निर्धारण।
2. लक्ष्य-निर्धारण।
3. समस्या का निदान (diagnosis)।
4. सम्बन्धित वांछनीय सूचनाएँ एकत्र करना।
5. सूचनाओं का वर्गीकरण एवं विश्लेषण।
6. निष्कर्षों का निर्धारण।

इन अध्ययनों को एकक इसलिए कहते हैं कि एक समय में केवल एक ही इकाई का गहन अध्ययन किया जाता है। वृत्त अध्ययन इसलिए कहते हैं कि अध्ययन के अन्तर्गत व्यक्ति, संस्था समुदाय के विषय में विगत काल की पूरी जानकारी एकत्र की जाती है। उसके इतिहास का भी अध्ययन किया जाता है।

इन अध्ययनों को अन्तर्सम्बन्धात्मक अध्ययनों के अन्तर्गत इसलिए रखा गया है कि इनमें विभिन्न परिस्थितियों एवं चरों का समस्या के साथ यदि कोई सम्बन्ध है तो उस पर प्रकाश डाला जाता है।

उदाहरण किसी एक बालक की चोरी करने की आदत के कारणों का अध्ययन, किसी विद्यालय की शिक्षा के स्तर की गिरावट के कारणों का अध्ययन, किसी शिक्षा-नीति की प्रभाविकता का अध्ययन आदि इस प्रकार के अध्ययनों के उदाहरण हो सकते हैं।

इन सभी में कारणों का पता लगाने हेतु कुछ सम्भावित कारक, परिस्थितियों, तत्वों, चरों की खोज की जाती है और फिर यह जानने का प्रयास किया जाता है कि उनका उपरोक्त समस्याओं के साथ क्या सम्बन्ध है, क्या वे समस्या का कारण हैं, यदि हैं, तो वे किस प्रकार समस्या को जन्म देती हैं। अत: इन अध्ययनों को अन्तर्सम्बन्धात्मक अनुसंधान की श्रेणी में रखा गया है। एकक वृत्त अध्ययनों का शिक्षा, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, उद्योगों, सामाजिक कार्य, मार्गदर्शन आदि क्षेत्रों में बहुत अधिक प्रचलन है। मार्गदर्शन एवं परामर्श के क्षेत्र में समस्यात्मक बालकों के वृत्त अध्ययन किए जाते हैं जिनमें यह जानने का प्रयास किया जाता है कि बालकों की ये समस्याएँ क्यों और कैसे उत्पन्न होती हैं। सामाजिक कार्यकर्ता यह जानने का प्रयास करते हैं कि कोई सामाजिक समस्या, वाद अथवा प्रकरण क्यों और कैसे उत्पन्न होता है। उनके समाधान के वे सुझाव भी प्रस्तुत करते हैं। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अर्थनीतियों के क्रियान्वयन का अध्ययन किया जाता है। उद्योगों के क्षेत्र में इन अध्ययनों का उद्देश्य यह जानना रहता है कि कोई उद्योग क्यों प्रगति कर रहा है अथवा क्यों असफल हो रहा है।

यदि सर्वेक्षण अध्ययनों से एकक वृत्त अध्ययनों की तुलना की जाए तो यह कहा जा सकता है कि सर्वेक्षण अध्ययन का कार्य क्षैतिज (horizontal) होता है तथा एकक अध्ययनों में कार्य लम्बीय (vertical) होता है। सर्वेक्षण में अनेक इकाइयों का केवल वर्तमान में ही अध्ययन किया जाता है जबकि एकक वृत्त अध्ययन में केवल एक इकाई का वर्तमान एवं विगतकाल दोनों में अत्यन्त गहराई से अध्ययन किया जाता है। उसमें गहराई (depth) रहती है जबकि सर्वेक्षण में फैलाव एवं चौड़ाई (width) रहता है। एकक वृत्त अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य उपचारात्मक (therapeutic) होता है जबकि सर्वेक्षण का उद्देश्य संस्थाओं अथवा व्यक्तियों के वर्तमान स्तर, वर्तमान स्थिति का वर्णन करना मात्र होता है। एकक वृत्त अध्ययनों में कारक तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों, उनके समस्या के साथ सम्बन्धों आदि पर प्रकाश डालना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है जबकि सर्वेक्षण में सूचना सामग्री के वर्गीकरण, तालिकाकरण एवं व्यवस्थितिकरण के आधार पर सामान्यीकरण (generalization)

पर बल दिया जाता है। सामान्यीकरण तो दोनों प्रकार के अध्ययनों में रहता है, परन्तु एकक वृत्त अध्ययनों में यह सामान्यीकरण समस्या के कारक तत्वों (कारणों) के विषय में होता है तथा सर्वेक्षण में यह व्यक्तियों एवं संस्थाओं की विशेषताओं के विषय में होता है।

नोट

कुछ परिस्थितियों में एकक वृत्त अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए बालकों की व्यवहारात्मक समस्याओं के कारणों एवं उनकी गत्यात्मकता (dynamics) को जानने, संस्थाओं की उथल-पुथल, उनकी प्रभाविकता (effectiveness), सफलता-असफलता आदि को जानने में इन अध्ययनों का बहुत महत्त्व है। इन उद्देश्यों की उपलब्धि के सन्दर्भ में अन्य प्रकार के अध्ययनों से काम नहीं चलता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस अध्ययन में कमियाँ एवं दोष नहीं हैं। लेखकों ने एकक-वृत्त अध्ययनों के दोषों का उल्लेख इस प्रकार किया है: प्रथम, इन अध्ययनों की बाह्य वैधता (external validity) बिल्कुल नहीं होती। अर्थात् इनके आधार पर प्राप्त निष्कर्ष केवल उसी एक इकाई तक सीमित रहते हैं जिसका अध्ययन किया गया है। उन निष्कर्षों को अन्य समान इकाइयों पर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, निष्कर्षों का सामान्यीकरण व्यापक नहीं होता। दूसरा दोष इन अध्ययनों का यह है कि इनके निष्कर्ष व्यक्तिनिष्ठ (subjective) होते हैं अर्थात् उन निष्कर्षों में शोधकर्ता की अपनी व्यक्तिगत धारणाओं, मनोवैज्ञानिक विशेषताओं एवं दुर्बलताओं का पुट बहुत अधिक रहता है। निष्कर्ष इस बात पर निर्भर करते हैं कि शोधकर्ता शोध-सामग्री (data) का विश्लेषण किस प्रकार करता है। एक ही शोध-सामग्री का विश्लेषण कई शोधकर्ता भिन्न-भिन्न ढंग से कर सकते हैं। अत: इन शोधों के निष्कर्ष स्थायी नहीं होते। बहुत कुछ वे शोधकर्ता की अपनी सूझ-बूझ, अपनी कल्पना पर निर्भर करते हैं, तो भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इन अध्ययनों की कोई उपयोगिता नहीं है। यदि उपरोक्त दोषों को ध्यान में रखते हुए शोधकर्ता वस्तुनिष्ठ रूप में शोध-सामग्री का विश्लेषण करता है तथा अपनी धारणाओं, दुर्बलताओं एवं पूर्वाग्रहों से प्रभावित नहीं होता है तो परिणाम अधिक विश्वसनीय एवं वाह्य वैधता पर्याप्त संतोषजनक हो सकती हैं।

2. कारणवाची तुलनात्मक अध्ययन

यह अन्तर्सम्बन्धारित वर्णनात्मक अनुसंधान का दूसरा प्रकार है। इस प्रकार के अध्ययनों में भी घटना के कारण की खोज का प्रयास किया जाता है। इसीलिए इसे कारणवाची (causal) कहा गया है, परन्तु कारण का निर्धारण जिस विधि के आधार पर किया जाता है वह तुलनात्मक (comparative) होती है। इसलिए उसे कारणवाची-तुलनात्मक अध्ययन की संज्ञा दी जाती है। इस दृष्टिकोण से इन अध्ययनों को कारण-प्रभाव-सम्बन्ध (cause-effect- relationship) अध्ययनों की श्रेणी में भी रखा जा सकता है। वास्तव में कारण-प्रभाव-सम्बन्ध का अध्ययन प्रयोगात्मक अनुसंधान (experimental research) के अन्तर्गत आता है। दोनों प्रकार के अध्ययनों का उद्देश्य समान है। केवल अध्ययन-विधि में अन्तर होता है। कारणवाची-तुलनात्मक अध्ययन की विधि तुलनात्मक होती है तथा प्रयोगात्मक अनुसंधान के नियम एवं कसौटी का उसमें पालन नहीं होता। अत: इस प्रकार के अध्ययनों को वर्णनात्मक अनुसंधान की श्रेणी में रखा जाता है।

(I) अर्थ एवं स्वरूप–इन अध्ययनों का प्रमुख उद्देश्य यह जानना होता है कि कुछ निर्धारित अथवा चयनित तत्वों, परिस्थितियों अथवा कारकों एवं शोधगत समस्या, विषय अथवा घटना के बीच कोई कारण-परिणाम (cause- effect) सम्बन्ध है अथवा नहीं। इसके लिए बहुत-सी समान घटनाओं को लेकर उनके बीच समानताओं एवं अन्तरों की तुलना के आधार पर निश्चित निष्कर्ष निकाला जाता है। इस दृष्टिकोण से ये अध्ययन प्रयोगात्मक

नोट

अनुसंधान से बहुत मिलते-जुलते होते हैं क्योंकि प्रयोगात्मक अनुसंधान प्रमुख रूप से कारण-सम्बन्ध स्थापित करने की व्यूह-रचना (strategy) है, परन्तु शोध-विधि एवं तकनीक के दृष्टिकोण से दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। प्रयोगात्मक अनुसंधान में शोधकर्ता स्वतन्त्र चर (independent variable) का यथेच्छ प्रयोग (manipulate) करके आश्रित चर (dependent variable) पर उसके प्रभाव का अध्ययन करता है, अर्थात् स्वतन्त्र चर के कई स्तर अथवा श्रेणियाँ बनाकर प्रत्येक के आश्रित चर पर पड़ने वाले प्रभाव की एक-दूसरे के साथ सांख्यिकीय विधियों के आधार पर तुलना करते हुए उनका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार इसमें आश्रित चर का स्तर अथवा स्थिति पूर्वनिर्धारित नहीं होती, परन्तु कारणवाची-तुलनात्मक अध्ययन में आश्रित चर पूर्वनिर्धारित स्वभाविक रूप से, यथास्थिति रूप में स्वयं उत्पन्न हुआ उपलब्ध होता है, इसमें घटना को अध्ययन हेतु उसे कोई घटाता नहीं। वह स्वयं घटी हुई (naturally occurring) उपलब्ध होती है। उस घटित घटना को लेकर शोधकर्ता आगे बढ़ता है तथा यह खोजने का प्रयास करता है कि कौन-से तत्व, परिस्थितियाँ, कारक रूप में उससे जुड़ी हैं। जैसे-शोधकर्ता छात्रों की अध्यापकों के प्रति नकारात्मक अभिवृत्तियों के कारण जानना चाहता है तो वह कुछ ऐसे बच्चे लेता है जिनमें नकारात्मक अभिवृत्तियाँ हैं और फिर तुलनात्मक विधि का प्रयोग करके उनके कारणों की खोज करता है। यहाँ नकारात्मक अभिवृत्तियाँ जिस रूप में विकसित हुई हैं उसी रूप में शोधकर्ता को आश्रित (dependent) चर के रूप में स्वीकार करना होगा। अपनी ओर से इन्हें छात्रों में उत्पन्न करना सम्भव नहीं होगा। जैसा भी, जिस रूप में भी यह चर उपलब्ध है उसी रूप में उसको लेकर तथा उन छात्रों से तुलना करके जिनमें अभिवृत्तियाँ नरकारात्मक नहीं हैं अथवा सकारात्मक हैं उनके कारणों का निर्धारण करना पड़ेगा। दोनों समूहों के विद्यार्थियों के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों की तुलना करके यह निश्चित करना होगा कि किन-किन बातों में वे समान हैं तथा किन में एक-दूसरे से भिन्न। जिन तत्वों पर वे भिन्न पाए जाते हैं वे तत्व उन नकारात्मक अभिवृत्तियों के कारक हो सकते हैं। यह विधि मिल की विधि पर आधारित है जिसके अन्तर्गत कहा गया है कि "ऐसी दो घटनाएँ जिनमें से एक में शोधगत चर विद्यमान हों तथा दूसरी में न हों यदि एक को छोड़कर अन्य सभी विशेषताओं पर समान हों तो वह विशेषता जिस पर उनमें भिन्नता पाई जाती है शोधगत चर का कारक हो सकती है।" मिल ने ऐसे कई और भी नियमों का निरूपण किया है जिनका उपयोग इन अध्ययनों की शोध-सामग्री के विश्लेषण करने तथा तदाधारित निष्कर्षों के निर्धारण में किया जा सकता है।

(II) महत्त्व–इन अध्ययनों का कई परिस्थितियों में विशेष महत्त्व है। शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेक परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें प्रयोगात्मक विधि (experimental method) का प्रयोग सम्भव नहीं होता। वहाँ कारणवाची-तुलनात्मक अध्ययन का ही सहारा लेना पड़ता है।

उदाहरण के लिए, छात्रों में नकारात्मक अभिवृत्तियों को अपनी ओर से विभिन्न स्तरों पर उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। अतः इन परिस्थितयों में केवल कारणवाची तुलनात्मक विधि का ही प्रयोग करना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से इन अध्ययनों का अपना महत्त्व है।

(III) इन अध्ययनों के दोष–यद्यपि इन अध्ययनों की अपनी उपयोगिता है, तो भी उनके दोषों, कमियों की जानकारी होना भी आवश्यक है। इन अध्ययनों में स्वतन्त्र चर का यथेच्छ

नोट

प्रयोग सम्भव नहीं होता। इससे उनकी उपयोगिता घट जाती है। दूसरे उनमें ऐसे चरों को नियन्त्रित करना भी सम्भव नहीं होता जो आश्रित चर एवं स्वतन्त्र चर के पारस्परिक सम्बन्ध को अवांछनीय रूप से प्रभावित करते हैं। इन दो कमियों के कारण जो निष्कर्ष इन अध्ययनों से प्राप्त होते हैं वे अधिक विश्वसनीय एवं वैध नहीं होते। इनके परिणामों को अध्ययनेतर इकाइयों पर लागू नहीं किया जा सकता अर्थात् परिणामों की सामान्यीकरण की सम्भावना बहुत सीमित होती है। दूसरे अर्थ में, इन अध्ययनों की बाह्य वैधता निम्न स्तर की होती है। इसी प्रकार इनकी आन्तरिक वैधता (internal validity) अथवा शुद्धता (precision) भी अधिक नहीं होती। इसलिए इन अध्ययनों में घटना का जो कारक तत्व उभरकर आता है उसे नि:संदेह नहीं समझा जा सकता।

3. सह-संबंधात्मक अध्ययन

वर्णनात्मक एवं अन्तर्सम्बन्धात्मक अनुसंधान की श्रेणी में ही सह-संबंधात्मक अध्ययन (correlational studies) भी आते हैं। इन अध्ययनों का उद्देश्य भी चरों के बीच संबंध ज्ञात करना होता है। चर परस्पर संबंधित हैं अथवा नहीं यह तो अन्य प्रकार के अध्ययनों के माध्यम से भी जाना जा सकता है, परन्तु सह-संबंधात्मक अध्ययनों की यह विशेषता है कि वे केवल यही नहीं बताते कि दो या दो अधिक चर परस्पर संबंधित हैं, बल्कि यह भी बताते हैं कि यह संबंध कितना गहरा अथवा अधिक है।

यह गुणांक $\pm$ 1.0 की सीमा के भीतर ही होता है। गुणांक + 1.0 का अर्थ होता है **पूर्ण एवं सकारात्मक संबंध** एवं – 1.0 का अर्थ होता है **पूर्ण परन्तु नकारात्मक संबंध**। इनके बीच में जो गुणांक होते हैं वे पूर्ण से कम सकारात्मक एवं नकारात्मक संबंध के परिचायक होते हैं। सकारात्मक संबंध का अर्थ होता है दोनो चरों का एक ही दिशा में घटना अथवा बढ़ना। जैसे–बुद्धि एवं शैक्षिक उपलब्धि के बीच यदि सकारात्मक संबंध है तो इसका अर्थ होगा कि बुद्धि बढ़ती है तो शैक्षिक उपलब्धि भी बढ़ेगी। यदि नकारात्मक अथवा विपरीत सह-संबंध है तो स्थिति यह होगी कि यदि बुद्धि बढ़ती है तो शैक्षिक उपलब्धि घटती है।

ये अध्ययन सांख्यिकीय विधियों पर आधारित होते हैं। इनका प्रयोग अत्यन्त जटिल (complex) संबंधों को ज्ञात करने में भी किया जाता है तथा इनके आधार पर बहुचरीय विश्लेषण (multivariate analysis) तथा पूर्वकथन अध्ययन (predictive studies) किए जाते हैं।

इन अध्ययनों की एक कमी यह है कि इनमें चरों के बीच के केवल संबंध की ही जानकारी प्राप्त होती है। यह नहीं ज्ञात किया जा सकता कि कौन किसका कारण है। अत: इनमें कारण-परिणाम का अध्ययन नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिकोण से ये अध्ययन प्रयोगात्मक अध्ययनों से बिल्कुल भिन्न होते हैं।

3.13 विकासात्मक अध्ययन

इस प्रकार के अध्ययन किसी भी क्षेत्र में किए जा सकते हैं, परन्तु बालकों की वृद्धि एवं विकास के संदर्भ में उन्हें विशेष रूप से उपयोगी पाया गया है। अत: इस क्षेत्र में उनका प्रचलन अधिक है। इन अध्ययनों में इस बात पर प्रकाश डाला जाता है कि बालकों के व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार होता है, किस आयु में किस प्रकार की मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ उनमें विकसित होती हैं,

कैसे-उनमें समयानुसार परिवर्तन होता है तथा कौन-कौन से तत्व इन परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं। विकासात्मक अध्ययन भी दो प्रकार के होते हैं–अनुप्रस्थ-छेदीय (cross-sectional) तथा अन्वायामी (longitudinal)।

नोट

इस प्रकार ये अध्ययन लंबे समय तक चलते रहते हैं। उदाहरण के लिए, बालकों के एक निश्चित समूह की बुद्धि, आदतों, संवेगात्मक स्थायित्व, आत्म-बोध, (self-concept), रुचियों अथवा व्यक्तित्व की अन्य विशेषताओं का मापन 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11 वर्ष की प्रत्येक आयु पर किया जा सकता है तथा यह देखा जा सकता है कि किस आयु पर उनमें क्या परिवर्तन होता है। विभिन्न आयु-स्तरों पर लिए गए मापों की पारस्परिक तुलना के आधार पर इन विशेषताओं के क्रमिक विकास का तथा उनके पीछे विद्यमान नियमों एवं सिद्धांतों का वर्णन किया जा सकता है।

अनुप्रस्थ-छेदीय अध्ययनों में एक ही समय में विभिन्न आयु के बालकों के अलग-अलग समूहों को चुनकर उनकी उपरोक्त विशेषताओं का एक ही साथ मापन किया जाता है। इन मापों की फिर परस्पर तुलना की जाती है और यह जानने का प्रयास किया जाता है कि किस आयु के बालकों में कौन विशेषता अधिक अथवा कम है। इस प्रकार किस आयु के बालको में कौन-सी विशेषताएँ प्रबल रूप में पाई जाती हैं, इसका वर्णन किया जा सकता है। अनेक शोधकर्ताओं ने बालकों के विकास का अध्ययन इसी प्रकार किया है। ये अध्ययन थोड़े समय में ही पूर्ण हो जाते हैं। अन्वायामी अध्ययनों की भाँति लंबे समय तक परिणामों की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

उपरोक्त दोनों प्रकार के विकासात्मक अध्ययनों में कौन अधिक अच्छा अथवा उपयोगी है, यह कहना कठिन है। प्रत्येक के अपने गुण-दोष हैं। अन्वायामी अध्ययन के जहाँ कुछ लाभ हैं वहाँ उसके कुछ दोष भी हैं। मानव-विकास की विशेषताओं का इनमें अधिक सही अध्ययन हो पाता है, परन्तु उनका यह एक दोष है कि परिणामों के लिए लंबे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। दूसरे इतने लंबे समय तक सभी बालकों को अध्ययनगत रखना कठिन हो जाता है। उनमें से बहुत से अन्त तक उपलब्ध नहीं हो पाते। इसका परिणामों की विश्वसनीयता पर कुप्रभाव पड़ता है। इन अध्ययनों के परिणामों की बाह्य वैधता भी अधिक नहीं होती।

अनुप्रस्थ-छेदीय अध्ययनों में समय तो कम लगता है और वे सरलता से सम्पादित हो जाते हैं जिसके कारण शोधकर्ता अधिकतर उन्हीं को अपनाते हैं, परन्तु उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि उनमें विभिन्न आयु के जिन समूहों की परस्पर तुलना की जाती है वे समान न होने के कारण तुलनीय नहीं होते। इस कारण जो परिणाम प्राप्त होते हैं वे न अधिक विश्वसनीय होते हैं और न वैध।

तो भी दोनों प्रकार के अध्ययनों को महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। दोनों का प्रयोग अनुसंधान के क्षेत्र में पाया जाता है।

3.14 उपनत्यात्मक अध्ययन

यह विधि भी विकासात्मक अध्ययन का ही रूप है। इनमें भी इस बात का अध्ययन किया जाता है कि विकास की प्रवृत्ति कैसी है, कौन-सी विशेषता किस वर्ष में अधिक पाई जाती है अथवा किस प्रकार उस विशेषता का क्रमिक विकास कालान्तर में होता है, परन्तु इन अध्ययनों का कार्य इस प्रकार के वर्णन तक ही सीमित नहीं रहता। इससे आगे इन अध्ययनों में इस बात पर भी प्रकाश डाला जाता है कि यदि विकास की वर्तमान प्रवृत्ति ऐसी है तो भविष्य में उसकी क्या स्थिति होगी। साथ ही उनके परिणामों के आधार पर ऐसे सुझाव भी दिए जाते हैं कि यदि विकास की प्रवृत्ति

नोट

यही रही तो आगामी वर्षों में उसका संस्था, संस्था के वातावरण, उसके आर्थिक-सामाजिक पहलुओं पर क्या प्रभाव पड़ेगा? उदाहरण के लिए, यदि विद्यालयों में छात्र-प्रवेश दर का पिछले दस वर्षों का अध्ययन किया जाता है तथा यह पाया जाता है कि प्रति वर्ष छात्रों की प्रवेश-माँग में दस प्रतिशत की वृद्धि होती रही है, तो उसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विद्यालयी शिक्षा के व्यय में प्रतिवर्ष अथवा पाँच वर्षों में कितनी वृद्धि होगी। उसी के अनुरूप फिर शिक्षा-नीति का निर्माण करना भी सम्भव हो सकता है।

इन अध्ययनों में शोध सामग्री एकत्र करने हेतु अन्य कई प्रकार के अनुसंधानों जैसे–ऐतिहासिक, सर्वेक्षण आदि अध्ययनों की विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। विद्यालयों की छात्र-प्रवृष्टि, जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति, व्यवसायों के अवसर, सामाजिक परिवर्तनों की प्रवृत्ति आदि के अध्ययन इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। भावी योजनाओं के निर्माण के दृष्टिकोण से इस प्रकार के अध्ययनों का बहुत महत्त्व होता है।

3.15 घटनोत्तर अनुसंधान

इन अध्ययनों में भी घटनाओं के बीच कार्यात्मक (functional) संबंधों को ज्ञात किया जाता है तथा घटनाओं के घटने के कारणों को खोजने का प्रयास किया जाता है।

अर्थ एवं स्वरूप

घटनोत्तर अनुसंधान (ex-post facto research) भी एक ऐसा अध्ययन होता है जिसमें स्वतंत्र एवं आश्रित चरों के बीच कार्य-कारण संबंध की स्थापना की जाती है। अत: इसे भी प्रयोगात्मक अनुसंधान की श्रेणी में रखा गया है, परन्तु सत्य प्रयोगों की श्रेणी में इसे नहीं रखा जाता क्योंकि प्रयोगों में स्वतंत्र चर के प्रहस्तन अथवा यथेच्छ प्रयोग की शोधकर्ता को स्वतंत्रता होती है जो घटनोत्तर अनुसंधान में नहीं होती। प्रयोग में स्वतंत्र चर के कई स्तर बनाकर इकाइयों को उतने ही समूहों में समसंभाविक रीति से वितरित किया जाता है। इसमें तुलनीय समूह स्वतंत्र चर के आधार पर बनाए जाते हैं, परन्तु घटनोत्तर अनुसंधान में ये समूह आश्रित चर के आधार पर बनाए जाते हैं अर्थात् अनुसंधान की प्रक्रिया आश्रित चर से प्रारंभ होती है। इसीलिए **मौलि** ने घटनोत्तर अनुसंधान को "प्रतिवर्तित प्रयोग" (experiment in reverse) कहा है क्योंकि इसमें स्वतंत्र एवं आश्रित चर का क्रम प्रयोगाधीन क्रम के ठीक विपरीत हो जाता है। प्रयोग में स्वतंत्र चर पर पहले विचार किया जाता है तथा उसके आधार पर तुलनीय समूह बनाए जाते हैं जबकि घटनोत्तर अध्ययनों में आश्रित चर पहले आता है अर्थात् पहले उसके आधार पर तुलनीय समूह बनाए जाते हैं। प्रयोग में तुलनीय समूहों की आश्रित चर के आधार पर तुलना की जाती है। ठीक इसके विपरीत घटनोत्तर अध्ययनों में तुलनीय समूहों की तुलना स्वतंत्र चर के आधार पर की जाती है।

घटनोत्तर अनुसंधान के आश्रित चर पर समूह वास्तव में बनाए नहीं जाते बल्कि वे परिवेश में बने-बनाए उपलब्ध होते हैं जो एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, जैसे–लड़के-लड़कियाँ, ग्रामवासी-नगरवासी, अमीर-गरीब, निम्न-उपलब्धिधारी, उच्च-उपलब्धिधारी, अधिक-बुद्धिमान-कम-बुद्धिमान आदि। इनमें अन्तर-भिन्नता होने का कारण खोजने हेतु तत्पश्चात् उपकल्पित चरों (स्वतंत्र चरों) पर उनकी तुलना की जाती है। उदाहरण के लिए, यदि हमें छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि-प्रेरणा के निम्न स्तर का कारण ज्ञात करना हो तो हम निम्न स्तरीय प्रेरणा वाले तथा उच्च स्तरीय प्रेरणा वाले छात्रों के समूहों

को चुन लेंगे तथा उनकी तुलना किसी उपकल्पित चर (जैसे, बुद्धि अथवा छात्रों का पारिवारिक परिवेश) पर करेंगे।

नोट

घटनोत्तर का शाब्दिक अर्थ ही है घटना (आश्रित चर) के बाद अर्थात् आश्रित चर स्वाभाविक स्थिति में उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् उसके कारण का (स्वतंत्र चर के साथ संबंध) पता लगाया जाता है। जैसे, उपरोक्त उदाहरण में घटना प्रेरणा का निम्न अथवा उच्च स्तर पहले ही परिवेश में स्वाभाविक रूप में उपलब्ध है। ऐसे छात्र विद्यालयों में हैं ही। कारणवाची-तुलनात्मक अध्ययनों में भी ऐसा ही किया जाता है, परन्तु उसमें कारण की खोज की विधि इन अध्ययनों की विधि से भिन्न होती है।

3.16 सत्य प्रयोग से अन्तर

प्रयोगशाला में जो प्रयोग किए जाते हैं उनसे घटनोत्तर अध्ययन निम्नलिखित दृष्टिकोणों से भिन्न होते हैं–

1. प्रयोगशालागत प्रयोगों में स्वतंत्र चर का यथेच्छ प्रयोग अर्थात् प्रहस्तन सम्भव होता है तथा उसके आश्रित चर पर पड़े प्रभाव का मापन एवं अध्ययन किया जाता है। घटनोत्तर अध्ययनों में आश्रित चर के विभिन्न स्तरों पर समूह बनाए जाते हैं तथा स्वतंत्र चर पर उनकी तुलना की जाती है।
2. प्रयोगशालागत प्रयोगों में अध्ययन बाह्य (extraneous) तत्वों के प्रभाव को समसंभाविक विधि (randomization) एवं समानीकरण (matching) आदि के द्वारा यथासम्भव नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न उपचारों (treatments) को स्वतंत्र चर द्वारा उत्पन्न हुआ स्वीकार करना सम्भव होता है। घटनोत्तर अध्ययनों में यह नियंत्रण सर्वथा संभव नहीं होता। अत: इनके परिणाम अधिक विश्वसनीय नहीं होते। नियंत्रण की उपरोक्त दोनों विधियाँ घटनोत्तर अध्ययनों में संभव नहीं होतीं।
3. दोनों प्रकार के अध्ययनों में विभिन्न समूहों के सृजन हेतु इकाइयों का समष्टि (population) में से तो समसंभाविक विधि द्वारा चयन किया जाना संभव है, परन्तु घटनोत्तर अध्ययनों में उन्हें समूहों में इस विधि द्वारा वितरित करना संभव नहीं होता जबकि प्रयोगशालागत प्रयोगों में यह संभव होता है। घटनोत्तर अध्ययनों में इकाइयाँ स्वयं ही समूहों में समागत रहती हैं। अध्ययनगत आश्रित चर के आधार पर वे स्वयं अपने-अपने वर्ग में बँट जाती हैं। **कर्लिंगर** के अनुसार, इन अध्ययनों में "इकाइयाँ" एवं उपचार पहले से ही समूहों में बँटे हुए रहते हैं।

इन दुर्बलताओं के कारण इन अध्ययनों की आन्तरिक वैधता बहुत कम होती है। इसलिए **मौलि** ने कहा है कि ये अध्ययन एक साथ कई एक उपकल्पनाओं का और कभी-कभी तो विरोधी उपकल्पनाओं का भी समर्थन करते हैं क्योंकि इनकी शोध-सामग्री अत्यन्त अनियंत्रित परिस्थितियों में एकत्र की जाती हैं। इसी कारण कई वैकल्पिक उपकल्पनाएँ उससे निसृत होती हैं।

सभी लेखकों एवं विद्वानों का यह मानना है कि घटनोपरांत अध्ययनों में आश्रित एवं स्वतंत्र चर के बीच संबंध की जो जानकारी उपलब्ध होती है वह प्रयोग की तुलना में बहुत कम विश्वसनीय होती है। परन्तु साथ ही उनका यह भी कहना है कि प्रयोग के परिणाम यद्यपि विश्वसनीय तो बहुत होते हैं परन्तु उनके सामान्यीकरण (external validity) की संभावना सीमित होती है।

नोट

इन सब दुर्बलताओं के होते हुए भी घटनोपरांत अध्ययनों का शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्र में बहुत महत्त्व है क्योंकि इन क्षेत्रों में अधिकतर शोध-परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि उनमें प्रयोगों की व्यवस्था नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, इन क्षेत्रों में अनेक चर हैं जिनका यथेच्छ प्रयोग (प्रहस्तन) नहीं किया जा सकता। बुद्धि, चिंता, प्रेरणा, व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ आदि ऐसे ही चर हैं। इसी प्रकार, सामाजिक दबाव एवं तनाव, सामाजिक अभिवृत्तियाँ, सामाजिक आर्थिक स्तर, जाति, धर्म आदि भी ऐसे चर हैं जिनका यथेच्छ प्रयोग नहीं किया जा सकता। विद्यालयों का परिवेश, अध्यापकों की विशेषताएँ आदि भी ऐसे ही चर हैं। संक्षेप में, बहुत कम परिस्थितियाँ इन क्षेत्रों में ऐसी हैं जिनमें प्रयोगों की संभावना हो सकती है। अत: अधिकतर परिस्थितियाँ ऐसी ही हैं कि जिनमें घटनोत्तर अध्ययन ही संभव हो पाते हैं।

3.17 ऐतिहासिक अनुसंधान का अर्थ एवं स्वरूप

जो बीत चुका है, अतीत बन चुका है उसका वर्णन, लेखन एवं अध्ययन इतिहास के नाम से जाना जाता है। शिक्षा एवं समाजशास्त्र के क्षेत्र में ऐसा बहुत कुछ है जिसकी जड़ें अतीत की घटनाओं तक फैली हैं। अत: उसके वर्तमान स्वरूप को पूर्णतया समझने के लिए उसके इस अतीत को जानना भी आवश्यक है। ऐसा न भी हो तो भी शैक्षिक एवं समाजशास्त्रीय प्रक्रियाओं एवं परम्पराओं के अतीत स्वयं में महत्त्वपूर्ण एवं जानने योग्य होते हैं। वे स्वयं मानवीय जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। अनेक बार अतीत के अध्ययन भविष्य में वांछनीय परिवर्तनों की दिशा की ओर भी संकेत करते हैं। अत: ऐतिहासिक अनुसंधान की परिभाषा इस प्रकार की जाती है–"ऐसे अनुसंधान जिनमें उन घटनाओं, प्रक्रियाओं एवं परम्पराओं का अध्ययन किया जाता है जो अतीत में घटी होती हैं।" **स्मिथ** एवं **स्मिथ** के अनुसार, ऐतिहासिक अनुसंधान का उद्देश्य अतीत का सही-सही वर्णन करना होता है बीते सत्य की विद्वत्तापूर्ण खोज करना, अर्थात् जिज्ञासा का वह स्वरूप जिसमें शोधकर्ता जानना चाहता है कि "अतीत में इसका रूप, इसकी स्थिति कैसी थी, क्यों और कैसे ऐसा हुआ"। मौलि के अनुसार, ऐतिहासिक अनुसंधान का उद्देश्य वर्तमान की घटनाओं को और अधिक स्पष्ट परिप्रेक्ष्य प्रदान करना होता है।

शिक्षा के क्षेत्र में उसके किसी भी पक्ष को लेकर उसकी विगतकालीन स्थिति का अध्ययन किया जा सकता है। वैदिक काल में गुरु-शिष्य सम्बन्ध, मुगलकालीन शिक्षा की कुछ विशेषताएँ, प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-नीति, वैदिक काल की शिक्षा के उद्देश्य, मध्यकालीन शिक्षा के उद्देश्य, मुस्लिम काल में मदरसों की सामाजिक विकास में भूमिका आदि अनेक समस्याएँ ऐसी हो सकती हैं जिनका अतीत के संदर्भ में अध्ययन किया जा सकता है। ये सब अध्ययन ऐतिहासिक अनुसंधान की श्रेणी में आते हैं।

सभी ऐतिहासिक अध्ययन वर्णनात्मक (descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (analytical) प्रकार के होते हैं। उनमें घटना के अतीत की जानकारी देने वाले प्रलेखों, प्रपत्रों, स्मारकों, पुस्तकों, अभिलेखों, ऐतिहासिक अवशेषों आदि का अध्ययन किया जाता है। उनके आधार पर भाँति-भाँति के तथ्यों एवं साक्ष्यों को एकत्र किया जाता है तथा उनका विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन का नियोजन

जैसा अन्य प्रकार के अध्ययनों के साथ होता है इन अध्ययनों की भी काम प्रारंभ करने से पहले एक पूरी योजना विधिवत तैयार करनी पड़ती है।

नोट

ऐसा नहीं होगा तो अध्ययन संभव ही नहीं होगा। इसके साथ ही समस्या से संबंधित उपलब्ध साहित्य एवं अब तक किए गए अनुसंधानों का अध्ययन एवं उनकी समीक्षा करना भी आवश्यक होता है। उनके आधार पर ही अध्ययन के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उपकल्पनाओं का सृजन सम्भव हो पाता है। **हेमैन** के अनुसार, इसी स्तर पर सुस्पष्ट उपकल्पनाओं का सृजन एवं सैद्धांतिक विकास (theoretical development) का भी प्रयास किया जाना चाहिए। हेमैन ने भी इन अध्ययनों में उपकल्पना के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

3.18 ऐतिहासिक अनुसंधान की प्रक्रिया

इस प्रकार के अध्ययनों में भी प्रक्रिया का लगभग वही पदक्रम रहता है जो वर्णनात्मक विधि में अपनाया जाता है। **वान डालेन** ने निम्नलिखित पाँच पदों का उल्लेख किया है–

(i) समस्या का निर्धारण, उसकी परिभाषा एवं विस्तृत व्याख्या करना।

(ii) आधारभूत सामग्री (source material) एकत्र करना जिसके आधार पर समस्या संबंधी-शोध-सामग्री

एकत्र की जानी है, समस्या संबंधी जानकारी एवं सूचनाएँ प्राप्त की जानी हैं।

(iii) आधारभूत सामग्री का आलोचनात्मक (criticism) मूल्यांकन।

(iv) उपकल्पनाओं का सृजन (formulation of hypotheses) जिनके आधार पर वस्तु-स्थिति की व्याख्या की जानी है।

(v) सामग्री का विश्लेषण, निष्कर्षों का निरूपण एवं आख्या तैयार करना।

आंशिक परिवर्तन के साथ एवं कुछ भिन्न शब्दों में इन्हीं पदों का उल्लेख मौलि ने भी किया है। हौकेट ने त्रिपदी प्रक्रिया का वर्णन किया है। ये तीन पद हैं–

(i) शोध-सामग्री एकत्र करना।

(ii) उसका मूल्यांकन करना।

(iii) लिखित आख्या तैयार करना।

ऐतिहासिक अनुसंधान की शोध-सामग्री

ऐतिहासिक अनुसंधान की शोध-सामग्री (data) ऐतिहासिक तत्व एवं घटनाएँ ही होती हैं। अन्य अनुसंधानों में इस सामग्री का स्रोत मूलत: मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ, प्रश्नावलियाँ, साक्षात्कार आदि होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक अनुसंधान में यह ऐतिहासिक तथ्यों, घटनाओं एवं जानकारी के रूप में होती हैं, जिन्हें अनेक स्रोतों से एकत्र किया जाता है।

मौलि ने ऐतिहासिक जानकारी अथवा साक्ष्य के स्रोतों को दो श्रेणियों में बाँटा है–

(i) ऐतिहासिक प्रलेख (documents] izi=k)।

(ii) ऐतिहासिक अवशेष (relics or remains)।

एक-दूसरे दृष्टिकोण से **वान डालेन** ने ऐतिहासिक शोध-सामग्री के इन माध्यमों को प्राथमिक (primary) एवं **अत्तरज** (secondary) इन दो श्रेणियों में बाँटा है। "प्राथमिक स्रोत", **वान डालेन** के अनुसार, "ऐतिहासिक अनुसंधान की मूलभूत सामग्री होती है।" मूलभूत सामग्री अथवा गौण (secondary) स्रोत बन जाता है। उसमें प्रस्तुतकर्त्ता के अपने दृष्टिकोण, अपनी धारणाओं का पुट

भी रहता है। उस स्थिति में उसे कुछ कम विश्वसनीय माना जाता है तो भी उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता।

प्रलेखीय स्रोत के अन्तर्गत बहुत से प्रकार के अभिलेख आते हैं, जैसे–

(i) सरकारी अभिलेख।

(ii) व्यक्तिगत अभिलेख।

(iii) विभिन्न प्रकार के चित्र, नक्शे, ड्राइंग, फोटो आदि।

(vi) प्रकाशित सामग्री।

(vii) यांत्रिक सामग्री जैसे–टेप, वीडियो कैसेट आदि।

अवशेषों के अन्तर्गत भी कई प्रकार की वस्तुएँ आती हैं, जैसे–

(i) स्थूल वस्तुएँ: इमारतें, फर्नीचर, बहुत-से प्रकार के उपकरण, परिधान, औजार, मृत शरीरों के अवशेष आदि।

(ii) प्रकाशित सामग्री।

(iii) हस्तलिखित सामग्री आदि।

उपरोक्त सभी स्रोत वह समस्त जानकारी, सूचनाएँ (data) प्रस्तुत करते हैं जिनके आधार पर समस्यागत प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये जाते हैं एवं उपकल्पनाओं की जांच की जाती है, परन्तु विश्वसनीय एवं वैध निष्कर्ष प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि साक्ष्य के ये आधार भी विश्वसनीय हों। अन्य प्रकार के अनुसंधानों में जिस प्रकार यह आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण, प्रश्नावली आदि विश्वसनीय तथा वैध हों, उसी प्रकार ऐतिहासिक अध्ययनों में उपरोक्त-साक्ष्य-स्रोतों का भी विश्वसनीय एवं वैध होना आवश्यक समझा जाता है तथा शोध-सामग्री का विश्लेषण करने से पहले उसकी विश्वसनीयता एवं वैधता निर्धारित करना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसकी प्रमुख विधि साक्ष्य-समालोचना (criticism) होती है।

नोट

साक्ष्य समालोचना

ऐतिहासिक अनुसंधान में जो प्रलेख अथवा अवशेष उपलब्ध होते हैं उन्हें एकदम प्रामाणिक मान लेना ठीक नहीं समझा जाता। अत: शोधकर्ता बड़ी बारीकी से पहले उनकी प्रामाणिकता निर्धारित करता है। वह निर्धारित करता है कि वह प्रलेख अथवा अवशेष मौलिक, असंदिग्ध एवं वास्तविक हैं या नहीं। इसका निर्धारिण दो प्रकार की समालोचना के आधार पर किया जाता है–

1. एक, बाह्य समालोचना।
2. दूसरी, आन्तरिक समालोचना।

1. **बाह्य समालोचना**–साक्ष्य समालोचना के बाह्य रूप के अन्तर्गत प्रलेख अथवा अवशेष की वैधता, सत्यता अथवा शुद्धता की जांच की जाती है। इसमें शोधकर्ता को इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि "क्या यह वही है जो दिखती है अथवा जैसी मूलरूप में उत्पन्न हुई है" कहीं यह वह न होकर कोई धोखा तो नहीं है? मुख्य रूप से इसके अन्तर्गत प्रलेख अथवा अवशेष के मूल लेखक अथवा स्रोत का निर्धारण किया जाता है। वह किस युग में और कब लिखा अथवा बनाया गया, किसने बनाया, किन परिस्थितियों में बनाया गया, क्या यही इसका मूलरूप है आदि पक्षों पर साक्ष्य एकत्र करके यह निर्धारित किया जाता है कि वह मौलिक एवं प्रामाणिक है। लेखक के विषय में विशेष रूप से जांच की जाती है।

नोट

प्रलेखों एवं अवशेषों की प्रामाणिकता निर्धारित करने में इतिहास, भाषा-विज्ञान, रसायनशास्त्र, नृशास्त्र, पुरातत्व विज्ञान, साहित्य, कला, भवन-निर्माण शास्त्र आदि अनेक क्षेत्रों के अच्छे ज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें केवल यह निर्धारित अथवा सत्यापित किया जाता है कि प्रलेख अथवा अवशेष मौलिक, वास्तविक तथा प्रामाणिक हैं अथवा नहीं। उसकी विषय-वस्तु का मूल्यांकन इसके अन्तर्गत नहीं आता।

2. **आन्तरिक समालोचना**–आन्तरिक समालोचना के अन्तर्गत प्रलेख अथवा अवशेष की विषय-वस्तु (content), जो कुछ उसमें कहा गया है अथवा जिस प्रकार की जानकारी वह देता है उसका मूल्यांकन किया जाता है। वह जानकारी जो उसकी विषय-वस्तु में पाई जाती है कहाँ तक सार्थक, सही एवं विश्वसनीय है यह निर्धारित करना आन्तरिक समालोचना का उद्देश्य होता है। लेखक ने जो कुछ कहा है वह कहाँ तक वैध है, उसमें कितनी सच्चाई है, कहाँ तक वह वस्तुनिष्ठ है, कहाँ तक लेखक ने तथ्यों की सही-सही व्याख्या की है आदि कुछ ऐसी समस्याएँ होती हैं जिन पर शोधकर्ता गंभीरता से विचार करता है तथा निश्चित करता है कि प्रलेख की विषय-वस्तु कहाँ तक वैध एवं विश्वसनीय है। यह बहुत कुछ लेखक की अपनी ख्याति, पद एवं स्तर के आधार पर, लेखक के लिखने के अभिप्राय पर, परिस्थितियाँ जिनमें लिखा गया आदि के आधार पर निर्धारित किया जाता है। यदि अन्य लेखकों ने भी उसके संबंध में कुछ लिखा है तो उसे भी आधार बनाया जा सकता है।

उपकल्पनाओं का सृजन

प्रलेखों एवं अवशेषों आदि के माध्यम से जो जानकारी उपलब्ध होती है उसका विश्लेषण करके समस्यागत प्रश्नों के उत्तर अथवा समाधान खोजने होते हैं, परन्तु इससे पहले समस्त एकत्रित तथ्यों का वर्गीकरण एवं पुनर्गठन करना आवश्यक होता है। इसके लिए दिशा-बोधक संकेतक आवश्यक होते हैं। यह कार्य उपकल्पनाओं (hypotheses) के माध्यम से संभव होता है। उन एकत्र किए गए ऐतिहासिक तथ्यों एवं सम्पूर्ण जानकारी को ध्यानपूर्वक पढ़कर शोधकर्ता कुछ उपकल्पनाओं का निर्माण करता है जो समस्त एकत्रित सामग्री को विशिष्ट वर्गों में समाहित करने तथा उनके विश्लेषण के आधार पर निष्कर्षों का निष्पादन करने में शोधकर्ता की सहायता करते हैं। ऐतिहासिक अध्ययनों में भी उपकल्पना का अपना महत्त्व है, यद्यपि उनका होना अपरिहार्य नहीं है। **वान डालेन** ने इनके महत्त्व पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। **मौलि** ने भी गौण रूप में उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। ऐतिहासिक अनुसंधान की प्रक्रिया के पद-क्रम की चर्चा करते हुए पद-क्रम (step) चार में उनका यह कहना है कि "जिस किसी उपकल्पना अथवा सिद्धांत (theory) का शोध-सामग्री समर्थन करती है उसी के संदर्भ में उसका विश्लेषण किया जाना चाहिए।" उपकल्पना के महत्त्व को स्वीकार करना ही है, परन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि ऐतिहासिक अनुसंधान में उपकल्पना का होना प्रत्येक परिस्थिति में अनिवार्य है। बिना उपकल्पना के भी ये अनुसंधान सम्भव हो सकते हैं। एक बात और ध्यान में रखने की है। यदि उपकल्पनाओं का सृजन किया गया है तो उनकी जांच (testing) की विधियाँ प्रयोगात्मक अनुसंधान की विधियों से भिन्न होती हैं। इन विधियों में सांख्यिकी का प्रयोग न करके केवल उन सामग्री, सूचनाओं एवं तथ्यों का विवेचनात्मक विश्लेषण किया जाता है जो उपकल्पना का समर्थन करती हैं अथवा उसे नकारती हैं। उसी के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

ऐतिहासिक अनुसंधान का मूल्यांकन

नोट

प्राय: यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या ऐतिहासिक अनुसंधान वैज्ञानिक अनुसंधान है। कुछ लोग उसे वैज्ञानिक मानते हैं, कुछ नहीं मानते, परन्तु सभी यह स्वीकार करते हैं कि आंशिक रूप में वैज्ञानिक है। हौकेट के अनुसार, वैज्ञानिक अनुसंधान की तीन विशेषताएँ होती हैं–

(i) निरीक्षण, (ii) उपकल्पना, (iii) परीक्षण।

ये थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ ऐतिहासिक अनुसंधान में भी विद्यमान रहती हैं। कुछ विद्व ानों का मानना है कि ऐतिहासिक अनुसंधान में कारण-कार्य (cause-effect) संबंध का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अत: वह वैज्ञानिक अनुसंधान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, परन्तु बहुत से इतिहासकारों का कहना है कि इन अनुसंधानों में घटना के कारणों का भी निर्धारिण किया जा सकता है। इसी प्रकार कुछ का कहना है कि ऐतिहासिक अध्ययनों में भविष्यवाणी (prediction) सम्भव नहीं है, परन्तु कुछ इतिहासकार मानते हैं कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में पूर्वकथन अथवा भविष्यवाणी भी सम्भव है।

मौलि का मत है कि "ऐतिहासिक अनुसंधान को अवैज्ञानिक कहकर नकारना बुद्धिमानी की बात नहीं है।" उनका यह भी कहना है कि शिक्षा की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान खोजने हेतु ऐतिहासिक अनुसंधान एक परिप्रेक्ष्य (perspective), एक पृष्ठभूमि प्रदान कर सकते हैं। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर मोटे तौर से सामान्यीकरण एवं नियम-निरूपण (derivation of laws) भी संभव है। **थ्युसीडाइड्र्स** की भाँति उनका भी कहना है कि "मानव-स्वभाव के अनुरूप जो घट चुका है वह पुन: घटेगा ही।"

तो भी अनेक कारणों से ऐतिहासिक अनुसंधान को वैज्ञानिक अनुसंधान विशेषरूप से प्रयोगात्मक अनुसंधान के समकक्ष नहीं रखा जा सकता क्योंकि उनके परिणामों की विश्वसनीयता एवं वैधता असंदिग्ध नहीं हो सकती। अध्ययनों की अपनी बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं जिनको दूर करना सरल कार्य नहीं है। अत: इन अध्ययनों की सीमाओं को स्वीकार करना ही विवेकपूर्ण होगा।

3.19 प्रयोग: अर्थ एवं स्वरूप

सत्य अथवा वास्तविक प्रयोग (true experiment) केवल प्रयोगशाला में ही किया जा सकता है क्योंकि उसकी मान्य प्रक्रिया (standard procedure) का पालन करना प्रयोगशाला में ही संभव हो सकता है। शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्रों में इस मान्य प्रक्रिया का पूर्णतया पालन किया जाना संभव नहीं हो पाता क्योंकि इन क्षेत्रों में अधिकतर जिन को लेकर अध्ययन किए जाते हैं बहुत जटिल होते हैं, तथा प्रयोगशाला में उनका अध्ययन नहीं किया जा सकता।

प्रयोग का प्रमुख उद्देश्य अत्यन्त नियंत्रित परिस्थितियों में दो चरों, एक स्वतंत्र तथा दूसरा आश्रित के बीच क्रियात्मक (functional) संबंधों को ज्ञात करना होता है, अथवा यों कहें कि किसी घटना के घटने के पीछे जो परिस्थितियाँ कारक रूप में रहती हैं उनकी खोज करना प्रयोग का उद्देश्य होता है। क्या परिस्थिति 'क' परिस्थिति 'ख' का कारण है? क्या चर 'क' चर 'ख' से संबंधित है? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने हेतु प्रयोग का सहारा लिया जाता है। एक मोटे उदाहरण के लिए "क्या बालकों की बुद्धि का स्तर उनकी शैक्षिक उपलब्धि का कारण होता है?" "क्या सुबह-सुबह चाय पीने से ताजगी आती है?"

नोट

ऐसी समस्याएँ हैं जिनके समाधान प्रयोगात्मक अनुसंधान के माध्यम से ही संभव होते हैं। अत: प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत एक चर (स्वतंत्र) के दूसरे चर (आश्रित) पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन कुछ अन्य प्रमुख चरों (नियंत्रित चरों) को नियंत्रित करके किया जाता है। जहाँ यह नियंत्रण अत्यन्त कठोर होता है तथा स्वतंत्र चर को यथेच्छ प्रयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता शोधकर्ता को होती है (जैसे प्रयोगशाला में) उसे सत्य अथवा वास्तविक (True Experiment) प्रयोग कहते हैं। जैसे-जैसे यह नियंत्रण एवं स्वतंत्रता घटती जाती है, अध्ययन वास्तविक प्रयोग की स्थिति से दूर हटता जाता है। ऐसे प्रयोगों को अपूर्ण अथवा अर्धसत्य प्रयोग (quasi experiment) कहते हैं। स्नौडग्रास-बर्गर-हाइडन के अनुसार, इस दृष्टिकोण से सम्पन्न प्रयोगों में बहुत भिन्नता पाई जाती है। एक छोर पर सत्य अथवा वास्तविक प्रयोग (laboratory experiments) हैं तो दूसरे छोर पर अति अनियंत्रित सहसंबंधात्मक (correlational) एवं निरीक्षणात्मक (observational) प्रयोग। इन लेखकों के अनुसार प्रयोग की द्वितत्वी कसौटी का उल्लेख किया गया है। ये दो तत्व हैं–

(i) कम से कम दो परिस्थितियों अथवा तुलनीय समूहों का होना तथा

(ii) स्वतंत्र चर जिसके आधार पर तुलना हेतु समूह बनाए जाते हैं, के यथेच्छ प्रयोग एवं प्रहस्तन की स्वतंत्रता।

स्वतंत्र चर के यथेच्छ प्रयोग से तात्पर्य है कि शोधकर्ता अध्ययनगत किसी भी इकाई को स्वतंत्र चर-आधारित किसी भी समूह, उपचार (treatment) के अन्तर्गत रख सके। ऐसा सम्भव न होने की स्थिति में शोधकर्ता को इकाइयों के समूहों को उसी रूप में स्वीकार करना पड़ता है जिस रूप में वे वातावरण में स्थिर पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि यह अध्ययन करना है कि कैफीन का व्यक्ति की क्रियाशीलता पर क्या प्रभाव पड़ता है तो कैफीन (स्वतंत्र चर) पर हम तीन समूह बनाते हैं। एक उन व्यक्तियों का जिन्हें बहुत अधिक कैफीन दी जाती है, दूसरा जिन्हें कम तथा तीसरा जिन्हें बहुत कम कैफीन दी जाती है। फिर उनकी क्रियाशीलता का मापन करते हैं तथा उसके आधार पर तीनों समूहों की तुलना करते हैं। यदि क्रियाशीलता में भी वही क्रम मिलता है अर्थात् सबसे अधिक कैफीन वाले समूह की क्रियाशीलता कुछ कम तथा सबसे कम कैफीन वाले समूह की क्रियाशीलता सबसे कम पाई जाती है तो यह कहा जा सकता है कि कैफीन क्रियाशीलता को बढ़ाती है अर्थात् कैफीन का क्रियाशीलता पर प्रभाव पड़ता है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि शोधकर्ता को किसी भी व्यक्ति को किसी भी समूह में रखने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। वह समसंभाविक विधि (randomly) से किसी भी व्यक्ति को किसी समूह अथवा उपचार के अन्तर्गत रख सकता है। दूसरे शब्दों में, किसी भी उपचार (treatment) अथवा स्वतंत्र चर की स्थिति जिसका वह स्वयं सृजन करता है, को किसी भी अध्ययनगत इकाई (व्यक्ति) पर आरोपित कर सकता है। इसी क्रिया को स्वतंत्र चर का प्रहस्तन अथवा यथेच्छ प्रयोग (manipulation of independent variable) कहते हैं। परन्तु यदि हम व्यक्तियों की संवेगात्मक तीव्रता का उनकी क्रियाशीलता पर पड़े प्रभाव का अध्ययन करते हैं तो यह यथेच्छ प्रयोग संभव नहीं होगा क्योंकि व्यक्तियों की संवेगात्मक तीव्रता को नहीं बदला जा सकता। अत: उन्हें यथा-इच्छा किसी भी समूह में नहीं रखा जा सकता। जिसमें संवेगात्मक तीव्रता बहुत अधिक है उसे केवल बहुत तीव्रता वाले समूह में ही रखा जा सकता है, कम अथवा बहुत कम तीव्रता वाले समूह में नहीं। सत्य प्रयोग की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें स्वतंत्र चर का प्रहस्तन अथवा यथेच्छ प्रयोग सम्भव होता है जिसके द्वारा प्रयोग में नियंत्रण बढ़ता है तथा त्रुटि घटती है।

नोट

सत्य प्रयोग की उपरोक्त विशेषता के कारण उसके परिणामों की आन्तरिक वैधता (internal validity) अथवा सुतथ्यता (precision) बढ़ जाती है अर्थात् यह कहना अधिक सही होता है कि अध्ययन अथवा आश्रित चर घटना (dependent variable) उसी तत्व (independent variable) के कारण घटती है जिसके प्रभाव का अध्ययन किया जा रहा है।

परन्तु सभी परिस्थितियों में यह यथेच्छ प्रयोग संभव नहीं होता। किन्हीं परिस्थितियों में यह अव्यावहारिक एवं अनैतिक भी हो सकता है। तब शोधकर्ता के समक्ष नैसर्गिक रूप में वातावरण में स्थित (naturally occuring) समूहों को लेने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता, परन्तु इस परिस्थिति में किए गए प्रयोगों को सत्य प्रयोग न मानकर उनको अर्ध-सत्य अथवा सहसंबंधात्मक अथवा केवल निरीक्षणात्मक अध्ययनों की श्रेणी में ही रखा जाता है। उनमें केवल संबंध तो स्थापित होता है, परन्तु कार्य-कारण की स्थापना नहीं हो पाती। वास्तव में कारणान्वेषण का नियम प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता है जो मिल के "एक-चरी नियम" (law of single variable) पर आधारित होता है, जिसका अर्थ है आश्रित चर को प्रभावित करने वाले समस्त चरों को नियंत्रित करके केवल एक चर को प्रभावी अथवा क्रियाशील रहने दिया जाना। यह सही है कि इतना नियंत्रण शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्रों में किए जाने वाले प्रयोगों में सम्भव नहीं हो पाता, परन्तु इसके साथ ही यह बात भी सही है कि संबंधित तत्वों एवं चरों का प्रभाव परिणामों की शुद्धता को कुप्रभावित करता है तथा प्रयोग में त्रुटि की मात्रा को बढ़ाता है।

प्रयोगात्मक अनुसंधान के प्रकार

प्रयोग की उपरोक्त विशेषताओं एवं नियमों के दृष्टिकोण से प्रयोगात्मक अनुसंधान के निम्नलिखित भेद किए गए हैं–

1. प्रयोगशालागत प्रयोग (True Experiment)
2. क्षेत्र-प्रयोग (Field Experiment)
3. क्षेत्राध्ययन (Field Studies)
4. घटनोत्तर अध्ययन (Expost-facto studies)
5. प्रयोगात्मक सिमुलेशन (Experimental Simulation)।

उपरोक्त सभी प्रकार के अध्ययन प्रयोगात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि सभी में चरों के बीच कारण-कार्य संबंध स्थापित करना उद्देश्य रहता है, परन्तु अध्ययन कहाँ और किस प्रकार किया जाता है, इस दृष्टिकोण से उनमें परस्पर अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक की विस्तृत व्याख्या आगे की गई है।

प्रयोगशालागत प्रयोग

प्रयोगशाला में किए गए प्रयोगों के माध्यम से जो अनुसंधान किए जाते हैं, उन्हें सत्य अथवा वास्तविक (true) प्रयोगात्मक अध्ययन के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि अध्ययन की सम्पूर्ण परिस्थिति अत्यधिक नियंत्रित होती हैं। अन्य प्रयोगात्मक अध्ययनों से प्रयोगशाला में किए गए प्रयोग कई प्रकार से भिन्न होते हैं–

दूसरे इनमें स्वतंत्र चर का यथेच्छ प्रयोग, समसंभाविक विधि से इकाइयों का समूहों में विभाजन तथा उपचारों (treatments) को इकाइयों पर आरोपित करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है।

नोट

दूसरे शब्दों में, स्वतंत्र एवं आश्रित चरों के पारस्परिक संबंधों को प्रभावित करने वाले तत्वों को लगभग पूर्ण रूप से नियंत्रित करना संभव होता है। फलस्वरूप उपलब्ध परिणाम की व्याख्या का एक ही रूप रहता है कि 'क' कारण है 'ख' का। इसके अतिरिक्त यदि कोई और व्याख्या संभव होती है तो उस सीमा तक परिणाम को वैध नहीं कहा जा सकता अर्थात् यदि परिणाम ऐसा है कि 'ख' का कोई और कारण भी संदिग्ध है तो वह विश्वसनीय एवं वैध नहीं समझा जा सकता। यह एक आदर्श स्थिति है। यथार्थता यह है कि प्रयोगात्मक अध्ययनों का शत-प्रतिशत वैध होना बहुत कठिन है। कुछ न कुछ त्रुटि प्रत्येक प्रयोग में रहती ही है, परन्तु प्रयोगशाला में किए गए प्रयोग जिस बात में दूसरे प्रयोगात्मक अध्ययनों से भिन्नता रखते हैं वह है उनकी मानव-निर्मित व्यवस्था (contrived setting)। **कर्लिंगर** के अनुसार, प्रयोगशालागत प्रयोग के तीन प्रमुख लक्ष्य होते हैं–

(i) शुद्ध एवं दोषरहित परिस्थितियों में घटनाओं के बीच क्रियमाण (functional) संबंध को ज्ञात करना,

(ii) दूसरे अध्ययनों एवं सिद्धांतों के आधार पर प्रस्तावित भविष्यवाणियों का परीक्षण करना,

(iii) सिद्धांतों एवं उपकल्पनाओं की परिभाषा करना, नयी उपकल्पनाओं का सृजन करना तथा सैद्धांतिक तंत्र (theoretical system) का निर्माण करना।

प्रयोगात्मक अनुसंधान मूलत: सिद्धांत-निरूपण से संबंधित है। नवीनतम विश्वसनीय एवं वैध ज्ञान के सृजन का अत्यन्त उपयोगी एवं प्रभावशाली माध्यम है, परन्तु यह बात तभी सही होती है जब प्रयोग पूर्णतया नियंत्रित ढंग से किया जाता है जोकि प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव नहीं होता। इसीलिए कुछ प्रयोगात्मक अध्ययन अधिक विश्वसनीय एवं वैध होते हैं तथा कुछ कम।

3.20 क्षेत्र-प्रयोग

क्षेत्र प्रयोगशाला से बहुत भिन्न होता है और यह भिन्नता क्षेत्र-प्रयोग के स्वरूप को भी प्रभावित करती है। प्रयोगशाला में शोधकर्ता के लिए प्रत्येक परिस्थिति को नियंत्रित करना संभव होता है। वह जब चाहे अध्ययन की व्यवस्था में अभीष्ट परिवर्तन कर सकता है। इसके विपरीत क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है तथा उसमें अनेक तत्व, परिस्थितियाँ, चर क्रियाशील रहते हैं तथा उनको नियंत्रित कर पाना शोधकर्ता के लिए संभव नहीं होता। अनेक क्षेत्रीय शक्तियाँ (field forces) एक-दूसरे को एक साथ प्रभावित करते रहते हैं। इन्हें नियंत्रित करना तो दूर रहा यह जानना भी सरल नहीं होता कि किसी अध्ययन की स्थिति में कौन-कौन से तत्व कार्य कर रहे हैं तथा परिणामों को प्रभावित कर रहे हैं। अत: प्रयोगशाला से बाहर क्षेत्र में किए गए प्रयोग उनसे भिन्न होते हैं जो प्रयोगशाला में किए जाते हैं। इन प्रयोगों को क्षेत्र-प्रयोग कहा जाता है।

अर्थ एवं स्वरूप

इन प्रयोगों का भी तार्किक आधार तो वही होता है जो प्रयोगशालागत प्रयोगों का होता है। इनमें भी एक या दो स्वतंत्र चरों का यथेच्छ प्रयोग किया जाता है। इनमें भी शोधकर्ता स्वतंत्र चर के कई स्तर बनाकर अनुसंधानगत इकाइयों (subjects) को तदाधारित समूहों में रखकर आश्रित चर पर उनका मापन करता है तथा परिणामों की तुलना करके निष्कर्ष प्राप्त करता है। इसमें सत्य प्रयोग की भाँति तुलनीय समूह स्वतंत्र चर के विभिन्न स्तरों के आधार पर बनाए जाते हैं। अधिकतर तो यह समूह बने बनाए निश्चित रहते हैं, अर्थात् कौन इकाइयाँ किस समूह में रहेंगी, यह निश्चित

नोट

रहता है। शोधकर्ता उनका केवल चयन करता है। जैसे, अधिक बुद्धिमान तथा कम बुद्धिमान दो समूह बनाने पर अधिक बुद्धिमान बच्चे अधिक बुद्धिमान वर्ग में ही रहेंगे। शोधकर्ता को उनमें से कुछ को अध्ययन हेतु केवल चुनना भर होता है। परन्तु कुछ परिस्थितियों में समसंभाविक विधि से इच्छानुसार किसी भी समूह (उपचार) में इकाइयों का वितरण संभव होता है। इस दृष्टिकोण से क्षेत्र-प्रयोग, प्रयोगशालागत प्रयोग के समान ही होता है, परन्तु उसे वह इस दृष्टिकोण से भिन्न होता है कि उसकी व्यवस्था, प्रक्रिया को क्षेत्र के नैसर्गिक वातावरण में इकाइयों के स्वाभाविक व्यवहारों के आधार पर सम्पन्न किया जाता है। अत: क्षेत्र के वातावरण में व्याप्त बहुत-सी उन परिस्थितियों का नियंत्रण नहीं हो पाता जिससे उनके पारिवारिक वातावरण के प्रभाव का अध्ययन करना है तो पारिवारिक वातावरण (स्वतंत्र चर) के आधार पर अनुकूल एवं प्रतिकूल वातावरण में रहने वाले बालकों के दो समूह बनाए जा सकते हैं। यहाँ यह संभव नहीं है कि बालकों को समसम्भाविक विधि द्वारा (randomly) इस अथवा उस समूह में रखा जा सके। जो जिस वर्ग का है उसी में रहेगा। ये तो बालकों के नैसर्गिक समूह हैं जो पहले से विद्यमान हैं। हाँ! यह सम्भव है कि दो-तीन अन्य संबंधित (correlated) चरों पर दोनों समूहों के बालकों में समानता स्थापित कर ली जाए, परन्तु अपनी इच्छा से समूहों का निर्माण सम्भव नहीं है।

प्रयोग की विभेदक विशेषता यह है कि उसमें शोधकर्ता स्वतंत्र चर से आरंभ करके आश्रित चर की ओर जाता है, अर्थात् पहले वह स्वतंत्र चर के विभिन्न स्तर चुनकर उनके आधार पर प्रयोगाधीन समूहों का सृजन करता है। तत्पश्चात् उन समूहों के आश्रित चराधारित व्यवहारों का मापन करता है। इस दृष्टिकोण से क्षेत्र-प्रयोग तथा प्रयोगशाला में किए गए प्रयोग एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। क्षेत्र-प्रयोग में समसंभाविक विधि द्वारा स्वतंत्र चर पर इकाइयों के समूह बनाने, अर्थात् स्वतंत्र चर के यथेच्छ प्रयोग की संभावना कम होती है। साथ ही संबंधित चरों के

नियंत्रण की सम्भावना भी उसमें कम होती है। अत: प्रयोगशालागत प्रयोगों की तुलना में क्षेत्र-प्रयोगों के परिणामों की शुद्धता (precision) एवं वैधता कम होती है। अनियंत्रित चरों के प्रभाव के कारण परिणाम अधिक त्रुटिपूर्ण होते हैं। यह अन्तर इसलिए होता है कि क्षेत्र-प्रयोग प्रयोगशाला के बाहर क्षेत्र में किए जाते हैं जिसके अनेक तत्वों पर शोधकर्ता नियंत्रण नहीं कर पाता।

मूल्यांकन

यद्यपि क्षेत्र-प्रयोगों की विश्वसनीयता एवं वैधता प्रयोगशालागत प्रयोगों की तुलना में कम होती है तथा उनकी अपनी सीमाएँ हैं तो भी शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनकी उपयोगिता बहुत अधिक है। इन क्षेत्रों में जो अध्ययन किए गए हैं उनमें से अधिकतर क्षेत्र-प्रयोग ही मिलेंगे। इन क्षेत्रों में अधिकतर शोध परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें प्रयोगशालागत प्रयोग किए ही नहीं जा सकते। केवल क्षेत्र-प्रयोग ही सम्भव हैं। इसलिए इन क्षेत्रों में उनका विशेष महत्त्व है। यदि सतर्कता से मध्यवर्ती (intervening) एवं संबंधित (correlated) चरों को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाए तो उनके दोषों को बहुत हद तक कम किया जा सकता है तथा प्रयोगशालागत प्रयोगों के लगभग समकक्ष लाया जा सकता है।

क्षेत्र-प्रयोग इस दृष्टिकोण से अधिक उपयोगी होते हैं कि उनमें अध्ययनगत इकाइयों के व्यवहार नैसर्गिक होने के कारण परिणामों की बाह्य वैधता (सामान्यीकरण की व्यापकता) बढ़ जाती है जो प्रयोगशालागत प्रयोगों में अतिनियंत्रणाधीन होने एवं शोधकर्ता द्वारा उत्पन्न किए जाने के फलस्वरूप, इकाइयों के व्यवहार अस्वाभाविक होने के कारण सदैव कम रहती है।

नोट

दूसरा लाभ क्षेत्र-प्रयोगों का यह है कि उन छोटे समूहों की गत्यात्मकता एवं स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रियाओं का अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से अध्ययनन किया जा सकता है जो प्रयोगशाला के प्रयोगों में न तो सम्भव होती है और न सार्थक।

तीसरा लाभ यह है कि व्यावहारिक समस्याओं के समाधान खोजने एवं सिद्धांतों के सत्यापन हेतु ये अधिक उपयुक्त हैं। साथ ही उनकी प्रक्रिया अधिक लचीली होने के कारण बहुत से प्रकार की परिस्थितियों में उनका प्रयोग संभव है।

इन प्रयोगों के दो ही दोष हैं–एक तो इनमें स्वतंत्र चर के यथेच्छ प्रयोग (manipulation) की सम्भावना कम होती है तथा दूसरे उनमें इकाइयों को समसंभाविक विधि (randomization) द्वारा समूहों में वितरित करना भी संभव नहीं हो पाता है।

3.21 क्षेत्र-अध्ययन

क्षेत्र-अध्ययन (field studies) भी प्रयोगात्मक अनुसंधान की श्रेणी में आते हैं क्योंकि उनमें भी कारण-कार्य संबंध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु ये भी प्रयोगशाला प्रयोग (true experiment) (सत्य प्रयोग) एवं क्षेत्र प्रयोग से भिन्न होते हैं।

अर्थ एवं स्वरूप

कर्लिंगर के अनुसार, क्षेत्र-अध्ययन (field studies) घटनोत्तर अध्ययन (expost facto studies) ही हैं जिनका उद्देश्य वास्तविक सामाजिक व्यवस्था में क्रियमाण समाजशास्त्रीय, शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक चरों के बीच संबंधों तथा अन्त:क्रियाओं की खोज करना होता है। स्पष्ट है कि क्षेत्र-अध्ययन (i) घटनोत्तर अध्ययन होते हैं तथा (ii) जीवन की यथार्थ परिस्थितियों में ही अर्थात् व्यवहारों के वास्तविक परिवेश (setting) जैसे विद्यालय, परिवार, समुदाय आदि में ही उन्हें किया जाता है। व्यवहार-परिवेश में कोई हेर-फेर नहीं किया जाता है तथा अध्ययनगत व्यवहार जिनका निरीक्षण एवं मापन किया जाता है वास्तविक एवं नैसर्गिक होते हैं। उन्हें शोधकर्ता द्वारा किसी प्रक्रिया के माध्यम से उत्पन्न नहीं किया जाता। बार्कर (1965) के अनुसार, इन अध्ययनों में शोधकर्ता केवल एक हस्तक्षेपक (जतंदेकनबमत) मात्र होता है। इन अध्ययनों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनमें व्यवहार का उसी रूप में अध्ययन किया जाता है जिस रूप में वह घटित होता है। कर्लिंगर के शब्दों में, इन अध्ययनों में शोधकर्ता किसी स्वतंत्र चर का यथेच्छ प्रयोग (manipulation) नहीं करता।

क्षेत्र-अध्ययन तथा क्षेत्र-प्रयोग दोनों में तथा क्षेत्र-अध्ययन और प्रयोगशालागत प्रयोग में अन्तर यह होता है कि क्षेत्र-अध्ययन में तुलनागत समूहों का सृजन आश्रित चर के आधार पर किया जाता है जबकि अन्य दोनों में उनका सृजन स्वतंत्र चर के आधार पर किया जाता है। जैसे, यदि बुद्धि एवं शैक्षिक उपलब्धि के बीच कारण-कार्य संबंध का अध्ययन करना है तो क्षेत्र-अध्ययन में कम उपलब्धि तथा अधिक उपलब्धि वाले छात्रों के समूह बनायेंगे तथा दोनों समूहों की बुद्धि के आधार पर तुलना करेंगे। अन्य दोनों प्रकार के प्रयोगों में कम बुद्धिमान तथा अधिक बुद्धिमान दो समूह बुद्धि के आधार पर बनायेंगे और फिर उपलब्धि के आधार पर उनकी तुलना करेंगे।

काज ने इन अध्ययनों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है–

1. समन्वेषी (Exploratory) एवं
2. उपकल्पना-परीक्षक (Hypothesis testing)।

समन्वेषी अध्ययनों में "क्या है" की व्याख्या की जाती है जबकि उपकल्पना-परीक्षक अध्ययनों में चरों के पारस्परिक संबंधों को ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है। छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि की खोज, संस्थागत वातावरण को प्रभावित करने वाले तत्वों की खोज आदि उपकल्पना-परीक्षक अध्ययनों के उदाहरण हो सकते हैं।

नोट

मूल्यांकन

कर्लिंगर का मत है कि क्षेत्र-अध्ययनों में "यथार्थता, महत्त्व, चरों की सुदृढ़ता, सिद्धांतोन्मुखता एवं प्रश्नवाची विशेषता अधिक होती है।" क्योंकि ये अध्ययन जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में किए जाते हैं, अत: उनके परिणाम अन्य समान परिस्थितियों पर भी लागू माने जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से वे यथार्थता के काफी समीप माने जाते हैं। महत्त्वपूर्ण इसलिए माने जाते हैं कि उनके द्वारा अध्ययनगत घटनाओं के विषय में बहुत सारी जानकारी प्राप्त होती है जिसको लेकर बाद में बहुत-से नियंत्रणपूर्ण प्रयोग किए जा सकते हैं। चरों की सुदृढ़ता से तात्पर्य यह है कि नैसर्गिक परिवेश में वास्तविक व्यवहारों का अध्ययन होने के कारण चरों की व्यवहारों में अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट रूप से हो पाती है। प्रयोगशाला में ये व्यवहार दब जाते हैं। इनमें चरों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए, यदि हम विद्यार्थियों की उपलब्धि की प्रेरणा का मापन स्कूल में करें तो वह अधिक उभरकर आएगी। प्रयोगशाला में उसकी अभिव्यक्ति उतनी अच्छी नहीं होगी। इन अध्ययनों में केवल तथ्यों का ही संकलन नहीं होता, बल्कि सिद्धांत-निरूपण की संभावना भी पर्याप्त रहती है। प्रश्नवाची होने का अर्थ है कि इन अध्ययनों के परिणाम बहुत-से नये प्रश्नों को जन्म देते हैं, जिनके उत्तर प्राप्त करने हेतु पुन: और अध्ययन करने की आवश्यकता होती है। जैसे, यदि किसी अध्ययन में यह परिणाम निकलता है कि बालकों के आत्मबोध (self-concepts) उनके पारिवारिक परिवेश से प्रभावित होते हैं तो इससे कई नये प्रश्न उभर कर आते हैं: क्या ऐसा बालक तथा उसके माता-पिता के बीच के संबंधों के कारण होता है, क्या परिवार के बच्चों के पारस्परिक संबंधों के कारण होता है, क्या परिवार की आर्थिक-सामाजिक स्थिति इसका कारण है आदि।

इन सब सद्‌गुणों के होते हुए भी इन अध्ययनों के कुछ दोष भी हैं। वे सभी दोष जिनका उल्लेख घटनोत्तर अनुसंधान के विषय में किया गया है, क्षेत्र-अध्ययनों में भी हैं। प्रयोगशालागत प्रयोगों एवं क्षेत्र-प्रयोगों की तुलना में क्षेत्र-अध्ययनों के परिणाम कम विश्वसनीय एवं वैध होते हैं। इसका कारण यही है कि इनमें न तो स्वतंत्र चर का यथेच्छ प्रयोग होता है और न समसंभाविक विधि द्वारा निर्माण। नियंत्रण का अभाव ही इन दोषों का कारण होता है।

प्रयोगात्मक सिमुलेशन

यह भी प्रयोगात्मक अनुसंधान की एक विधि है। कुछ क्षेत्रों में इसका प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा है, परन्तु व्यवहार-विज्ञान के क्षेत्र में उसका प्रयोग अभी कुछ ही वर्षों से होना आरंभ हुआ है।

अर्थ एवं स्वरूप

इन अध्ययनों में अध्ययनगत व्यवहारों जिनमें अध्ययनगत चरों की अभिव्यक्ति होती है, के परिवेशों का अस्वाभाविक सृजन किया जाता है जो वास्तविक परिवेशों के बहुत समान होता है। जैसे, यह जानने के लिए कि कोई शिक्षण-विधि नवीं कक्षा को पढ़ाने हेतु कितनी प्रभावशाली है–छात्राध्यापक वास्तविक कक्षा में उसका प्रयोग न करके अपने साथियों को ही बैठाकर उसे कक्षा 9 ही समझकर

पढ़ाते हैं तथा कुछ दिन बाद उस शिक्षण विधि का मूल्यांकन करते हैं, यह प्रयोग सिमुलेशन प्रयोग कहलाएगा। इसमें यह आवश्यक है कि अस्वाभाविक परिस्थिति अधिक से अधिक वास्तविक परिस्थिति के समान हो।

नोट

प्रयोगशालागत अनुसंधान की भाँति सिमुलेटिड प्रयोग में भी चरों का नियंत्रण, स्वतंत्र चर का यथेच्छ प्रयोग तथा समसंभाविक विधि आदि का समावेश रहता है। प्रबंधन (management) विज्ञान के क्षेत्र में बहुत से खेलों का आविष्कार किया गया है जो प्रबंधन-विज्ञान के सूत्रों, नियमों आदि के क्रियान्वयन एवं उनकी सफलता को दर्शाने के सशक्त माध्यम हैं।

मूल्यांकन

सिमुलेटिड अनुसंधान व्यवहार-विज्ञान के क्षेत्र में अधिक प्रचलित नहीं हैं। सम्भवत: इसका कारण यह है कि व्यवहार-विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार के अध्ययनों की सम्भावना कम है तथा उनके परिणामों को वास्तविक परिस्थितियों में हस्तांतरित करने पर उनकी उपयोगिता अधिक नहीं पाई जाती है।

अन्तिम निष्कर्ष

इस अध्याय में अनुसंधान की छ: विधियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से प्रत्येक के अपने गुण-दोष हैं। यह सोचना उचित नहीं है कि यह विधि सर्वोत्तम है तथा वह विधि अनुपयुक्त है। कौन सर्वोत्तम विधि है यह अध्ययन के उद्देश्यों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है। व्यवहार-विज्ञानों से संबंधित अनुसंधानों की वास्तविकता यह है कि शोधकर्ता को उनमें सदैव शुद्धता (precision) तथा यथार्थता (realism) के बीच, आन्तरिक एवं बाह्य वैधता के बीच, नियंत्रित व्यवस्था एवं नैसर्गिक व्यवस्था के बीच समझौता करना पड़ता है। इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रतीत होता है कि क्षेत्र-अध्ययनों में सबसे अधिक यथार्थता एवं व्यवहारों की वास्तविकता रहती है। क्षेत्र-प्रयोग इनसे थोड़ा हटकर चरों के नियंत्रण एवं यथेच्छ प्रयोग की दिशा में चले जाते हैं। प्रयोगशालागत प्रयोग जैसा है उसे एवं स्वाभाविक व्यवहार-व्यवस्था को पूर्णतया नकारकर यथार्थता से बहुत दूर चले जाते हैं। सिमुलेटिड प्रयोग यथार्थता से सबसे अधिक दूर होते हैं।

प्रत्येक शोधकर्ता को एक बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिए कि "यथार्थता", "शुद्धता" एवं "सामान्यीकरण" प्रत्येक अध्ययन में अति वांछनीय हैं, परन्तु सबकी एक साथ वृद्धि संभव नहीं है। प्रयोगशालागत प्रयोगों में शुद्धता, नियंत्रण तथा यथेच्छ प्रयोग, सबसे अधिक होता है, परन्तु क्रमश: सिमुलेटिड प्रयोग, क्षेत्र-प्रयोग तथा क्षेत्र अध्ययनों में ये तीनों विशेषताएँ कम होती जाती हैं और इसके विपरीत उनमें उसी क्रम में यथार्थता तथा स्वाभाविक व्यवहार-व्यवस्था बढ़ती जाती हैं। ये तीनों विशेषताएँ शुद्धता, नियंत्रण एवं यथेच्छ प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु तीनों की एक ही अध्ययन में वांछनीय समान वृद्धि संभव नहीं हो सकतीं। इस बिन्दु पर आकर शोधकर्ता एक बड़ी विषम परिस्थिति में फंस जाता है। यदि वह एक विशेषता में वृद्धि करने का प्रयास करता है तो दूसरी स्वत: ही घटने लगती है। अत: कौन-सी सही विधि है, इस झमेले में न पड़कर उसे उस विधि को अपनाना चाहिए जो अध्ययन के उद्देश्यों एवं परिस्थितियों के संदर्भ में सबसे अच्छी हो। उसका चयन करके उसके दोषों को यथासंभव कम करके तथा उसके गुणों को सबल बनाकर उसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास करना चाहिए। अनुसंधान विधि के चयन में यही सबसे अच्छा एवं सकारात्मक दृष्टिकोण प्रतीत होता है।

3.22 केस अध्ययन विधि की परिभाषा एवं स्वरूप

नोट

सामाजिक इकाई के रूप में किसी एक व्यक्ति, एक परिवार (डिपसल), एक संस्था (institution), एक समुदाय (community) घटना, नीति (policy), संगठन आदि को लिया जा सकता है। स्पष्ट रूप में, केस अध्ययन विधि में जो केस होता है उसका तात्पर्य ऐसी प्रक्रिया या घटना से होता है जिसका एक आबद्ध संदर्भ (bounded context) होता है अर्थात् केस में सम्मिलित की गयी घटना या इकाई की अपनी चहारदीवारी होती है। इसी अर्थ में **पी.वी. यंग** (P.V. Young, 1974) ने केस अध्ययन विधि (case study methods) को इस प्रकार परिभाषित किया है, "केस अध्ययन एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा सामाजिक इकाई की जीवनी का अन्वेषण तथा विश्लेषण किया जा सकता है।" **गुडे** तथा **हाट** (Goode and Hatt, 1987) ने भी केस अध्ययन विधि के बारे में बतलाते हुए कहा है कि यह एक ऐसी विधि है जिसके सहारे किसी भी सामाजिक इकाई (soical unit) का अध्ययन पूर्णरूपेण (as a whole) किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इस विधि में किसी सामाजिक इकाई जो एक व्यक्ति हो सकता है या कोई अन्य सामाजिक समूह (social group) भी हो सकता है, के एकात्मक स्वरूप (unitary character) को बरकरार रखते हुए उसका अध्ययन किया जाता है। **गुडे** तथा **हाट** (Goode and Hatt, 1989) के शब्दों में केस अध्ययन विधि को इस प्रकार परिभाषित किया है, "केस अध्ययन सामाजिक आंकड़ों को संगठित करने का एक तरीका है ताकि अध्ययन किये जाने वाले सामाजिक वस्तु के एकात्मक स्वरूप को बनाए रखा जा सके। थोड़े भिन्न ढंग से इसकी अभिव्यक्ति करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा उपागम (approach) है जिसमें किसी भी सामाजिक इकाई को पूर्णरूपेण (as a whole) ढंग से देखा जाता है। करीब-करीब हमेशा ही इस उपागम में इकाई जो एक व्यक्ति, एक परिवार या अन्य सामाजिक समूह प्रक्रियाओं या संबंधों का एक सेट या सम्पूर्ण संस्कृति भी हो सकता है, का विकास सम्मिलित होता है।"

थियोडोरसन एवं **थियोडोरसन** (Theodorson and Theodorson, 1969) ने केस अध्ययन को इस प्रकार परिभाषित किया–

"केस अध्ययन किसी वैयक्तिक केस के गहन विश्लेषण के माध्यम से सामाजिक घटना के अध्ययन की विधि है। केस कोई एक व्यक्ति, एक समूह, एक घटना, एक प्रक्रिया, एक समुदाय, एक समाज या सामाजिक जिंदगी की कोई अन्य इकाई हो सकता है। यह बहुत सारे विशिष्ट विवरण के गहन विश्लेषण करने का अवसर प्रदान करता है जिसकी अन्य विधियों में प्रायः उपेक्षा की जाती है।"

यिन (Yin, 1984) ने केस अध्ययन को परिभाषित करते हुए कहा है–"यह एक आनुभविक जाँच है जो एक वास्तविक जिंदगी के संदर्भ में समकालीन घटनाओं का अन्वेषण तब करता है जब घटना तथा संदर्भ के बीच सीमा स्पष्ट नहीं होती है तथा जिसमें सबूत के बहुत सारे स्रोतों का उपयोग किया जाता है।"

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें केस अध्ययन विधि के स्वरूप के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता चलता है जिसका वर्णन निम्नांकित है–

(i) केस अध्ययन विधि में किसी सामाजिक इकाई (social unity) के विकासात्मक घटनाओं (developmental events) का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, केस अध्ययन में सामाजिक इकाई का अध्ययन उसके विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (historical background) में किया जाता है।

नोट

(ii) सामाजिक इकाई (social unit) के रूप में एक व्यक्ति विशेष का भी अध्ययन किया जा सकता है या अन्य सामाजिक समूह (social group) जैसे, परिवार या किसी संस्कृति (culture) का भी अध्ययन किया जा सकता है।

(iii) केस अध्ययन विधि का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें सामाजिक इकाई (social unit) के एकात्मक स्वरूप (unitary character) को टूटने नहीं दिया जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि अध्ययन किया जाने वाला सामाजिक इकाई (social unit) को सम्पूर्ण रूप से (as a whole) अध्ययन करने की कोशिश की जाती है।

उदाहरण यदि किसी परिवार (family) को एक सामाजिक इकाई के रूप में अध्ययन करने का निश्चय किया गया है तो उस परिवार के ऐतिहासिक घटनाचक्रों का ब्योरा तैयार करके परिवार को विभिन्न उप-इकाई (sub-units) में न बाँटकर उसका सम्पूर्ण रूप से (as a whole) अध्ययन करने की कोशिश की जाती है।

(iv) केस अध्ययन विधि में अध्ययन के लिए चुने गए सामाजिक इकाई (social unit) के क्या (What?) तथा क्यों (Why ?) दोनों पक्षों का अध्ययन किया जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि इस विधि में शोधकर्ता सामाजिक इकाई (social unit) के जटिल व्यवहारपरक पैटर्न (complex behavioural pattern) की व्याख्या तो करता ही है साथ-ही-साथ वह उन कारकों का भी पता लगाता है जिनसे इस तरह के जटिल व्यवहारपरक पैटर्न की उत्पत्ति हुई होती है। दूसरे शब्दों में, वह सामाजिक इकाई का वर्णन (description) तथा व्याख्या (explanation) दोनों ही करता है।

3.23 केस अध्ययन की प्रमुख विशेषताएँ

केस अध्ययन की चार प्रमुख विशेषताएँ बतलाई गई हैं। पुंक (च्नदबीए 2004) के अनुसार वे चार विशेषताएँ निम्नांकित हैं–

1. **केस अध्ययन एक सीमाबद्ध विधि होती है** (Case studies are bounded system) –केस अध्ययन एक सीमाबद्ध विधि होती है क्योंकि इसमें जिस केस का विश्लेषण किया जाता है उसकी सीमाएँ (boundaries) होती हैं। यिन (Yin, 1984) के अनुसार, संदर्भ (context) तथा केस (बेंम) के बीच की सीमा हमेशा स्पष्ट नहीं होती है परन्तु इस सीमा की वास्तविकता निश्चित रूप से होती है। शोधकर्ता विशेष प्रयास करके केस की सीमा की पहचान करता है तथा उसका वर्णन करता है।
2. **केस अध्ययन में केस कुछ का केस होता है** (In case study case is a case of something)–केस अध्ययन में शोधकर्ता को यह पहचान करना होता है कि यह केस किस चीज का केस है क्योंकि इससे उसे विश्लेषण की इकाई के बारे में निर्धारण करने में सुविधा होती है।
3. **केस अध्ययन में केस की सम्पूर्णता, एकता तथा अखंडता को बचाकर रखने का स्पष्ट प्रयास किया जाता है।** (There is an obvious attempt to preserve the wholeness, unity and integrity of the case)–केस अध्ययन के एक केस की सम्पूर्णता, एकता तथा उसके अखंडता को बनाकर रखते हुए उसका अध्ययन किया जाता है। चूँकि शोध कर्ता यह जानते हैं कि एक ही केस के प्रत्येक चीज का अध्ययन संभव नहीं है इसलिए

वे केस के कुछ पहलुओं पर विशिष्ट ध्यान इस प्रकार देते हैं कि उसकी अखंडता पर कोई आँच न आये।

4. **केस अध्ययन में आंकड़ों के बहुत सारे स्रोतों को तथा बहुत सारे आंकड़े संग्रहण विधियों का उपयोग किया जाता है** (In case studies multiple sources of data multiple data collection methods are used)–विशेषकर स्वाभाविक परिस्थितियों (दंजनतंस `मजजपदहे) में किये जाने वाले केस अध्ययन में आंकड़े के भिन्न-भिन्न स्रोतों तथा आंकड़े संग्रहण की भिन्न-भिन्न विधियों का उपयोग होता है। बहुत से केस अध्ययनों में प्रेक्षण, साक्षात्कार, शाब्दिक रिपोर्ट आदि द्वारा आंकड़ें संग्रह किये जा सकते हैं जबकि प्रश्नावली तथा संख्यात्मक आंकड़ों (numerical data) का भी उपयोग किया जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ है कि केस अध्ययन को हमेशा एक गुणात्मक प्रविधि (qualitative technique) मानना उचित नहीं है हालांकि अधिकतर केस अध्ययन गुणात्मक ही होते हैं।

स्पष्ट है कि केस अध्ययन की कुछ स्पष्ट विशेषताएँ हैं जो इसे अन्य विधियों से सार्थक रूप से भिन्न करता है।

नोट

3.24 केस अध्ययन विधि के प्रकार

केस अध्ययन विधि में शोधकर्ता किसी स्वतंत्र चर (independent variable) में जोड़-तोड़ कर उसके प्रभाव का अध्ययन नहीं करता है बल्कि वह सिर्फ उन अवस्थाओं (conditions) का अवलोकन करता है जो वर्तमान समय या बीते हुए समय में उपस्थित रहकर अध्ययन किये जाने वाले सामाजिक इकाई (social unit) में परिवर्तन लाता है। व्यवहारपरक वैज्ञानिकों (behavioural scientists) ने केस अध्ययन (case study) के मुख्य दो उप प्रकार बतलाए हैं जो निम्नांकित हैं–

(क) अपसरित केस विश्लेषण (Deviant case analysis) तथा

(ख) पृथक् नैदानिक केस विश्लेषण (Isolated clinical case analysis)

इन दोनों का वर्णन इस प्रकार है–

(क) अपसरित केस विश्लेषण (Deviant case analysis)–केस अध्ययन (case study) के इस प्रकार (type) में शोधकर्ता (researcher) एक ही साथ दो ऐसे केसेज (cases) को लेता है जिसमें काफी समानता (similarities) होते हुए भी भिन्नता (difference) होती है। जैसे, शोधकर्ता यदि एक समरूप जुड़वाँ युग्म (one identical twin pair) जिसमें से एक सामान्य (normal) है तथा दूसरा मनोविदालिता (schizophrenia) से ग्रसित है, का अध्ययन करता है तो यह अपसरित केस विश्लेषण (deviant case analysis method) का एक अच्छा उदाहरण होगा। इस उदाहरण में दोनों बच्चे चूँकि समरूप जुड़वाँ (identical twin) हैं, इसलिए उनमें काफी अधिक समानता (similarity) है परन्तु फिर भी इन दोनों में भिन्नता (differences) है–एक मानसिक रोग से ग्रसित है तथा दूसरा सामान्य (normal) है। शोधकर्ता इन दोनों बच्चों का तुलनात्मक अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश करेगा कि वे कौन-कौन से कारक हैं जिनके कारण इन दोनों समरूप जुड़वाँ बच्चों में इस तरह की भिन्नता (differences) हुई। इस तरह का केस विश्लेषण वारविक एवं ओशरसन (Warwick and Osherson, 1973) द्वारा काफी किया गया है।

नोट

(ख) पृथक् नैदानिक केस विश्लेषण (Isolated clinical case analysis)– इस प्रकार के केस विश्लेषण विधि में शोधकर्ता वैयक्तिक इकाइयों (individual units) का विश्लेषण उसके विश्लेषणात्मक समस्याओं (analytical problems) के आलोक में करता है। इस ढंग के केस अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा किसी व्यक्ति के बीते हुए दिनों के घटनाचक्रों का विस्तृत विश्लेषण किया जाता है और उसके आधार पर एक अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। इस विधि का प्रयोग मनोविश्लेषण (Psychoanalysi) में सर्वाधिक होता है। फ्रायड द्वारा अध्ययन किया मशहूर हंस केस (Hans case) इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। फ्रायड ने मानव आत्मिक अनुक्रिया सिद्धांत (Theory of human psychic response) का प्रतिपादन अनेक पृथक् नैदानिक केसेज (isolated clinical case) के विश्लेषण से उत्पन्न तथ्यों के आधार पर किया है। अभी हाल में **विक्सेन** (Wixen, 1973) ने एक अध्ययन पृथक् नैदानिक केस विश्लेषण द्वारा किया जिसमें 'ब्रीवर' (Brewer) नामक एक बच्चा जो काफीधनी माता-पिता की संतान था, का विश्लेषण किया गया। इस अध्ययन के आधार पर **विक्सेन** (Wixen) धनी परिवार के बच्चों की विशिष्ट समस्याओं से अवगत हुए और उन समस्याओं के समाधान करने के संभावित एवं उपयुक्त उपायों की भी खोज की।

केस अध्ययन विधि (case study method) के दोनों प्रकार काफी लोकप्रिय (popular) हैं। अन्तर इतना ही है कि पृथक् नैदानिक केस विश्लेषण (isolated clinical case analysis) का प्रयोग नैदानिक परिस्थितियों (clinical situation) में अधिक होता है जबकि अपसरित केस विश्लेषण (deviant case analysis) का प्रयोग सामान्य अवस्थाओं में अधिक होता है।

स्टेक (Stake, 1994) ने भी अपने ही द्वारा की गयी समीक्षा के आधार पर बतलाया है कि केस अध्ययन विधि में चूँकि कई प्रकार के केस होते हैं, अत: केस अध्ययन भी कई तरह के हो सकते हैं। उन्होंने निम्नांकित तीन तरह के अध्ययन का वर्णन किया है।

(क) आंतरिक केस अध्ययन (Internal Case Study)– यह ऐसा केस अध्ययन होता है जहाँ शोधकर्ता इसलिए अध्ययन प्रारंभ करता है क्योंकि वह (लक्ष्य) केस के बारे में गहराई से जानना चाहता है।

(ख) साधनात्मक केस अध्ययन (Instrumental Case Study)– यह ऐसा केस अध्ययन होता है जहाँ शोधकर्ता किसी विशेष केस का अध्ययन इसलिए करता है क्योंकि उससे समस्या को समझने में विशेष सूझ उत्पन्न होती है या किसी सिद्धांत को परिष्कृत (refine) करने में मदद मिलती है।

(ग) सामूहिक केस अध्ययन (Collective Case Study)– यह एक ऐसा केस अध्ययन होता है जहाँ शोधकर्ता साधनात्मक केस अध्ययन का विस्तार कई केसेज का अध्ययन करने के लिए करता है तथा जिसमें घटना, सामान्य अवस्था तथा जीव संख्या (population) के बारे में अधिक कुछ सीखने का प्रयास किया जाता है।

3.25 केस अध्ययन विधि की पूर्वकल्पनाएँ

केस अध्ययन विधि की कुछ पूर्वकल्पनाएँ (Pre-assumptions) होती हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं–

(i) इस विधि की एक पूर्वकल्पना यह है कि मानव प्रकृति (human nature) में एकरूपता (uniformity) दहोती है हालांकि यह भी सच है कि मानव व्यवहार परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

(ii) इस विधि की दूसरी पूर्वकल्पना यह होती है कि इसमें संबंधित इकाई स्वाभाविक इतिहास पर आधारित होती है।

(iii) इस विधि में संबंधित इकाई का विस्तृत अध्ययन संभव हो पाता है। इससे स्पष्ट है कि केस अध्ययन विधि की कुछ अपनी पूर्वकल्पनाएँ हैं।

नोट

3.26 केस अध्ययन विधि के लाभ एवं दोष

केस अध्ययन विधि का प्रयोग मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शिक्षा में काफी किया गया है। इस विधि के कुछ लाभ (advantages) तथा इसमें कुछ खामियाँ (disadvantges) भी पाये गए हैं। इस विधि के प्रमुख लाभ (advantages) निम्नांकित हैं–

(i) केस अध्ययन विधि में दो विभिन्न केसेज (cases) को लेकर उनका तुलनात्मक अध्ययन (comparative study) किया जा सकता है।

(ii) केस अध्ययन विधि द्वारा अध्ययन के लिए चयन किये गए केस (case) का गहन रूप से (intensive) अध्ययन संभव है क्योंकि इसमें एक समय में किसी एक केस या सामाजिक इकाई (social unit) का ही अध्ययन किया जा सकता है।

(iii) केस अध्ययन विधि द्वारा किसी प्राक्कल्पना (hypothesis) के निर्माण में काफी मदद मिलती है। **गुडे** तथा **हाट** (Goode and Hatt, 1987) का मत है कि केस अध्ययन विधि से प्राप्त तथ्यों को शोधकर्ता विश्वास के साथ सामान्यीकृत (generalize) तो नहीं कर पाता है। परन्तु इन तथ्यों के आधार पर वह आसानी से कुछ प्राक्कल्पनाओं (hypotheses) का सृजन कर पाता है जिसे इस विधि का एक महत्त्वपूर्ण लाभ माना जा सकता है।

(iv) केस अध्ययन विधि एक ऐसी विधि है जिससे प्राप्त तथ्यों के आधार पर भविष्य में किये जाने वाले अध्ययनों में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को पहले से ही आँका जा सकता है तथा उसे दूर करने के उपायों का वर्णन किया जा सकता है।

(v) इस विधि में चूँकि सामाजिक इकाई का गहन अध्ययन किया जाता है, इसलिए इसमें संबंधित इकाई के व्यवहारपरक पैटर्न को पूर्णरूप से समझने में मदद मिलती है। इस बिन्दु पर **कूले** (Cooley, 1992) ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि केस अध्ययन संबंधित इकाई के परीक्षण में गहराई पैदा कर देता है और उसके जीवन इतिहास के बारे में एक स्पष्ट सूझ उत्पन्न करता है। इसमें इकाई के व्यवहारों का अध्ययन प्रत्यक्ष रूप से होता है।

(vi) यह विधि सामाजिक इकाई के स्वाभाविक इतिहास (natural history) के बारे में जानने में मदद करने के साथ-ही-साथ इसका संबंध वातावरण के अन्य सामाजिक कारकों से भी स्थापित करने में मदद करती है।

(vii) केस अध्ययन विधि में शोधकर्ता द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर संबंधित कार्य के लिए प्रश्नावली या अनुसूची (schedules) बनाने में मदद मिलती है।

(viii) परिस्थिति की जरूरत के अनुरूप इस विधि में शोधकर्ता केस अध्ययन विधि में कई शोध प्रविधियों का उपयोग आसानी से कर लेता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि इस विधि में अन्य विधियों जैसे गहन साक्षात्कार (deep interview), प्रश्नावली, अनुसूची का उपयोग संभव है।

नोट

(xi) केस अध्ययन विधि से शोधकर्ता की अनुभूतियाँ मजबूत होती हैं और इससे फिर उसमें परिस्थिति को समझने एवं विश्लेषण करने की क्षमता और भी अधिक तीक्ष्ण होती है।

(x) केस अध्ययन विधि में चिकित्सीय एवं प्रशासनिक उद्देश्य (therapeutic and administrative purposes) को अति महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। केस अध्ययन के आधार पर नैदानिक मनोवैज्ञानिक को चिकित्सा संबंधी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने में सुविधा होती है तथा प्रबंध कीय एवं प्रशासनिक दृष्टिकोण से भी केस अध्ययन शोधकर्ता को इकाई की व्यावहारिक समस्याओं को समझने में मदद करता है।

इन लाभों के बावजूद केस अध्ययन विधि में कुछ खामियाँ भी हैं जो निम्नांकित हैं–

(i) केस अध्ययन विधि में आत्मनिष्ठ (subjectivity) अधिक पाई जाती है जिसका प्रतिकूल प्रभाव अध्ययन के निष्कर्ष पर पड़ता है। इस विधि में शोधकर्ता (researcher) तथा अध्ययन के लिए चुने गए सामाजिक इकाई (social unit) में अधिक घनिष्ठता (intimacy) तथा सौहार्द (rapport) स्थापित हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि शोधकर्ता सामाजिक इकाई से प्राप्त तथ्य का सही-सही वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन (subjective evaluation) नहीं कर पाता है।

(ii) केस अध्ययन विधि में शोधकर्ता में निश्चितता का मिथ्या भाव (false sense) उत्पन्न हो जाता है। शोधकर्ता अपने निष्कर्ष के बारे में इतना विश्वस्त हो जाता है कि वह अपने अध्ययन में सम्मिलित केसेज का प्रतिनिधि (representative) मानकर एक खास तरह के परिणाम के बारे में पूर्णत: निश्चित हो जाता है। इस तरह की निश्चितता का कुप्रभाव यह होता है कि शोधकर्ता शोध डिजाइन (research design) के मूलभूत नियमों (basic principles) की पूर्णत: उपेक्षा (ignore) कर बैठता है। गुडे तथा हाट (Goode & Hatt, 1987) ने इस अवगुण पर टिप्पणी करते हुए कहा है, "शोधकर्ता अपने निष्कर्ष के बारे में अनिश्चितता का एक मिथ्या भाव विकसित कर लेता है। इस भाव के परिणाम कई होते हैं परन्तु उनमें से अधिकतर को एक ही मुख्य शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है: शोध डिजाइन के मूलभूत नियमों की उपेक्षा करने का प्रलोभन।"

(iii) केस अध्ययन विधि में शोधकर्ता पर पूर्ण जवाबदेही इस बात की भी दी जाती है कि वह किसी सामाजिक इकाई (social unit) जैसे व्यक्ति या परिवार के इतिहास (case history) को तैयार करे। ऐसा करने के लिए वह काफी प्रयास कर सामाजिक इकाई के बारे में बहुत सारी सूचनाओं की तैयारी करता है तथा उनका विश्लेषण करता है। उनके द्वारा दी गयी सूचनाओं की वैधता (validity) की जाँच करने का कोई तरीका इस विधि में नहीं बतलाया गया है। वह जो कुछ भी सूचना प्रदान करता है, उसे मान लेने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता है। अत: आलोचकों ने केस अध्ययन विधि को एक पूर्ण वैज्ञानिक विधि नहीं माना है।

(iv) केस अध्ययन विधि द्वारा अध्ययन में समय काफी लगता है। शोधकर्ता को प्रत्येक केस के बारे में विस्तृत रूप से सूचनाएँ तैयार करना होता है। सच पूछा जाए तो शोधकर्ता को केस के सभी पहलुओं अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्य को ध्यान में रखते हुए उनका इतिहास तैयार करना होता है, इसलिए यह काफी समय लेने वाली विधि होती है। साथ-ही-साथ यह विधि एक खर्चीली विधि (costly method) भी है क्योंकि इसमें धन की बर्बादी भी कम नहीं होती है।

नोट

(v) केस अध्ययन विधि में चूँकि शोधकर्ता व्यक्ति से उनके गत अनुभूतियों एवं घटनाओं के बारे में पूछकर एक इतिहास (history) तैयार करता है (जिसका बाद में विश्लेषण कर किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाता है) अत: इस बात की संभावना काफी अधिक बनी हुई रहती है कि व्यक्ति अपनी गत अनुभूतियों का विशेषकर उन अनुभूतियों का जो काफी समय पहले घटित घटनाओं पर आधारित है, ठीक-ठीक बतला न पाये। ऐसी परिस्थिति में इस विधि द्वारा प्राप्त सूचनाएँ बहुत अर्थपूर्ण नहीं रह जातीं।

(vi) केस अध्ययन विधि में शोधकर्ता किसी एक केस (case) का अध्ययन कर निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच जाना चाहता है। अक्सर देखा गया है कि मात्र किसी एक केस (case) अध्ययन के आधार पर लिया गया निष्कर्ष सही नहीं होता है। अगर वह निष्कर्ष संबंधित केस के लिए सही भी हो जाए तो इस बात की कोई गारंटी नहीं रहती कि उसे अन्य समान व्यक्तियों या सामाजिक इकाइयों के लिए भी सही माना जा सकता है।

(vii) केस अध्ययन कई पूर्वकल्पनाओं (Pre-assumptions) पर आधारित होते हैं जो कभी-कभी वास्तविकता की कसौटी पर सही नहीं उतरते हैं। परिणामस्वरूप केस अध्ययन विधि से प्राप्त आँकड़े हमेशा शक के घेरे में होते हैं।

(viii) केस अध्ययन का उपयोग सीमित क्षेत्र (limited sphere) में होता है। इसे बड़े समूह या समाज के अध्ययन में उपयोग नहीं किया जा सकता है। इस विधि में प्रतिदर्शन (sampling) का भी उपयोग संभव नहीं है। दसावधाानी केस अध्ययन विधि से प्राप्त आँकड़े संदूषित हो सकते हैं क्योंकि इसमें प्रयोज्य (subject) वही कहता है या लिखता है जिसे शोधकर्ता चाहता है। इससे स्पष्ट है कि केस अध्ययन विधि में कई खामियाँ हैं। इन खामियों के बावजूद केस अध्ययन विधि का प्रयोग व्यवहारपरक विज्ञान (behavioural sciences) के शोध में काफी हो रहा है।

3.27 केस अध्ययन, एकाकी-प्रयोज्य प्रयोग तथा केस इतिहास में अंतर

केस अध्ययन में, जैसा कि हम जानते है, किसी एक केस का जो कोई एक व्यक्ति भी हो सकता है या परिस्थिति का भी, गहराई से अध्ययन किया जाता है। केस अध्ययन के समान एकाकी प्रयोज्य प्रयोग (single subject experiment) में भी एक ही व्यक्ति पर अध्ययन किया जाता है। परंतु इन दोनों में अंतर है जो निम्नांकित हैं–

(i) केस अध्ययन एक अप्रयोगात्मक शोध (non-experimental research) है जबकि एकाकी प्रयोज्य एक प्रयोगात्मक शोध होता है।

(ii) केस अध्ययन में स्वतंत्र चरों का जोड़-तोड़ (manipulation) नहीं किया जाता है जबकि एकाकी प्रयोज्य प्रयोग में स्वतंत्र चरों में जोड़-तोड़ स्पष्ट रूप से किया जाता है।

कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा केस अध्ययन तथा इससे मिलते-जुलते एक अन्य शोध अध्ययन विधि जिसे केस इतिहास (case history) कहा जाता है, में भी अंतर किया गया है। केस अध्ययन में वैज्ञानिकों द्वारा एक अग्रदर्शी (perspective) एवं अनुदैर्ध्य (longitudinal) दृष्टिकोण अपनाया जाता है जबकि केस इतिहास में एक अनुदर्शी (retrospective) एवं पुरालेखीय (archival) दृष्टिकोण अपनाया जाता है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि केस अध्ययन में शोधकर्ता चुने गये केस का गहन अध्ययन आने वाले भिन्न-भिन्न समय अंतरालों (time Interval) पर करके किसी निष्कर्ष

पर पहुँचता है जबकि केस इतिहास में शोधकर्ता चुने गये केस के बीते व्यवहारों, घटनाओं या उसके बारे में विभिन्न स्रोतों जैसे–स्कूल, अस्पताल, सरकारी या गैर-सरकारी एजेन्सियों आदि में लिखित अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है।

नोट

3.28 केस अध्ययन विधि के दोषों को दूर करने के उपाय

केस अध्ययन विधि में कई तरह के दोष हैं। स्वभावतः यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि क्या इन दोषों को दूर नहीं किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर शोध वैज्ञानिकों (researh scientists) ने सकारात्मक रूप से देने की कोशिश की है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार केस अध्ययन विधि के कम-से-कम कुछ प्रमुख दोषों को तो निश्चितरूप से दूर किया जा सकता है।

(i) कुछ वैज्ञानिकों का जिनमें एरोन्सन (Aronson, 1980)] **गुडे** तथा **हाट** (Goode & Hatt,1987) प्रमुख हैं, का मत है कि शोधकर्ता को इस विधि द्वारा अध्ययन करने में एक प्रतिदर्श (sample) का निष्पक्ष चयन लेना कर चाहिए न कि सिर्फ किसी एक केस (case) का गहन अध्ययन कर अपने आपको संतुष्ट कर लेना चाहिए। ऐसा करने से केस अध्ययन विधि की अधिकतर शिकायतें अपने आप दूर हो जाएँगी। जैसे, उपयुक्त प्रतिदर्श के चयन के बाद शोधकर्ता द्वारा गलत निर्णय पर पहुँचने की संभावना समाप्त हो जाएगी, उसके द्वारा सूचना भी अधिक वैध (valid) एवं विश्वसनीय (reliable) होगी तथा अध्ययन किये जाने वाले, व्यक्ति द्वारा अपनी गत अनुभूतियों का अनुपयुक्त प्रत्याह्वान (inappropriate recall) संबंधी भूल आदि में काफी कमी आ जाएगी। प्रतिदर्श का चयन कर अध्ययन करने से शोधकर्ता को समय की भी बचत कुछ हद तक हो सकती है।

(ii) **प्रतिदर्श को जीवसंख्या का प्रतिनिधिक बनाना** (To make sample representative of population)–शोधकर्ता को चाहिए कि केस अध्ययन विधि में जब वह एक प्रतिदर्श का चयन कर रहा हो, तो प्रतिदर्श जीवसंख्या का सही-सही प्रतिनिधित्व करता हो।

(iii) **सूचनाओं का वस्तुनिष्ठ कोडिंग करना** (To code the information objectively)– यदि शोधकर्ता केस अध्ययन विधि से प्राप्त आँकड़ों की एक वस्तुनिष्ठ कोडिंग करता है, तो इससे सूचनाओं में किसी तरह के हेर-फेर करने की संभावना समाप्त हो जाती है और तब उसका उचित सांख्यिकीय विश्लेषण भी आसानी से हो पाता है।

(iv) **शोधकर्ता को विशिष्ट प्रशिक्षण देना** (To provide specific training to the researchers) –केस अध्ययन विधि को उन्नत बनाने का एक तरीका यह भी है कि शोधकर्ता, जो इस विधि द्वारा अध्ययन करने वाले हैं, को विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित किया जाए। प्रशिक्षित शोधकर्ता के होने पर निश्चित रूप से इस विधि से प्राप्त आंकड़ों की विश्वसनीयता तथा वैधता काफी बढ़ जायेगी।

इससे स्पष्ट है कि केस अध्ययन विधि को आवश्यकतानुसार उन्नत बनाया जा सकता है।

3.29 प्रजातिलेखन क्षेत्र-कार्य

प्रजातिलेखन क्षेत्र-कार्य (field work) के माध्यम से मानव सामाजिक घटना और समुदायों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। इसमें आमतौर पर प्रजातिलेखक (ethnographer) उन लोगों के बीच साधारण जीवन की तरह रहता है और उन समुदायों का क्षेत्र-कार्य (field work) के माध्यम से

नोट

अध्ययन करता है तथा उन्हीं समुदायों के ऐसे व्यक्तियों को भी साथ में रखता है जो सही जानकारी एकत्र कर सकें। इस प्रजातिलेखन का समय आमतौर पर एक वर्ष या इससे अधिक भी हो सकता है या कभी-कभी यह कार्य बहुत लंबे समय तक भी चल सकता है। इसमें प्रजातिलेखक क्षेत्र-कार्य (field work) की समाप्ति पर अपने अनुभवों के बारे में लिखता है। यह लेखन दैनिक जीवन की एक सूची होती है जिसमें एक घटना की चर्चा के साथ-साथ, कई अनुष्ठानों, घटनाओं का एक वर्गीकरण (assortment) भी शामिल है।

एक नृवंश विज्ञानशास्त्री पूरे मानवीय अनुभवों का अध्ययन करता है प्रजातिलेखन सांस्कृतिक मानवशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। कुछ मानवशास्त्री दूसरे व्यक्ति को कार्य-क्षेत्र में भेजकर अनुसंधान कराता है। कुछ विज्ञापन एजेंसियाँ भी, प्रजातिलेखक के कार्यों का उपयोग करती है, इस संदर्भ में कि उस क्षेत्र की जनसंख्या या समुदाय के लिए किस तरह का विज्ञापन अधिक प्रभावी होगा।

व्यक्ति, जो इस क्षेत्र में कैरियर बनाना चाहते हैं उन्हें सबसे पहले सांस्कृतिक मानवशास्त्र का अध्ययन करना पड़ेगा। अगर संभव हो, ऐसे बच्चों को स्कूल के द्वारा कराए जाने वाले क्षेत्रीय कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित करना चाहिए। एक अच्छा प्रजातिलेखक सांख्यिकीय गणना में कुशल होता है। तुरंत किसी स्थिति को नए भाषा में लिखने की क्षमता होनी चाहिए। सबसे अधिक उसमें अवलोकन और नामावली (Cataloging) तथा भाषा को समझकर लिखने की कुशलता सुदृढ़ होनी चाहिए।

एक नृवंश विज्ञानशास्त्री ऐसा व्यक्ति होता है जो मानव संस्कृति और समाज के बारे में डाटा का रिकार्ड इकट्ठा करता है। विभिन्न प्रकार की अनुसंधान विधियाँ हैं जो सामाजिक अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रीय डिजाईन या दृश्य को कई उप-श्रेणियों के लिए लागू किया जा सकता है। एक नृवंशविज्ञानशास्त्री भूगोल, शिक्षा, भाषाविज्ञान, अर्थशास्त्र और सामाजिक कार्य के रूप में विभिन्न क्षेत्रों के लिए काम करते हैं। समाज को बेहतर ढंग से समझने के लिए नृवंश विज्ञानशास्त्री का इस्तेमाल किया जा सकता है।

क्षेत्रीय नृवंशविज्ञानी इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। कुछ प्रजातिलेखक फीटर बैंड मेथड का प्रयोग करते हैं। वे विभिन्न स्थानों में घूम-घूम कर व्यक्ति के साथ अंत:क्रिया करते हैं और उनके विचारों को रिकार्ड करते हैं। वे किसी विशिष्ट शहरों या जगहों पर जाकर सरकारी नीतियों का उन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है इसका भी अध्ययन करते हैं।

नृवंशविज्ञान विधि का प्रयोग मुख्यतया तो मानवशास्त्रियों द्वारा किया जाता है लेकिन अक्सर समाजशास्त्री भी इसका प्रयोग करते हैं। इस विधि का प्रयोग मुख्यतया सांस्कृतिक अध्ययन, अर्थशास्त्र, सामाजिक कार्य, शिक्षा, लोककथाओं, धार्मिक अध्ययन, भूगोल, इतिहास, भाषा विज्ञान, संचार अध्ययन, प्रदर्शन का अध्ययन, विज्ञापन, मनोविज्ञान, अपराध आदि क्षेत्रों के लिए किया जाता है।

सामान्यतया नृवंशविज्ञान पद्धति का मूल्यांकन दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप में नहीं किया जाना चाहिए। वास्तव में, यह सामाजिक जीवन के किसी टुकड़े या छोटे भाग के बारे में हमारी समझ को विकसित करने में योगदान करता है। यह हमारे सौंदर्यशास्त्र को समृद्ध करता है। इसमें अध्ययनकर्त्ता की जागरूकता अत्यधिक होनी चाहिए क्योंकि स्वयं के बारे में निर्णय करने के संबंध जोखिम अत्यधिक रहता है इसलिए किसी भी संस्कृतिक या विषय का अध्ययन करते समय स्वयं को मूल्य-निरपेक्ष रखना चाहिए। नृवंशविज्ञान की जाँच करने की प्रकृति की माँग है कि अनुसंधान के क्षेत्र में गुणात्मक एवं मात्रात्मक दृष्टिकोण से औपचारिक एवं आदर्शवादी नियम या नैतिकता को

समय के साथ अनुकूलित किया जाए। इस पूरी प्रक्रिया में नैतिक दुविधाएँ मौजूद रहती है। भ्रामक व्यावसायिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने और संभवत: अधिक तीखे परिणामों से बचने की आवश्यकता है।

नृवंश विज्ञानी की स्वभावगत विशेषताएँ अनुसंधान के मूल्य को प्रभावित करती हैं, इसलिए सैंपलिंग डाटा को डिजाइन, अवलोकन एवं रिकार्ड करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का पालन किया जाना चाहिए।

नोट

- किसी भी समूह का अध्ययन करते समय उसके प्रतीकात्मक अर्थ एवं बातचीत के पैटर्न को आपस में जोड़कर देखना चाहिए।
- किसी भी तथ्य का निरीक्षण विषय केंद्रित दृष्टिकोण से करना चाहिए। वास्तविकता की दैनिक क्रियाकलापों एवं वैज्ञानिक धारणा के बीच अंतर बनाए रखना चाहिए।
- समूह के प्रतीक एवं उसके अर्थ का सामाजिक संबंधों के साथ संबंध स्थापित कराने की कोशिश करनी चाहिए।
- समूह या समुदाय के सभी सदस्यों के व्यवहारों का रिकॉर्ड रखना चाहिए।
- अध्ययन की प्रक्रिया में परिवर्तन एवं स्थिरता के विभिन्न चरणों को स्पष्ट करना चाहिए।
- प्रतीकात्मक कार्यों को अन्त: क्रिया का ही एक भाग माना जाना चाहिए।
- आकस्मिक स्पष्टीकरण से बचने के लिए अवधारणाओं का उपयोग करना चाहिए।

3.30 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की परिभाषा व अर्थ

1. **श्रीमती पी० वी० यंग** (Pauline V. Young)–"वैयक्तिक जीवन अध्ययन किसी सामाजिक इकाई–चाहे वह एक व्यक्ति, एक परिवार, संस्था, सांस्कृतिक वर्ग अथवा समस्त समुदाय हो–के जीवन के अनुसंधान व विश्लेषण करने की पद्धति को कहते हैं।"
2. **सर्वश्री गुडे तथा हाट** (Goode and Hatt)–"यह सामाजिक तथ्यों को संगठित करने का एक ऐसा तरीका है जिससे अध्ययन किए जाने वाले सामाजिक विषय के एकात्मक स्वभाव की रक्षा हो सके। थोड़े भिन्न रूप से यह एक पद्धति है जिसमें सामाजिक इकाई को समग्र रूप में देखा जाता है।"
3. **सर्वश्री बीसेंज और बीसेंज** (Biesanz and Biesanz)–"वैयक्तिक अध्ययन गुणात्मक विश्लेषण का वह रूप है जिसमें व्यक्ति, परिस्थिति अथवा संस्था का अत्यंत सावधानीपूर्वक पूर्ण निरीक्षण किया जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति सामाजिक अध्ययन की वह पद्धति है जिसमें अनुसंधानकर्ता किसी इकाई (व्यक्ति, परिस्थिति, समुदाय, संस्था आदि) का अध्ययन सभी प्राप्त स्रोतों के आधार पर इतनी गहनता व समीपता से करता है कि विषय का आंतरिक ज्ञान संभव हो पाता है।

3.31 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की विशेषताएँ

उपरोक्त वर्णित परिभाषाओं के आधार पर इस पद्धति की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है–

1. **अनुसंधान का आधार व्यक्तिगत** (Individual Basis of Research)–इस पद्धति में अनुसंधानकर्ता एक ही इकाई को लेकर उसका अध्ययन करता है। कहने का अभिप्राय

यह है कि अध्ययन की यह इकाई व्यक्ति, संस्था, परिस्थिति, जाति समुदाय आदि कुछ भी हो सकती है लेकिन इसका अध्ययन व्यक्तिगत या एक इकाई के रूप में ही किया जाता है। इस प्रकार इस पद्धति में अनुसंधान का आधार व्यक्तिगत होता है।

नोट

2. **गहन अध्ययन** (Intensive Study)–इस पद्धति में समस्या से संबंधित इकाई का गहन अध्ययन किया जाता है। इस गहन अध्ययन में कितना ही समय लग सकता है और यह एक लंबे समय तक चल सकता है। इस प्रकार इस पद्धति के द्वारा गहन-से-गहन सूचनाएँ संकलित की जाती हैं।
3. **पूर्ण अध्ययन** (Whole Study)–यह पद्धति किसी भी सामाजिक इकाई का समग्र या पूर्ण रूप से अध्ययन करती है। समग्रता या पूर्णता का अभिप्राय यही है कि इकाई के जीवन का अध्ययन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक, धार्मिक, प्राणिशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक आदि सभी दृष्टियों से संपन्न किया जाता है। इस संबंध में सर्वश्री गुडे एवं हाट ने ठीक ही लिखा है, "इस विधि में सामाजिक इकाई को समग्र रूप में देखा जाता है। (It is an approach which views any social unit as a whole.)"
4. **गुणात्मक अध्ययन** (Qualitative Study)–इस पद्धति में गुणात्मक अध्ययन किया जाता है–वास्तव में इकाइयों का अध्ययन ही गुणात्मक होता है और तथ्यों का विश्लेषण भी संख्याओं के रूप में नहीं होता है। सच तो यह है कि इस पद्धति में एक कहानी के रूप में विस्तृत जीवन-इतिहास तैयार किया जाता है।

वैयक्तिक जीवन अध्ययनों की कार्य-प्रणाली

वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति में व्यक्तिगत स्थिति का सर्वांगीण अध्ययन हर संभव उपाय द्वारा किया जाता है। वास्तव में यह सार्वांगीण अध्ययन काफी कठिन है फिर भी इसे व्यवस्थित क्रम में संपन्न करने के लिए निम्न कार्य-प्रणाली को अपनाया जाता है–

1. **समस्या की व्याख्या** (Statement of the problem)–वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति को प्रयोग में लाने के लिए सबसे पहले अध्ययन-साध्य समस्या के विभिन्न पहलुओं की विवेचना या व्याख्या कर देना आवश्यक है ताकि संपूर्ण अध्ययन के लिए भूत एवं वर्तमान की सभी सूचनाएँ संकलित की जा सकें। इस स्तर पर निम्न बातों का निश्चय करना आवश्यक है–
   - **(अ) वैयक्तिक विषयों का चुनाव** (Selection of Cases)–इसमें 'वैयक्तिक विषय' के चुनाव का निश्चय करना होता है ताकि समस्या पर प्रकाश पड़ सके। समस्या के अनुसार यह 'वैयक्तिक विषय' साधारण, सामान्य या विशिष्ट कोई भी हो सकता है।
   - **(ब) इकाइयों के प्रकार** (Types of Units)–इसमें यह निश्चय करना होता है कि किस प्रकार की इकाई का अध्ययन करना है। क्या अध्ययन व्यक्ति का है, जाति का है, संस्था अथवा समुदाय का है? इसका निश्चय करना उचित व आवश्यक है।
   - **(स) वैयक्तिक स्थितियों की संख्या** (Number of Cases)–इकाइयों के प्रकार के निश्चय के बाद अध्ययन की जाने वाली उचित वैयक्तिक स्थितियों की संख्या का निश्चय कर लेना भी ठीक व आवश्यक है।
   - **(द) विश्लेषण का क्षेत्र** (Field of Analysis)–इसमें यह निश्चय करना होता है कि वर्तमान अध्ययन में किन-किन पहलुओं पर प्रकाश डाला जाना आवश्यक है।

नोट

2. **घटनाओं के क्रम का वर्णन** (Description of the course of events)–समय की व्याख्या कर लेने के बाद समस्या के स्वरूप में एक निश्चित काल में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं तथा भविष्य में क्या-क्या परिवर्तन सम्भावित है, इसका व्यवस्थित वर्णन करना भी आवश्यक है।
3. **निर्धारक कारक** (Determinant factors)–इस स्तर पर उन निर्धारक कारकों का अध्ययन करना आवश्यक होता है जिनके कारण यह घटना या समस्या घटी है। उदाहरणार्थ, एक बाल-अपराधी का जीवन-वृत्तांत जान लेने के बाद उन मूल कारणों को भी जान लेना आवश्यक है जिनके आधार पर अमुक बच्चा बाल-अपराधी बना है।
4. **संबंधित प्रभावी कारक** (Related influential Factors)–निर्धारक कारकों के अतिरिक्त अन्य संबंधित प्रभावी कारकों का भी पता लगाना आवश्यक रहता है, क्योंकि ये प्रभावी कारक भी घटना के स्वरूप को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करते हैं। वस्तुतः अध्ययन की पूर्णता की दृष्टि से यह आवश्यक है।
5. **विश्लेषण एवं मूल्यांकन** (Analysis and Evaluation)–इस स्तर पर प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करके मूल्यांकन अथवा निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

वैयक्तिक जीवन अध्ययन की कार्य-प्रणाली की यही संक्षिप्त रूपरेखा है।

3.32 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति के प्रकार

वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति को दो भागों में बाँटा जा सकता है। निम्न रेखाचित्र से इनके बारे में स्पष्ट हो जायेगा–

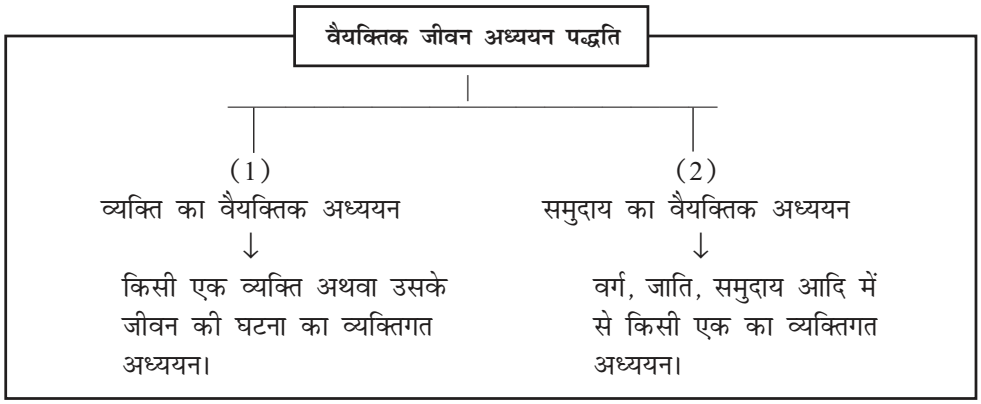

किसी एक व्यक्ति अथवा उसके वर्ग, जाति, समुदाय आदि में जीवन की घटना का व्यक्तिगत से किसी एक का व्यक्तिगत अध्ययन।

वैयक्तिक जीवन अध्ययन के सूचना-स्त्रोत

वैयक्तिक जीवन अध्ययन के सूचना स्त्रोतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(अ) लिखित या द्वैतीयक सामग्री। (ब) संकलित या प्राथमिक सामग्री।

(अ) लिखित सामग्री–लिखित सामग्री आत्मकथा-डायरी, जीवन-इतिहास, पत्रों, साहित्यिक रचनाओं, लेख आदि के रूप में होती है। इनके द्वारा वैयक्तिक जीवन अध्ययन के बारे में काफी मसाला (matter) मिल जाता है। डायरियाँ व्यक्तियों द्वारा स्वयं लिखी जाती हैं।

नोट

इसमें व्यक्ति अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण व प्रभावी घटनाओं, संस्मरणों आदि को स्वयं लिखते हैं। आलपोर्ट (Allport) का कहना है, "डायरियाँ स्वयं प्रकाशित रिकार्ड होते हैं जो जानबूझकर या अनायास ही लेखक के मानसिक जीवन की गतिशीलता का वर्णन करते हैं।" पत्रों के द्वारा यों तो व्यवस्थित सामग्री प्राप्त नहीं हो पाती परंतु फिर भी कुछ मामलों पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाती है जिसके अन्य स्त्रोतों से मिलने की संभावना नहीं होती है। जीवन-इतिहास में व्यक्ति के संपूर्ण जीवन का चित्रण होता है। अत: इस दृष्टि से जीवन-इतिहास का इस पद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(ब) **संकलित सामग्री**–कभी-कभी सूचनाओं को विशेष तौर पर संकलित भी करना पड़ता है। ऐसी सूचनाओं को संबंधित व्यक्ति से साक्षात्कार या प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा संकलित किया जा सकता है। किस स्त्रोत से कौन-सी सूचना प्राप्त की जाए इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। आवश्यकता अनुसार किसी भी स्त्रोत का प्रयोग किया जा सकता है।

3.33 वैयक्तिक अध्ययन में ध्यान रखने योग्य सावधानियाँ

वैयक्तिक जीवन अध्ययन में निम्न सावधानियाँ रखनी चाहिएँ–

1. व्यक्ति का अध्ययन उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में होना चाहिए।
2. व्यक्ति के जीवन में परिवार और अन्य प्राथमिक समूहों के महत्त्व को नहीं भुलाया जाना चाहिए।
3. व्यक्ति के बारे में ऐसे तथ्यों को जानने का प्रयास करना चाहिए जिनसे व्यक्ति के संपूर्ण जीवन के बारे में वर्णन किया जा सके।
4. व्यक्ति के जीवन की घटनाओं को यथार्थ रूप में चित्रित किया जाना चाहिए।
5. संबंधित भौगेलिक क्षेत्र से ही व्यक्तियों को अध्ययन के लिए चुना जाना चाहिए।
6. प्रशिक्षित व्यक्ति को ही इस अध्ययन का इंचार्ज बनाना चाहिए।

3.34 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की उपयोगिता या महत्त्व

वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की उपयोगिता या महत्त्व निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा–

1. **समस्या का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन** (Intensive and microscopic study of the problem)–यद्यपि इस पद्धति द्वारा सीमित वैयक्तिक स्थितियों (Cases) का ही अध्ययन हो पाता है परंतु उनका विभिन्न दृष्टिकोणों से संपूर्ण, गहन एंव सूक्ष्म अध्ययन करना इस पद्धति का ही कार्य है।
2. **विशिष्ट पहलुओं का अध्ययन** (Study of unique aspects)–डायरी, जीवन-इतिहास, पत्रों, साक्षात्कार, निरीक्षण आदि स्त्रोतों के द्वारा व्यक्तिगत स्थितियों के विशिष्ट पहलुओं का अध्ययन इस पद्धति के द्वारा संभव है।
3. **सामूहिक लक्षणों का अध्ययन** (Study of group characteristics)–विभिन्न वैयक्तिक स्थितियों (पदकपअपकनंस बेंमे) का अध्ययन करके और प्राप्त तथ्यों को सम्मिलित करके संपूर्ण समूह के सामूहिक लक्षणों के बारे में सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है।
4. **अनुसंधानकर्ता के अनुभवों का स्त्रोत** (Source of experience for social investigator) –इस पद्धति में अनुसंधानकर्ता को अनुभवों का एक विस्तृत क्षेत्र प्राप्त होता है क्योंकि

नोट

इसमें सामाजिक इकाई के बारे में सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलू का अध्ययन किया जाता है और इसी रूप में अनुसंधानकर्ता को स्वत: ही अनेकों प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं जो संभवतया अन्य पद्धतियों में संभव नहीं है। इस प्रकार अनुसंधानकर्ता अपने अनुभवों का लाभ आगे के अध्ययनों के अनुसंधानों में उठा सकता है।

5. **जीवन के प्रभावी कारकों का अध्ययन** (Study of dominant factors in life)–गहन व सूक्ष्म अध्ययन होने के कारण अध्ययन के दौरान ये तथ्य भी सामने आ जाते हैं या स्पष्ट हो जाते हैं कि व्यक्ति या केस की क्रियाओं में कौन-कौन-से प्रभावी या निर्धारक कारक हैं।
6. **व्यक्तिगत भावनाओं तथा मनोवृत्तियों का अध्ययन** (Study of personal feelings and attitudes)–सूक्ष्म, गुणात्मक व गहन अध्ययन की पद्धति होने के कारण व्यक्ति की भावनाओं, मूल्यों व मनोवृत्तियों का अध्ययन भी स्वत: होता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति की भावनाओं, मूल्यों आदि की प्रवृत्ति को जानकर सामाजिक परिवर्तन का अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में सामाजिक अनुसंधान में भावनाओं व मनोवृत्तियों का अध्ययन काफी सहायक होता है।
7. **सांख्यिकीय अध्ययन का प्राथमिक रूप** (Primary form of statistical study)–वैयक्तिक जीवन अध्ययन एक प्रकार से सांख्यिकीय अध्ययन का प्राथमिक रूप है। सामाजिक इकाइयों का वैयक्तिक अध्ययन करके आगे होने वाले सांख्यिकीय अध्ययनों के लिए आधार प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि इसके अनुभव के आधार पर सांख्यिकीय अध्ययन को अधिक व्यवस्थित बनाया जा सकता है।
8. **सामग्री की संपूर्णता** (Completeness of the material)–इस पद्धति द्वारा प्राप्त सामग्री अपने-आप में संपूर्ण होती है। इतनी संपूर्णता व पर्याप्त मात्रा में सामग्री प्राप्त करना अन्य पद्धतियों द्वारा संभव नहीं है। यह इस पद्धति की अनुपम उपयोगिता ही है।
9. **प्रश्नावली, अनुसूची व अन्य प्रपत्रों को बनाने में सहायक** (Helpful in the perparation of questionnaire, schedule and other forms)–वैयक्तिक अध्ययन के द्वारा महत्त्वपूर्ण बातों पर सूचनाएँ प्राप्त होती हैं और इन प्राप्त सूचनाओं व अनुभवों के आधार पर प्रश्नावली, अनुसूची व अन्य प्रपत्रों को व्यवस्थित ढंग से तैयार किया जा सकता है।
10. **वर्गीकृत सैम्पल निकालने में सुविधा** (Easy in finding group sample)–इस पद्धति द्वारा समूह की विभिन्न इकाइयों के गुणों का पता लग जाता है और इसके आधार पर इकाइयों को विभिन्न समूहों में वर्गीकृत व विभाजित करना सरल होता है। इतना हो जाने पर वर्गीकृत सैम्पल का सुविधापूर्वक पता लगाया जा सकता है।
11. **उपकल्पनाओं का स्त्रोत** (Source of Hypothesis)–अनेक इकाइयों के गहन, विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है अर्थात् सामान्यीकरण (generalisation) किया जा सकता है। इन्हीं निष्कर्षों के आधार पर भविष्य में होने वाले अनुसंधान के लिए महत्त्वपूर्ण उपकल्पनाओं का निर्माण किया जा सकता है।

वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति की सीमाएँ

सामाजिक अनुसंधान के क्षेत्र में वैयक्तिक जीवन अध्ययन की काफी उपयोगिता व महत्त्व है, फिर भी इस पद्धति की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। ये सीमाएँ, दोष या कमियाँ निम्न प्रकार हैं–

नोट

1. **केवल कुछ इकाइयों के आधार पर ही निष्कर्ष** (Conclusion on the basis of few units)–इस पद्धति की सबसे बड़ी सीमा यह है कि इसमें कुछ ही इकाइयों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस प्रकार प्राप्त निष्कर्षों को सभी इकाइयों पर लागू करना धोखे के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।
2. **दोषपूर्ण रिकार्ड** (Defective records)–इस पद्धति के अध्ययन में पूर्व रिकार्डों पर अधिक बल दिया जाता है लेकिन साधारणतया पूर्व रिकार्डों का यथार्थ व ठीक होना संदेहजनक रहता है।
3. **अवैज्ञानिक एवं असंगठित पद्धति** (Unscientific and unorganised Method)–इस विधि में इकाइयों के चुनाव व सूचना-संकलन करने पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता और न ही किसी वैज्ञानिक व संगठित पद्धति का सहारा लिया जाता है। इस दृष्टि से यह अवैज्ञानिक व असंगठित पद्धति है।
4. **पक्षपात की संभावना** (Possibility of bias)–इस पद्धति की एक सीमा यह भी है कि अनुसंधानकर्ता द्वारा उन्हीं घटनाओं का अध्ययन किये जाने के कारण, जो स्वयं उसके जीवन में आती हैं, पक्षपात आने की संभावना बनी रहती है।
5. **सैम्पल विधि पर आधारित नहीं** (Not based on sampling method)–इस पद्धति में केवल कुछ चुनी हुई इकाइयों का अध्ययन किया जाता है लेकिन इन चुनी हुई इकाइयों का चुनाव सैम्पल विधि पर आधारित नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधिपूर्ण इकाइयों का अध्ययन नहीं हो पाता है।
6. **अप्रामाणिक तथ्य** (Unverified facts)–इस पद्धति में अनुसंधानकर्ता एक व्यक्ति के जीवन से संबंधित जो भी सूचनाएँ या सामग्री संकलित करता है उनका प्रमाणीकरण इसलिए संभव नहीं है क्योंकि अन्य व्यक्ति के जीवन में जिसका कि वह अध्ययन कर रहा होता है, वही घटनाएँ व परिस्थितियाँ घटित नहीं होती हैं। इस प्रकार अप्रामाणिक निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।
7. **अधिक समय व धन** (More time and money)–इस पद्धति में कुछ व्यक्तिगत स्थितियों (individual cases) या व्यक्तियों के अध्ययन में काफी समय लगता है। इतना ही नहीं, समय के साथ-साथ होने वाला व्यय भी अधिक होता है। इसलिए यह विधि अत्यधिक खर्चीली व समय लेने वाली है।
8. **सीमित अध्ययन** (Limited study)–अत्यधिक समय व धन लगने के बावजूद भी इस विधि द्वारा सीमित इकाइयों का केवल गुणात्मक अध्ययन ही हो पाता है। इस दृष्टि से यह सीमित अध्ययन वाली पद्धति है।
9. **दोषपूर्ण जीवन-इतिहास** (Defective life history)–जीवन-इतिहास इस विधि में सूचना-संकलन के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं लेकिन जीवन-इतिहास भी कभी-कभी दोषपूर्ण व अवैज्ञानिक होते हैं। व्यक्तियों द्वारा स्वयं लिखे जाने के कारण घटनाओं को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा जाता है और साधारणतया व्यक्ति अपनी पसंद की घटनाओं को लिखता है। ऐसी स्थिति में सामान्यीकरण व निष्कर्ष में अवैज्ञानिकता का समावेश होना स्वाभाविक है।

नोट

10. **श्री रीड बेन** (Read bain)–ने वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति के निम्न दोष बताये हैं–

(अ) यह घटना के बारे में अवैयक्तिक, सर्वमान्य नैतिक आधार से युक्त अव्यावहारिक, आवृत्तियुक्त सूचना नहीं देती है।

(ब) संबंधित व्यक्ति सही सूचना देने के स्थान पर वह सूचना दे देता है जो उसकी समझ में अनुसंधानकर्ता चाहता है।

(स) उत्तरदाता तथ्य बतलाने के स्थान पर आत्मसमर्थन की ओर विशेष तौर से प्रवृत्त हो सकता है।

(द) लोगों की साहित्यिक भावना उन्हें तथ्यों को अतिरंजित करके वास्तविक तथ्यों को छोड़ देने तथा काल्पनिक तथ्यों को सम्मिलित करने के लिए प्रेरित कर सकती है।

(य) इसके आंकड़े प्रायः तुलनात्मक नहीं होते।

3.35 मूल्यांकन

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक अनुसंधान में वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है लेकिन इस महत्त्वपूर्ण स्थान के साथ-साथ इस पद्धति की अपनी कुछ सीमाएँ व दोष भी हैं। सीमाओं या दोषों को अनुभवी व कुशल अनुसंधानकर्ता काफी सीमा तक दूर भी कर सकता है। सर्वश्री रोजर्स (Carl Rogers), मेयो (Elton Mayo), कोमारोवस्की (Mirra Komarovsky), किन्से (Kinsey), डोलार्ड (Dollard) आदि विद्वानों ने इस पद्धति में संबंधित आंकड़ों के संकलन, संपादन विधियों, लेखन आदि में अनेकों महत्त्वपूर्ण सुधार किये हैं और इस विधि में निरंतर सुधार हो रहे हैं।

अपने देश में इस पद्धति के दोषों को देखकर प्रायः अनुसंधानकर्ता इस पद्धति को अपनाने में हिचकिचाते हैं। वास्तव में यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है क्योंकि इसके दोषों को काफी सीमा तक प्रशिक्षित, कुशल एवं अनुभवी अनुसंधानकर्ताओं द्वारा दूर किया जा सकता है। कुछ भी हो, इसे सामाजिक अनुसंधान की एक पद्धति के रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि सामाजिक घटनाओं की गुणात्मक पद्धति को देखते हुए, गहन व सूक्ष्म अध्ययन करने वाली यही एकमात्र प्रणाली है। अतः यह कहना ही अधिक उपयुक्त है–"वैयक्तिक अध्ययन पद्धति के विरोध में चाहे कुछ भी कहा गया हो, पर यह सत्य है कि सामाजिक वातावरण के अध्ययन में यह प्रणाली आधारभूत रहेगी।"

3.36 सारांश

शिक्षा-अनुसंधान के उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि शैक्षिक अनुसंधानों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। प्रमुख वर्गीकरण के मानदण्ड अधोलिखित हैं–योगदान की दृष्टि से, शोध-आयाम की दृष्टि से शोध निष्कर्ष की शुद्धता की दृष्टि से। शिक्षा-अनुसंधान का प्रमुख कार्य शिक्षा की प्रक्रिया में सुधार तथा विकास करना है। यह कार्य ज्ञान के प्रसार से किया जाता है। क्रियात्मक अनुसंधान की संकल्पना केवल कोरे की है तथा उसकी उत्पत्ति 1953 में लिखी गई उनकी पुस्तक "एक्शन रिसर्च टू इम्प्रूव स्कूल प्रैक्टिस" (1953) से ही मानी जाती है।

मौलि के शब्दों में, क्रियात्मक अनुसंधान एक तत्स्थान (वद जीम ेचवज) अध्ययन है जिसका उद्देश्य किसी तात्कालिक समस्या का समाधान खोजना होता है अर्थात् यह एक ऐसा अनुसंधान है जो वहीं किया जाता है जहाँ वास्तव में समस्या उत्पन्न हुई है।

नोट

प्रत्येक क्षेत्र में अनुसंधान का विशिष्ट स्थान है। वर्तमान एवं पुरातन ज्ञान के परीक्षण, सत्यापन एवं मूल्यांकन का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम है। साथ ही नवीन ज्ञान के सृजन का भी सशक्त आधार है। अनेक ज्ञान-क्षेत्रों की सीमाओं का उसमें अतिक्रमण एवं समावेश होता है। उनके समाधान हेतु अनेक प्रकार की अनुसंधान विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग उसके क्षेत्र में किया जाता है। अधिकांश लेखकों ने जिस वर्गीकरण को अपनाया है उसी को इसमें भी अपनाया गया है। यह वर्गीकरण है–1. मूलभूत एवं व्यावहारिक अध्ययन 2. वर्णनात्मक अनुसंधान (क) सर्वेक्षण (ख) अन्तर्संबंधात्मक अध्ययन (ग) विकासात्मक अध्ययन 3. ऐतिहासिक अध्ययन 4. प्रयोगात्मक अनुसंधान।

अनुसंधान का यह सबसे अधिक प्रचलित प्रकार है। शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रत्येक तीसरे अध्ययन को वर्णनात्मक अनुसंधान की श्रेणी में रखा जा सकता है। वर्णनात्मक अनुसंधान प्रमुख रूप से घटना, परिस्थिति, संस्था अथवा किसी विशेषता का केवल वर्णन मात्र करता है। शोध पूरा होने के पश्चात् वह इनके विषय में केवल इस बात की व्याख्या करता है कि "वह क्या है?" वर्णनात्मक अनुसंधान के प्रकार– वान डालेन ने इस अनुसंधान के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। ये हैं– (क) सर्वेक्षण अध्ययन, (ख) अन्तर्संबंधात्मक अध्ययन, (ग) विकासात्मक अध्ययन।

वर्णनात्मक अनुसंधान का तीसरा प्रकार विकासात्मक अध्ययन है। इस प्रकार के अध्ययनों का उद्देश्य होता है यह जानना कि किसी निश्चित अथवा निर्धारित समय के अन्तराल में किसी व्यक्ति, संस्था अथवा सामाजिक प्रक्रिया के विकास में कितना और किस प्रकार का परिवर्तन आया है। विकासात्मक अध्ययन भी दो प्रकार के होते हैं–अनुप्रस्थ-छेदीय (cross-sectional) तथा अन्वायामी (longitudinal)। दोनों प्रकार के विकासात्मक अध्ययनों में कौन अधिक अच्छा अथवा उपयोगी है, यह कहना कठिन है। प्रत्येक के अपने गुण-दोष हैं।

घटनोत्तर अनुसंधान (ex-post facto research) एक ऐसा अध्ययन है जिसमें स्वतंत्र एवं आश्रित चरों के बीच कार्य-कारण संबंध की स्थापना की जाती है। अत: इसे भी प्रयोगात्मक अनुसंधान की श्रेणी में रखा गया है।

केस अध्ययन विधि एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा सामाजिक इकाई की जीवनी का अन्वेषण तथा विश्लेषण किया जाता है। अत: यह कहा जा सकता है कि केस अध्ययन किसी वैयक्तिक केस के गहन विश्लेषण के माध्यम से सामाजिक घटना के अध्ययन की विधि है।

केस अध्ययन की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं–केस अध्ययन एक सीमाबद्ध विधि होती है, केस अध्ययन में केस कुछ का केस होता है, केस अध्ययन में केस की सम्पूर्णता, एकता तथा अखंडता को बनाकर रखने का प्रयास किया जाता है तथा केस अध्ययन में आँकड़े संग्रहण विधियों का उपयोग किया जाता है। केस अध्ययन विधि के कई प्रकार हैं–जिसमें अपसरित केस विश्लेषण (deviant case analysis) तथा पृथक् नैदानिक केस विश्लेषण (Isolated clinical case analysis) प्रमुख हैं। केस अध्ययन विधि कुछ पूर्वकल्पनाओं (Pre-assumpting) पर आधारित होते हैं जिसमें तीन प्रमुख हैं। केस अध्ययन विधि के कुछ लाभ एवं दोष हैं। केस अध्ययन विधि तथा केस इतिहास (case history) विधि में अंतर है। केस अध्ययन विधि एकाकी प्रयोज्य प्रयोग (single-subject experience) से भी भिन्न है।

प्रजातिलेखन क्षेत्र-कार्य (field work) के माध्यम से मानव सामाजिक घटना और समुदायों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। सामान्यतया नृवंशविज्ञान पद्धति का मूल्यांकन दार्शनिक दृष्टिकोण के

रूप में नहीं किया जाना चाहिए। भ्रामक व्यावसायिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने और संभवत: अधिक तीखे परिणामों से बचने की आवश्यकता है।

नोट

3.37 अभ्यास-प्रश्न

1. क्रियात्मक अनुसंधान तथा उसकी संकल्पना से आप क्या समझते हैं?
2. क्रियात्मक अनुसंधान की विशेषताओं का वर्णन करें।
3. क्रियात्मक अनुसंधान की उपयोगिता से आप क्या समझते हैं?
4. क्रियात्मक अनुसंधान की सीमाओं का वर्णन करें।
5. अनुसंधान विधियों का वर्गीकरण करें तथा इसमें प्रयुक्त होने वाली मुख्य विधियाँ कौन-कौन सी हैं?
6. मूलभूत एवं व्यावहारिक अुनसंधान विधियों का वर्णन करें।
7. वर्णनात्मक अनुसंधान से आप क्या समझते हैं? इसके प्रकारों का वर्णन करें।
8. अंतर्संबंधात्मक अध्ययन का विस्तृत वर्णन करें।
9. कारणवाची तुलनात्मक अध्ययन पर निबंधात्मक टिप्पणी लिखें।
10. एकक वृत्त अध्ययन से आप क्या समझते हैं?
11. विकासात्मक अनुसंधान से आप क्या समझते हैं?
12. घटनोत्तर अनुसंधान पर प्रकाश डालें।
13. घटनोत्तर अनुसंधान का मूल्यांकन करें।
14. ऐतिहासिक अनुसंधान के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी प्रक्रिया का वर्णन करें।
15. ऐतिहासिक अनुसंधान की प्रमुख विधि 'साक्ष्य-समालोचना' का वर्णन करें।
16. ऐतिहासिक अनुसंधान का मूल्यांकन करें।
17. प्रयोगात्मक अनुसंधान से आप क्या समझते हैं तथा ये कितने प्रकार के होते हैं?
18. क्षेत्र प्रयोग से आप क्या समझते हैं? वर्णन करें।
19. क्षेत्र अध्ययन पर प्रकाश डालें।
20. प्रयोगात्मक सिमुलेशन पर टिप्पणी लिखें।
21. केस अध्ययन विधि की परिभाषा तथा स्वरूप का वर्णन करें।
22. केस अध्ययन विधि की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
23. केस अध्ययन विधि के प्रकारों का वर्णन करें।
24. केस अध्ययन विधि से होने वाले लाभ एवं दोषों का वर्णन करें।
25. केस अध्ययन विधि क्या है? इस विधि के दोषों को दूर करने के कौन-कौन से उपाय हैं? वर्णन करें।
26. प्रजातिलेखन के विषय में क्या जानते हैं? वर्णन करें।
27. नृवंशविज्ञानशास्त्री सबसे पहले किन-किन चीजों के डाटा का रिकार्ड इकट्ठा करता है?

28. वास्तविकता की दैनिक क्रियाकलापों एवं वैज्ञानिक धारणा के बीच क्या अंतर पाया जाता है?
29 वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति का क्या अर्थ है?
30. वैयक्तिक जीवन अध्ययन के सूचना के स्रोत कौन-कौन से हैं?
31. वैयक्तिक जीवन अध्ययन के लिए किस कार्यप्रणाली को अपनाया जाता है?

नोट

3.38 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक तकनीकी–एस.एस. माथुर, भट्ट ब्रदर्स।
- शैक्षिक तकनीकी प्रबंध एवं मूल्यांकन–जे.सी. अग्रवाल, भट्ट ब्रदर्स।
- शिक्षा तकनीकी–आर.ए. शर्मा, भट्ट ब्रदर्स।
- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल. कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- सामाजिक शोध व सांख्यिकी–रवीन्द्रनाथ मुखर्जी

नोट

अध्याय-4

अनुसंधान समस्या और परिकल्पना

(Structure)

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 समस्या का चयन, कथन एवं परिभाषीकरण
4.4 समस्या-चयन की प्रक्रिया
4.5 चयनित समस्या का मूल्यांकन
4.6 समस्या-कथन
4.7 समस्या का विश्लेषण एवं उसका परिभाषीकरण
4.8 समस्या के स्रोत
4.9 समष्टि की संकल्पना
4.10 न्यादर्श
4.11 न्यादर्श-प्रतिचयन की प्रक्रिया
4.12 न्यादर्श-प्रतिचयन की तकनीक अथवा विधियाँ
4.13 संभाविता प्रतिचयन विधि
4.14 संभाविता प्रतिचयन विधि के प्रकार
4.15 न्यादर्श का आकार
4.16 गुल्म प्रतिचयन
4.17 बहुचरणीय प्रतिचयन
4.18 असंभाविता प्रतिचयन विधियाँ
4.19 न्यादर्श-त्रुटि
4.20 परिकल्पना का अर्थ एवं स्वरूप
4.21 परिकल्पना के प्रकार
4.22 परिकल्पना का महत्त्व अथवा उद्देश्य
4.23 परिकल्पनाओं के स्रोत अथवा निर्धारक तत्व
4.24 परिकल्पनाओं का मूल्यांकन
4.25 सारांश
4.26 अभ्यास-प्रश्न
4.27 संदर्भ पुस्तकें

नोट

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समस्या चयन, कथन एवं परिभाषीकरण को जानने में;
- चयनित समस्या के मूल्यांकन को समझने में;
- समष्टि की संकल्पना को समझने में;
- न्यादर्श एवं न्यादर्श प्रतिचयन की विधियों को समझने में;
- संभाविता प्रतिचयन विधि तथा उसके प्रकारों को समझने में;
- न्यादर्श के आकार को समझने में;
- परिकल्पना के अर्थ एवं स्वरूप को समझने में;
- परिकल्पना के प्रकार, उद्देश्य एवं महत्त्व को समझने में।

4.2 प्रस्तावना

अनुसंधान चाहे किसी भी क्षेत्र में किया जाए, उसकी प्रक्रिया लगभग एक-सी ही रहती है। सम्पूर्ण कार्य की क्रमबद्धता सभी क्षेत्रों के अनुसंधानों में समान होती है। व्यवहार विज्ञानों जैसे, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र एवं शिक्षा के क्षेत्रों में तो यह सामान्यतया लगभग शत-प्रतिशत ही होती है। पुस्तक के इस भाग में अनुसंधान-प्रक्रिया के उन विशिष्ट चरणों का उल्लेख किया गया है, जिनका पालन सभी व्यवहार-विज्ञानों में किया जाता है। साधारणतया इन क्षेत्रों के अनुसंधानों में निम्नलिखित पदक्रम रहता है–

1. समस्या का चयन, कथन एवं परिभाषीकरण।
2. समस्या-चयन हेतु संबंधित साहित्य का सर्वेक्षण।
3. परिकल्पनाओं का निर्माण।
4. अनुसंधान-सूचनाओं अथवा दत्तों का संकलन।
5. अनुसंधान-सामग्री (data) का विश्लेषण।
6. निष्कर्षों की स्थापना एवं सामान्यीकरण।

व्यवहार-विज्ञानों के क्षेत्र में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण अनुसंधान सम्पन्न होते हैं जो इकाइयों के एक छोटे समूह पर किए जाते हैं, परन्तु उस पर आधारित निष्कर्ष इकाइयों की वृहद् समष्टि पर भी लागू माने जाते हैं। अनेक कारणों से वृहद् समष्टि की सभी इकाइयों का अध्ययन करना प्रायः सम्भव नहीं होता। उस स्थिति में इकाइयों के एक छोटे समूह का ही अध्ययन करना पड़ता है। यदि समूची वृहद् समष्टि का अध्ययन सम्भव हो भी, तो भी ऐसा करना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है क्योंकि उसमें बहुत अधिक समय, धन एवं शक्ति का व्यय होता है और लाभ बहुत अधिक नहीं होता। थोड़ी सी त्रुटि के साथ वैसे ही परिणाम समष्टि के छोटे समूह को लेकर भी प्राप्त किये जा सकते हैं और समय, धन एवं शक्ति के अधिक व्यय को बचाया जा सकता है। इसे इस प्रकार समझिए कि एक बोरा चावल खरीदने के लिए यदि समूचे बोरे के प्रत्येक चावल की जाँच-परख करें तो कितना समय लगेगा और कितनी शारीरिक शक्ति का व्यय होगा। उससे बचने के लिए ही खरीददार बोरे में से केवल एक मुट्ठी चावल निकालकर उनकी जाँच-पड़ताल करता है तथा उन्हें उपयुक्त पाकर पूरा बोरा खरीदने का मन बना लेता है। एक मुट्ठी चावल की जाँच-पड़ताल

नोट

के आधार पर ही वह निष्कर्ष निकाल लेता है कि चावल का समूचा बोरा अच्छा है और खरीदने का निर्णय कर लेता है। वास्तविक जीवन की अनेक परिस्थितियों में हम ऐसा ही करते हैं। इस प्रकार की बहुत-सी वस्तुओं, सामग्री, इकाइयों में से केवल कुछ को लेकर उनकी जाँच-पड़ताल के आधार पर जो निष्कर्ष निकालते हैं उसे सभी के विषय में सही मान लेते हैं। इससे जाँच-पड़ताल का कार्य बहुत सरल हो जाता है। अनेक परिस्थितियों में अनुसंधान के क्षेत्र में भी हम ऐसा ही करते हैं व्यवहार-विज्ञानों में, विशेषकर मनोविज्ञान, समाजशास्त्र एवं शिक्षा के क्षेत्र में, इस प्रकार के अनुसंधान बहुत अधिक प्रचलित हैं। इकाइयों की किसी वृहद् समष्टि में से कुछ इकाइयों के समूह को लेकर उनका अध्ययन किया जाता है तथा उनके आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है उसे सम्पूर्ण समष्टि के विषय में सही समझा जाता है। उसे समूची समष्टि की विशेषता समझा जाता है। सम्पूर्ण समष्टि की व्याख्या उसके आधार पर की जाती है। इस छोटे समूह को ही समष्टि का न्यादर्श अथवा प्रतिदर्श कहते हैं।

न्यादर्श के अध्ययन के आधार पर सम्पूर्ण समष्टि की विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना, समष्टि की व्याख्या करना, उसके विभिन्न पक्षों का अध्ययन करना, अनुसंधान की सर्वमान्य वैज्ञानिक प्रक्रिया है, परन्तु यह बात उसी सीमा तक सही है जहाँ तक न्यादर्श का चयन वैज्ञानिक विधि द्वारा किया गया हो। न्यादर्श के आधार पर समष्टि के विषय में सही-सही निष्कर्ष निकाल पाना तभी सम्भव होता है जब न्यादर्श समष्टि का सही-सही प्रतिनिधित्व करता हो। अतः इस संदर्भ में न्यादर्श एवं उसके प्रतिचयन की विधियों के विषय में विस्तार से जानना अत्यंत आवश्यक है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं लगाना चाहिए कि प्रतिनिधि-न्यादर्श के अभाव में शोध सम्भव ही नहीं है। इस स्थिति में भी शोध सम्भव है। परन्तु ऐसा किन परिस्थितियों में होता है, क्यों होता है तथा उस स्थिति में उपलब्ध जानकारी एवं निष्कर्षों की व्याख्या किस प्रकार करनी चाहिए, ये सब बातें अच्छी तरह समझने की आवश्यकता होती है।

इस अध्याय में न्यादर्श, प्रतिनिधि-न्यादर्श, न्यादर्श के प्रकार, प्रतिचयन की विधियों एवं अन्य महत्त्वपूर्ण संदर्भो का उल्लेख किया गया है।

सर्वप्रथम संभाविता का अर्थ समझना आवश्यक है। संभाविता अथवा संयोग (chance) की समस्या वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ हम किसी विषय में पूर्ण जानकारी नहीं रखते तथा निश्चित रूप से उसके संबंध में कुछ नहीं कह सकते। तब हम कुछ कहने के लिए अनुमान ही लगाते हैं जिसके पूर्णतया सत्य होने की संभावना कम ही होती है। सत्य होने की संभावना जितनी कम होती है उतनी ही उसमें त्रुटि मानी जाती है। अतः इस स्थिति में यह जानने का प्रयास भी किया जाता है कि उस अनुमान में कितनी त्रुटि है अथवा उसके सत्य होने की संभावना क्या है। जब निश्चित

रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि कोई विद्यार्थी पास हो ही जाएगा, तो यह जानने का प्रयास किया जाता है उसके पास होने की संभावना कितनी है। यदि वह पाँच बार परीक्षा में बैठे और एक बार पास होने की संभावना हो तो कहा जाएगा कि उसके पास होने की संभावना 1/5 है। इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि यदि पास होने की पूर्ण संभाविता 1 हो तो उसे विद्यार्थी के पास होने की संभावना 1/5 अथवा 20 प्रतिशत अथवा 0.20 होगी।

शोध-समस्या का अन्तिम रूप से निर्णय हो जाने के पश्चात् उसके समाधान की प्रक्रिया का आरंभ अर्थात् शोध-सामग्री का संग्रह किया जाना आरंभ होता है, परन्तु शोध-सामग्री का संग्रह आरंभ करने से पूर्व यह निश्चित कर लेना आवश्यक होता है कि इसके लिए किन दिशाओं में जाना

होगा। इन दिशाओं की ओर संकेत करने वाले सूत्र उन परिकल्पनाओं में निहित रहते हैं, जिनका निर्माण अनुसंधानकर्ता अपने अध्ययनजनित ज्ञान, कल्पना एवं सृजनशीलता के आधार पर करता है। परिकल्पनाओं के अभाव में उसे शोध-सामग्री के संग्रह हेतु इधर-उधर भटकना पड़ेगा, जिससे उसके समय एवं शक्ति का अपव्यय होगा। अत: प्राय: सभी शोधकर्ता यह स्वीकार करते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो, अनुसंधान का आरम्भ परिकल्पना से ही किया जाना चाहिए, क्योंकि **वान डालेन** के शब्दों में, "परिकल्पनाएँ अनुसंधान-पथ में प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करती हैं"।

4.3 समस्या का चयन, कथन एवं परिभाषीकरण

उपयुक्त समस्या का चयन सभी शोधकर्ताओं के लिए एक कठिन कार्य होता है। आरम्भ में समस्या चयन हेतु अधिकतर शोधकर्ताओं को इधर-उधर भटकना पड़ता है। प्राय: वे यह आशा करते हैं कि उनके शोध-मार्गदर्शक (research guides) ही उन्हें अपनी ओर से शोध-समस्याएँ देंगे। इस प्रकार की सोच उचित नहीं है, क्योंकि शोध-मार्गदर्शकों के लिए भी यह कार्य सरल नहीं होता। उनके पास भी चयनित शोध-समस्याएँ नहीं होतीं। उपयुक्त समस्या का चयन करने हेतु उन्हें भी उतना ही परिश्रम करना होता है, जितना शोधकर्ता के लिए आवश्यक है। बिना परिश्रम एवं गहन अध्ययन के चुनी हुई शोध-समस्याएँ अधिकतर ऐसी होती हैं, जिन पर पहले ही पर्याप्त शोध-कार्य हो चुका होता है, जो महत्त्वहीन होती हैं, जिनके संबंध में पर्याप्त जानकारी पहले से ही उपलब्ध है, जिनके परिणाम वैध नहीं होते आदि। अत: यह जानना शोधकर्ता के लिए अत्यंत आवश्यक है कि शोध-समस्या का चयन किस प्रकार करना चाहिए, किस प्रकार की समस्याएँ शोध हेतु उपयुक्त होती हैं तथा उनकी उपलब्धता के स्रोत कौन-से होते हैं। इन सबका उल्लेख आगे किया गया है।

समस्या का स्रोत

साहित्य का अध्ययन, पहले किए जा चुके अनुसंधानों का सर्वेक्षण, देश में घट रहे सामाजिक, तकनीकी एवं शैक्षिक परिवर्तन आदि प्रमुख हैं।

(क) यक्तिगत अनुभव–शोधकर्ता अपने अनुभव के आधार पर यह जानने का प्रयास कर सकता है कि शिक्षा मनोविज्ञान अथवा समाजशास्त्र के किस क्षेत्र में किस प्रकार की समस्याएँ विद्यमान हैं, जिनका समाधान खोजना आवश्यक है, कितने तथा किस प्रकार के ऐसे प्रश्न हैं, जिनके उत्तर कहीं उपलब्ध नहीं हैं, कितने ऐसे प्रकरण एवं प्रसंग हैं, जिनकी पूरी जानकारी किसी को नहीं है। यदि वह इन क्षेत्रों में कार्य करता है अथवा इन विषयों का विद्यार्थी है, तो उसके ऐसे अनेक अनुभव हो सकते हैं, जिनका संबंध इस प्रकार की समस्याओं, प्रश्नों एवं वांछनीय जानकारी से होता है। यदि उसके अनुभव में कोई समस्या आती है तथा उसका अनुभव समस्या का कोई समाधान सुझाता है, तो उसी को लेकर अनुसंधान किया जा सकता है।

एक अध्यापक को विद्यालय में काम करते हुए छात्रों, सहयोगियों, प्रधानाचार्य आदि के साथ निरंतर अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप जो अनुभव होते हैं, उन्हीं में शोध की समस्याएँ उपलब्ध हो सकती हैं। शोधकर्ताओं को मानवीय व्यवहारों के संबंध में जो अनुभव होते हैं, उनमें शोध-समस्याओं के संकेत मिल सकते हैं। समाज-व्यवस्था एवं संस्थाओं से संबंधित अनुभवों में शोध-समस्याएँ उपलब्ध हो सकती हैं। जहाँ कहीं भी अनुभवगत

नोट

घटनाएँ, परिस्थितियाँ, व्यवहार, तथ्य समस्या के रूप में प्रतीत होते हैं तथा जिनके समाधान उपलब्ध नहीं हैं, उन्हें शोध समस्याओं के रूप में चुना जा सकता है।

(ख) संदर्भ साहित्य का अध्ययन–शोधकर्ता का अध्ययन शोध-समस्या के चयन का दूसरा स्रोत है। प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न विषयों पर बहुत-सा साहित्य उपलब्ध है। संबंधित साहित्य का अध्ययन करने पर यह पता चल जाता है कि उपलब्ध ज्ञान का कहाँ उपयोग किया जा सकता है, उसके आधार पर किन घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है, कहाँ उसमें अपूर्णता है आदि। पढ़ते-पढ़ते कई प्रकार के प्रश्न भी मस्तिष्क में उभर कर आते हैं, जिनके उत्तर खोजना महत्त्वपूर्ण हो सकता है। प्रत्येक क्षेत्र में बहुत से ऐसे सिद्धांत (जीमवतपमे), कथन, सुझाव हो सकते हैं, जो पर्याप्त रूप से परीक्षित एवं वैध प्रतीत नहीं होते। अतः उन्हें लेकर शोध-समस्या का निर्धारण किया जा सकता है। बुद्धि के सिद्धांत (theories of intelligence), अधिगम-सिद्धांत, व्यक्तिगत-सिद्धांत आदि बहुत से सिद्धांतों का निरूपण शिक्षा एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में किया गया है। इनके आधार पर अनेक प्रकार के व्यवहारों, परिस्थितियों एवं समस्याओं का विश्लेषण सम्भव हो सकता है। ये संभावनाएँ भी शोध-समस्याओं का रूप ले सकती हैं। अनुसंधान के द्वारा इन सिद्धांतों की वैधता का भी परीक्षण किया जा सकता है।

(ग) पूर्ण हो चुके अनुसंधानों का सर्वेक्षण–प्रत्येक क्षेत्र में पहले ही बहुत से अनुसंधान हो चुके होते हैं। इन अनुसंधानों का अध्ययन करने पर अनुसंधान की नई समस्याएँ उभरकर सामने आती हैं। इन अनुसंधानों का अध्ययन करने पर मस्तिष्क में यह बात उभरकर आती है कि कहाँ कुछ ऐसा छूट गया है, जिसका अध्ययन करना आवश्यक है। जो अनुसंधान पूर्ण हो चुका है, उसी को आगे भी बढ़ाया जा सकता है, उसमें दूसरे महत्त्वपूर्ण चरों को जोड़कर पुनः उस समस्या पर कार्य किया जा सकता है, उसी अध्ययन को दूसरे परिप्रेक्ष्य में भी किया जा सकता है आदि। इन अनुसंधानों का अध्ययन करने पर यह भी ज्ञात होता है कि उस क्षेत्र में अनुसंधान की भावी संभावनाएँ क्या हो सकती हैं, क्योंकि प्रत्येक अनुसंधानकर्ता अपने थीसिस के अन्त में इस प्रकार के सुझाव देता है। इन सुझावों के आधार पर अनुसंधान की नई समस्या का चयन सरल हो सकता है। प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे सर्वेक्षण प्रकाशित होते रहते हैं, जो पूर्ण हो चुके अनुसंधानों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं। इनका विस्तार से उल्लेख आगे किया जाएगा।

(घ) सामाजिक, तकनीकी एवं शैक्षिक परिवर्तन–प्रत्येक देश में सामाजिक, तकनीकी एवं शैक्षिक प्रकार के अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। शिक्षा-नीतियाँ बनती हैं तथा शिक्षा की व्यवस्था में परिवर्तन किए जाते हैं। देश में तकनीकी परिवर्तन भी होते हैं। समाज में भी बदलाव आता रहता है। इन परिवर्तनों के कारण बहुत-सी समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं के समाधान खोजना व्यक्ति एवं समाज के विकास के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इसी पृष्ठभूमि में शोध की समस्याओं का भी जन्म होता है। इन परिवर्तनों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर कितनी ही शोध-समस्याएँ उपलब्ध हो सकती हैं। उदाहरण के लिए नई शिक्षा नीति (1986) में शिक्षा के स्वरूप को बदलने के अनेक सुझाव दिए गए हैं। फलस्वरूप कितने ही नये सवाल एवं नई समस्याएँ उभरी हैं, जिनके उत्तर एवं समाधान अनुसंधान द्वारा ही खोजे जा सकते हैं। जीवन-मूल्यों का ह्रास,

बढ़ती हुई धर्मान्धता, लोकतंत्र समर्थित स्वतंत्रता का दुरुपयोग तथा बिगड़ता हुआ संस्थाओं का वातावरण, संस्थाओं में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, शिक्षा संस्थाओं की घटती सार्थकता आदि अनेक ऐसे परिवर्तन हैं, जिन्होंने हमारे देश में अनेक प्रकार की समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक समस्याओं को जन्म दिया है, जिन पर गम्भीरतापूर्वक अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

शोध-समस्याओं की उपलब्धि के ये कुछ सर्वमान्य स्रोत हैं, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इनके अतिरिक्त समस्या-चयन का और कोई माध्यम नहीं हो सकता, तो भी यह सभी स्वीकार करते हैं कि शोधकर्ता के स्वयं के गहन अध्ययन एवं मनन का तो कोई विकल्प हो ही नहीं सकता। शोध-समस्या के चयन हेतु तत्संबंधी ज्ञान-सागर में तो उसे उतरना ही होगा। जिस क्षेत्र में अनुसंधान करना है, उसके संबंध में यदि शोधकर्ता को पर्याप्त वांछनीय जानकारी नहीं है तो उपयुक्त शोध-समस्या का चयन सम्भव नहीं हो सकता।

होल्मेस का मत है कि निम्नलिखित प्रश्न शोधकर्ता को समस्या के चयन में सहायता प्रदान कर सकते है–

1. संबंधित क्षेत्र में जो व्यक्ति वास्तव में कार्यरत हैं, उनके समक्ष किस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं?
2. वर्तमान में तथा पिछले कुछ वर्षों में किन समस्याओं पर अनुसंधान किया गया है?
3. संबंधित क्षेत्र में जो अनुसंधान हुए हैं, उनमें किस प्रकार के तथ्य, नियम एवं सामान्यन उजागर हुए हैं?
4. इन तथ्यों, नियमों तथा सामान्यनों की व्यावहारिक उपयोगिता क्या हो सकती है?
5. संबंधित क्षेत्र में किए गए अनुसंधानों के परिणामों का व्यवहार में कहाँ तक प्रयोग किया गया है?
6. किस प्रकार की नई समस्याएँ इन अनुसंधानों के द्वारा उभर कर आई हैं तथा किन पर अनुसंधान किया जाना शेष है?
7. संबंधित क्षेत्र में अनुसंधान किए जाने के मार्ग में कौन-कौन सी प्रमुख कठिनाइयाँ हैं?
8. संबंधित क्षेत्र में अनुसंधान की कौन-कौन सी तकनीकों एवं प्रक्रियाओं का विकास हुआ है?
9. कौन-कौन सी संकल्पनाएँ हैं, जो संबंधित क्षेत्र में प्रचलित हैं?
10. संबंधित क्षेत्र में किए गए अथवा किए जा रहे अनुसंधानों में किस प्रकार की अवधारणाओं (assump- tions) का सहारा लिया गया है?

4.4 समस्या-चयन की प्रक्रिया

शोध-समस्या के चयन की प्रक्रिया में सामान्यत: निम्नलिखित चयन निहित रहते हैं–

1. सबसे पहले मोटे तौर पर यह निर्धारित करना कि किस क्षेत्र में शोध करना है। प्रत्येक विषय का ज्ञान अनेक क्षेत्रों में विभाजित रहता है। उदाहरण के लिए शिक्षा-विषय के विशिष्ट क्षेत्र मनोविज्ञान, शिक्षा-समाजशास्त्र, शिक्षा-दर्शन, शिक्षा-तकनीकी, शिक्षा-प्रबंधन, मूल्यांकन एवं मापन, अध्यापक-शिक्षा, शिक्षण-प्रक्रिया आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार

नोट

मनोविज्ञान विषय के ये क्षेत्र अधिगम, प्रेरणा, व्यवहार-परिवर्तन, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, मापन एवं मूल्यांकन, सृजनात्मकता, अवधान, व्यक्तिगत, संस्थागत-व्यवहार (organizational behaviour) आदि हो सकते हैं।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में ये सामाजिक परिवर्तन, जाति-संबंध, परिवार-विघटन, संस्थाएँ एवं उनकी संरचना, सामाजिक वर्ग-भेद, सामाजिक तनाव, सामाजिक रूढ़ियाँ, आधुनिकीकरण, सामाजिक मान्यताएँ एवं परम्पराएँ आदि हो सकती हैं। अपने अध्ययन, ज्ञान एवं रुचि के आधार पर क्षेत्र का निर्णय कर लेने के पश्चात् उस क्षेत्र में से एक सीमित एवं महत्त्वपूर्ण समस्या की खोज करनी चाहिए। क्षेत्र, ज्ञान का विस्तृत रूप होता है। उसके अन्तर्गत अनेक परिप्रेक्ष्य, सिद्धांत, आयाम, प्रश्न एवं समस्याएँ आते हैं। अतः यह आवश्यक होता है कि उस समस्त ज्ञानसागर का मंथन करने के पश्चात् उस समस्या को खोज निकाला जाए, जिसका निश्चित एवं निर्विरोध समाधान अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

2. एक निश्चित एवं स्पष्ट समस्या का चयन करने में दूसरा कदम चुने हुए क्षेत्र में जो अनुसंधान हो चुके हैं, उनका सर्वेक्षण करना होता है। इससे यह पता लगता है कि उस क्षेत्र में किन-किन समस्याओं को लेकर कितना और किस प्रकार का शोध कार्य हो चुका है। साथ ही यह भी पता चलता है कि कौन-से प्रश्न अभी अनुत्तरित हैं अथवा पूर्णतया उत्तरित नहीं हैं। इन प्रश्नों अथवा समस्याओं में से किसी एक का नये शोध हेतु चयन किया जा सकता है।
3. उपरोक्त प्रश्न अथवा समस्या का चयन कर लेने का अर्थ यह नहीं होता कि शोध-समस्या मिल गई। इसे केवल संभावित समस्या ही समझना चाहिये। अच्छा यह रहता है कि ऐसी कई संभावित समस्याओं का चयन किया जाए।
4. इन संभावित समस्याओं को लेकर शोध-मार्गदर्शक के साथ बैठकर गम्भीरतापूर्वक उन पर विचार-विमर्श करना चाहिए। यह समस्या-चयन की प्रक्रिया का तीसरा चरण है। समस्या का समाधान खोजना इतना कठिन नहीं होता, जितना कि समस्या का चयन एवं उसकी संरचना तैयार करना होता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से मार्गदर्शक की सूझ-बूझ एवं सुझावों को ध्यान में रखते हुए अन्तिम रूप से समस्या का चयन इन स्तर पर हो जाता है।

4.5 चयनित समस्या का मूल्यांकन

शोध हेतु समस्या को अन्तिम रूप देने से पहले उसकी उपयुक्तता (suitability) पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है। इसे समस्या का मूल्यांकन (evaluation of the problem) कहते हैं। इसके अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि समस्या शोध हेतु अच्छी रहेगी अथवा नहीं। कोई समस्या कब अच्छी अथवा उपयुक्त समझी जाती है, इसकी एक कसौटी (criterion) होती है, जिसके अन्तर्गत कई बिंदु आते हैं। उन सभी बिंदुओं के दृष्टिकोणों से यदि समस्या उपयुक्त ठहरती है, तभी उसे अच्छा समझा जाता है तथा अन्तिम रूप से उसका चयन किया जाता है। **फ्रांसिस रूमेल** के अनुसार, इस कसौटी के बिंदु अथवा उपयुक्त समस्या की चार विशेषताएँ हैं–(i) शोधकर्ता की उस समस्या में रुचि होना, (ii) शोधकर्ता में वे सब योग्यताएँ होना जो उस पर शोध करने के लिए आवश्यक हैं, (iii) समस्या का महत्त्वपूर्ण होना तथा (iv) समस्या संबंधी जानकारी, सूचनाओं तथा दत्तों के उपलब्ध होने की संभावना होना। **मौलि** ने निम्नलिखित पांच बिन्दुओं का वर्णन किया है–

1. **समस्या शोधकर्ता की रुचि के अनुकूल होनी चाहिए**–परन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि रुचि के अनुकूल समस्या न होने पर उस पर शोध किया ही नहीं जा सकता। यदि समस्या रुचि के अनुकूल है तो बहुत अच्छा है, परन्तु यदि समस्या महत्त्वपूर्ण है तो रुचि के अभाव में भी उसे चुना जा सकता है। उसके संबंध में अध्ययन करने, अधिक जानकारी प्राप्त कर लेने तथा कार्य के आगे बढ़ने के पश्चात् रुचि भी विकसित हो जाती है।
2. **समस्या मौलिक होनी चाहिए**–इसका अर्थ है कि समस्या ऐसी हो कि उस पर पहले उसी प्रकार का शोध-कार्य न हुआ हो। जिन प्रश्नों के उत्तर अनुसंधान द्वारा प्राप्त किए जा चुके हैं, उन्हें पुनः प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं, परन्तु यदि पहले किए गए अनुसंधानों के परिणाम संदिग्ध प्रतीत होते हैं अथवा उनकी शोध-प्रक्रिया त्रुटिपूर्ण पाई जाती है अथवा उनमें समाविष्ट चरों में परिवर्तन करके अनुसंधान किया जाता है तो उसे भी मौलिकता की परिधि के अन्तर्गत रखा जा सकता है।
3. **समस्या शोध-संभव** (Amenable to Research) **होनी चाहिए**–इसका अर्थ है कि समस्या ऐसी हो कि जिस पर अनुसंधान करना संभव हो, उसके चरों (variables) का मापन किया जा सके, उसके विषय में आवश्यक एवं वांछनीय जानकारी प्राप्त की जा सके, उपलब्ध जानकारी का विश्लेषण किया जा सके आदि। यदि किसी कारण ऐसा संभव न हो तो उस समस्या को शोध हेतु उपयुक्त नहीं समझा जाता।
4. **समस्या महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए–**प्रत्येक अनुसंधान का उद्देश्य होता है संबंधित क्षेत्र में ज्ञान की वृद्धि करना, अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर उपलब्ध कराना, पूर्वस्थापित मान्यताओं एवं सिद्धांतों का सत्यापन एवं परीक्षण करना, समस्याओं के समाधान खोजना आदि, परन्तु किसी अनुसंधान के द्वारा यदि इनमें से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती तो उसे महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता। अनेक बार शोध-समस्याएँ तुच्छ (trivial) एवं निरर्थक होती हैं। **वोल्फले** तथा कई अन्य लेखकों ने इस प्रकार की समस्याओं को लेकर अनुसंधान की तीखी निंदा की है। एन.सी. ई.आर.टी. (नई दिल्ली) के तृतीय (1986) एवं चतुर्थ (1991) शिक्षा-अनुसंधान सर्वेक्षणों में भी इसी प्रकार की आलोचना की गई है। अनुसंधान की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ वे समझी जाती हैं, जिनके द्वारा उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति होती है तथा जिनके परिणाम संबंधित क्षेत्र की वर्तमान प्रक्रियाओं, प्रथाओं, विधियों, तकनीकों, काम के ढंगों आदि को उन्नत बनाने में सहायक होते हैं। जिस अनुसंधान के परिणामों की कोई उपयोगिता न हो, वह महत्त्वहीन है।
5. **समस्या शोधकर्त्ता की योग्यता एवं क्षमताओं के अनुकूल होनी चाहिए–**कोई समस्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक हो सकती है, परन्तु यदि शोधकर्ता में वे सब योग्यताएँ एवं क्षमताएँ नहीं हैं, जो उस अनुसंधान को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं तो उस समस्या को उस शोधकर्ता के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। यह अत्यन्त आवश्यक है कि शोधकर्ता को उस समस्या से संबंधित तथ्यों, संकल्पनाओं, सिद्धांतों (theories) आदि की अच्छी जानकारी हो। यह भी आवश्यक है कि उसमें संबंधित साहित्य, अनुसंधान की रिपोर्टों, जर्नल आदि को पढ़ने एवं समझने की योग्यता हो। साथ ही अनुसंधान की तकनीकों, मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के निर्माण, उनके प्रशासन आदि का भी उसे अच्छा

नोट

ज्ञान होना चाहिए। शोध-सामग्री के सांख्यिकीय विश्लेषण की विधियों की भी उसे अच्छी जानकारी होनी चाहिए। यदि समस्या ऐसी है कि उस पर अनुसंधान हेतु इन योग्यताओं की आवश्यकता है और शोधकर्ता में इनका अभाव है तो वह समस्या उसके लिए उपयुक्त नहीं हो सकती हैं।

उपरोक्त बिन्दु एक उपयुक्त एवं अच्छी समस्या की कसौटी प्रस्तुत करते हैं तथा शोध-समस्या के मूल्यांकन का आधार समझे जाते हैं। इन्हीं सब बिन्दुओं को वान डालेन ने व्यक्तिगत बिन्दु (personal consideration) तथा सामाजिक बिन्दु (social consideration) इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा है।

4.6 समस्या-कथन

समस्या-कथन से तात्पर्य होता है समस्या को शीर्षक देने से। शीर्षक जो प्रस्तावित अनुसंधान की लिखित रूपरेखा के आरंभ में लिखा जाता है तथा अनुसंधान पूरा हो जाने पर थीसिस अथवा उसकी रिपोर्ट के ऊपर लिखा जाता है। समस्या को किस प्रकार शीर्षक के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए अर्थात् किस प्रकार उसका कथन किया जाना चाहिए, इस संबंध में भी कुछ नियम हैं। ये निम्न प्रकार हैं–

1. **वान डालेन** के अनुसार, समस्या की प्रस्तुति या तो प्रश्नों के रूप में की जानी चाहिए या सीधे एवं सरल कथनों (statements) के रूप में की जानी चाहिए। जैसे–

   क्या बुद्धि बालकों की शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करती है? (प्रश्न रूप)

   बुद्धि का बालकों की शैक्षिक उपलब्धि पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। (कथन)

2. **मौलि** के अनुसार, समस्या की प्रस्तुति संक्षिप्त एवं सुतथ्यत: रूप में (precisely) की जानी चाहिए। उसके कथन में निरर्थक एवं अनावश्यक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। बहुत क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी उचित नहीं समझा जाता।

3. समस्या का कथन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उसे पढ़ते ही पाठक को यह स्पष्ट हो जाए कि समस्या में कौन-कौन से चर हैं, जिनके पारस्परिक संबंधों की खोज करना अनुसंधान का उद्देश्य है। जैसे, "अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों का अध्ययन"। इस प्रकार के समस्या-कथन में कुछ भी स्पष्ट नहीं होता कि किस बात का अध्ययन किया जाएगा। यदि इसी को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए "अंग्रेजी माध्यम वाले विद्यालयों के बालकों तथा अन्य विद्यालयों के बालकों की शैक्षिक प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन", तो अनुसंधान का उद्देश्य समस्या को पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है।

4. समस्या का कथन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि पढ़ते ही अनुसंधान-क्षेत्र का विस्तार (scope) स्पष्ट हो जाए। जैसे, "पढ़ने वाले बालकों की बुद्धि का सर्वेक्षण"। इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि किस स्थान के विद्यालयों के बालकों, किस कक्षा अथवा आयु के बालकों की बुद्धि का सर्वेक्षण किया जाएगा। इसी को यदि इस प्रकार लिखा जाए "मेरठ शहर के आठवीं कक्षा के बालकों की बुद्धि का सर्वेक्षण" तो अनुसंधान के क्षेत्र का विस्तार स्पष्ट हो जाता है।

   अनुसंधान समस्या के कथन में ही अनुसंधान कार्य की सम्पूर्ण रूपरेखा निहित होती है। उसे पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शोध का प्रमुख उद्देश्य क्या है, शोध-सामग्री

कहाँ से एकत्र की जाएगी, किन चरों का मापन किया जाएगा तथा शोध-सामग्री के विश्लेषण की विधि क्या होगी।

4.7 समस्या का विश्लेषण एवं उसका परिभाषीकरण

नोट

समस्या का अन्तिम रूप से चयन हो जाने के पश्चात् उसका कथन (statement) किया जाता है अर्थात् अन्तिम रूप में उसको लिखा जाता है तथा इस कथन के पश्चात् समस्या की गहराई से विश्लेषण (analysis) अर्थात् परिभाषीकरण (define) एवं वर्णन (describe) किया जाता है। कई कारणों से ऐसा किया जाना आवश्यक है। समस्या का विश्लेषण एवं परिभाषीकरण शोध की दिशाओं को स्पष्ट करता है तथा इस बात की ओर संकेत करता है कि उस अनुसंधान में किस प्रकार के चर सन्निहित हैं, उनका मापन किस प्रकार किया जाएगा तथा अनुसंधान की प्रक्रिया क्या होगी। इस प्रकार अनुसंधान-कार्य का सम्पूर्ण मानचित्र स्पष्ट एवं निश्चित हो जाता है। **भिटनी** के अनुसार, समस्या के परिभाषीकरण से तात्पर्य होता है, "समस्या को एक परिधि के भीतर सीमित करना, उसे उन मिलते-जुलते प्रश्नों से भिन्न एवं अलग करना जो संबंधित परिस्थितियों में पाए जाते हैं।" ऐसा करने से शोधकर्ता को स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि समस्या वास्तव में क्या है। आरंभ में ही समस्या का इस प्रकार का विशिष्टीकरण एवं व्यावहारिक सीमांकन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इस संबंध में **मनरो** एवं **ऐंगिलहार्ट** का कथन विशेष महत्त्व का है। उनका कहना है कि समस्या के परिभाषीकरण का अर्थ है "उसका विस्तृत एवं सही-सही विशिष्टीकरण करना, प्रत्येक मुख्य एवं गौण प्रश्न जिसका उत्तर वांछनीय है, का स्पष्टीकरण करना तथा अनुसंधान की सीमाओं का निर्धारिण करना।" इसके लिए उनके अनुसार, यह आवश्यक है कि जो अनुसंधान पहले हो चुके हैं, उनकी समीक्षा की जाए ताकि यह निश्चित किया जा सके कि क्या करना है। कभी-कभी एक ऐसे शैक्षिक दृष्टिकोण अथवा शिक्षा-सिद्धांत का विकास एवं निर्माण करना भी आवश्यक हो सकता है जो प्रस्तावित अनुसंधान को एक आधार प्रदान कर सके। इसके अन्तर्गत आधारभूत अवधारणाओं को भी स्पष्ट करना आवश्यक होता है।

साधारण भाषा में समस्या के परिभाषीकरण से तात्पर्य उसके विशिष्टीकरण एवं स्पष्टीकरण से ही होता है। उसका आधार समस्या का विश्लेषण एवं स्पष्ट वर्णन होता है। उसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं–

1. **समस्यागत-अनुसंधान कार्य के विस्तार (scope) को सीमित करना**– इसका अर्थ है कि समस्या का वर्णन इस प्रकार करना कि उससे जितने कार्य का बोध होता है उतना कार्य शोधकर्ता की सामर्थ्य के भीतर हो। दूसरे शब्दों में, एक विस्तृत एवं व्यापक समस्या को काट-छाँटकर सीमित बनाना इसके अन्तर्गत आता है। उदाहरणार्थ, यदि समस्या है 'समस्यात्मक बालकों के व्यवहारों का अध्ययन करना', तो यह समस्या अत्यन्त अस्पष्ट, विस्तृत एवं व्यापक है। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के समस्यात्मक बालकों, व्यवहार के अनेक प्रकार के कारणों, अध्ययन की कई विधियों, विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न आयु के बालकों का अध्ययन आता है। इन सब अध्ययनों को पूरा करने में बरसों लग जायेंगे जो किसी भी शोधकर्ता के लिए संभव नहीं है। अतः समस्या को सीमित, संक्षिप्त एवं संकुचित करना आवश्यक है। किस प्रकार के समस्यात्मक बालकों, किस आयु के, कौन से विशिष्ट कारणों आदि का अध्ययन किया जाएगा, इनका विनिश्चयन एवं स्पष्ट रूप से उल्लेख किया जाना आवश्यक है। यही समस्या के परिभाषीकरण का अर्थ है। मौलि

नोट

के अनुसार, यदि समस्या स्पष्ट नहीं है तो आगे चलकर बहुत-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा निष्कर्षों के सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अत: शोध-समस्या बहुत विस्तृत एवं व्यापक (जैसे, अध्यापक शिक्षण की प्रभाविकता का अध्ययन) न होकर उस विषय के कुछ महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट पक्षों तक ही सीमित होनी चाहिए। साथ ही उसे इतना संक्षिप्त एवं संकुचित भी नहीं बनाना चाहिए कि वह उपहास मात्र बनकर रह जाए।

2. **समस्या-संबंधी विभिन्न अंगों (elements) का स्पष्टीकरण एवं वर्णन करना**–इसके अन्तर्गत शोधकर्ता समस्या की पृष्ठभूमि (background) का उल्लेख करता है, उसके सैद्धांतिक आधार (theoretical base) का वर्णन करता है तथा उन अवधारणाओं (assumptions) का भी स्पष्टीकरण करता है जो समस्या में सन्निहित होती हैं। साथ ही वह उन चरों, तथ्यों, परिस्थितियों, व्यक्तियों आदि का भी उल्लेख करता है, जिनको समस्या से अलग रखा जाना है। सामूहिक रूप से इन सभी पक्षों का स्पष्टीकरण एवं उल्लेख समस्या के परिभाषीकरण, विश्लेषण एवं वर्णन के अन्तर्गत आता है।

3. **समस्या में प्रयुक्त शब्दों (terms) एवं संकल्पनाओं (concepts) के अर्थों को स्पष्ट करना**– तथा उन्हें परिभाषित करना यह भी समस्या के परिभाषीकरण के अन्तर्गत ही आता है। यदि इनके अर्थ स्पष्ट नहीं किए जाते हैं तो यह समझना भी कठिन होगा कि समस्या है क्या। कुछ शब्द एवं संकल्पनाएँ ऐसी हो सकती हैं, जिनके भिन्न-भिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं अथवा जिन्हें भिन्न-भिन्न लेखकों अथवा विशेषज्ञों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। बुद्धि, प्रेरणा, मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ (needs), व्यक्तित्व संतुलन (personality adjustment), पर्यावरण (climate) आदि अनेक ऐसी संकल्पनाएँ हैं, जिनके अलग-अलग अर्थ एवं परिभाषाएँ मिलती हैं। अत: शोधकर्ता को समस्या का परिभाषीकरण करते समय यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसकी समस्या में प्रयुक्त इन शब्दों एवं संकल्पनाओं को किस अर्थ में लिया गया है। ऐसा करने से उनका सही ढंग से मापन करना भी सरल हो जाता है। सामान्यतया इनको मूर्त एवं निश्चित व्यवहारों के रूप में परिभाषित किया जाता है। साहित्य में उन्हें किस-किस प्रकार से परिभाषित किया गया है, उन सबका उल्लेख करते हुए विशिष्ट रूप से यह बताना चाहिए कि प्रस्तावित अनुसंधान-समस्या में उन्हें किस अर्थ में लिया गया है तथा उनका मापन किस प्रकार किया जाना है, कौन-कौन से तत्व, व्यवहार, परिस्थितियाँ, घटनाएँ उनके परिचायक (indicators) होंगे आदि। उदाहरण के लिए, यदि छात्रों की "शैक्षिक उपलब्धि" एक चर है, तो यह स्पष्ट करना होगा कि उसका अर्थ छात्रों के परीक्षांक, अध्यापक द्वारा किए गए रेटिंग अथवा प्रमापीकृत निष्पत्ति-परीक्षाओं पर प्राप्त अंक आदि में से किस एक से हैं।

हिलवे ने समस्या के परिभाषीकरण हेतु निम्न चार नियमों की ओर संकेत किया है–

1. यह निश्चित करना कि समस्या का विषय-क्षेत्र न तो बहुत अधिक विस्तृत हो और न बहुत अधिक संकुचित।
2. समस्या को विशिष्ट प्रश्नों के रूप में व्यक्त करना, जिसके निश्चित उत्तर संभव हों।
3. समस्या का इस प्रकार सीमांकन करना कि जिन पक्षों एवं तत्वों का समस्या से संबंध नहीं है, वे स्पष्ट रूप से उससे अलग हो जाएँ।

4. उन सब शब्दों को जो विशिष्ट हैं तथा जिनका प्रयोग समस्या में हुआ है, परिभाषित करना।

उपरोक्त प्रकार से समस्या का विश्लेषण एवं परिभाषीकरण करने पर उसके प्रत्येक पक्ष का निश्चयन एवं स्पष्टीकरण हो जाता है। तब समस्या का कथन अथवा यों कहें कि उसे जो शीर्षक दिया गया है, उसका वास्तव में क्या अर्थ है, पूर्णतया सुनिश्चित एवं स्पष्ट हो जाता है। साधारणतया समस्या-कथन के पश्चात् उसकी विस्तार से व्याख्या की जाती है। इसी को समस्या का परिभाषीकरण करना कहते हैं। इसी को प्रस्तावित अनुसंधान परियोजना, सारांश रूप (synopsis) अथवा **एजेण्डम** (agendum) भी कहा जाता है, जिसे अनुसंधान-कार्य आंरभ करने से पूर्व ही तैयार कर लिया जाता है। इसके आवश्यक अंग निम्नलिखित होते हैं–

1. समस्या-कथन।
2. समस्या का सैद्धांतिक आधार (theoretical framework)।
3. समस्या का महत्त्व अथवा औचित्य।
4. तकनीकी शब्दों की परिभाषाएँ।
5. आधारभूत अवधारणाएँ।
6. क्षेत्र का सीमांकन (delimitations)।

4.8 समस्या के स्रोत

जे.सी. अलमाक (J.C. Almack) ने समस्या ढूँढ़ने के निम्नलिखित चार साधनों की चर्चा की है–

1. ऐतिहासिक अभिलेखों के साथ जो कुछ ज्ञात है, उसका विश्लेषण किया जाए।
2. व्याख्या में जो कमी रह गयी है, उसे अथवा अंधकारपूर्ण क्षेत्र को ढूँढ़ निकाला जाए।
3. अनियमितताओं, विरोधाभास, मत-भिन्नता के स्थल तथा ऐसे स्थलों को ढूँढ़ निकाला जाए जिनके निष्कर्षों की विधिवत् जांच नहीं की गयी है।
4. विषय से संबंधित गोष्ठी, अध्ययन तथा चिन्तन को विकसित किया जाए तथा उन बातों पर दृष्टि रखी जाए जिनमें क्रियाएँ अधिक हुई हैं तथा जो उपेक्षित हैं। पद्धति को भी ध्यान में रखा जाए। इस विश्लेषण से हम समस्या को प्राप्त कर सकते हैं।

एच.एच. अबेलसन (H.H. Abelson) ने समस्या के स्रोत के संबंध में निम्नलिखित चार सुझाव दिये हैं–

1. जो शिक्षा पा रहा है, शिक्षा की प्रक्रिया का अध्ययन कर रहा है अथवा किसी प्रकार का शिक्षा संबंधी कार्य कर रहा है, उसके अनुभव में अन्तर्द्वन्द्व (conflicts in experience) एक प्रमुख साधन है। जिज्ञासा तथा अन्तर्द्वन्द्व उसके सामने अनेक समस्याएँ स्वयं प्रस्तुत करता रहेगा।
2. दूसरा प्रमुख साधन शोध-प्रबंधों के अन्त में दिये गये भावी अध्ययन संबंधी सुझाव (suggestions for further study) हैं। सभी शोध-प्रबंधों (dissertations) के अंत में इस प्रकार के सुझावों की एक सूची दी होती है कि इस क्षेत्र में और क्या कार्य हो सकता है। इसके अध्ययन के द्वारा भी समस्या को ढूँढ़ निकाला जा सकता है।
3. अनुसंधान-कार्य जो पूरा हो चुका है (Research work already completed) तथा इनका निचोड़ अथवा इनकी लघु रूपरेखा को देखकर बुद्धिमान व्यक्ति अनेक समस्याएँ ढूँढ़ निकालते हैं।

4. चौथा प्रमुख साधन उन क्षेत्रों को ढूँढ निकालना है जो आज तक उपेक्षित रह गये हैं और जिन पर कार्य हुआ ही नहीं है।

कोलम्बिया यूनिवर्सिटी टीचर्स कॉलेज के **डब्ल्यू. ए. मैक्काल** (W.A. McCall) ने प्रयोगात्मक समस्याओं को ढूँढने के निम्न पाँच मार्ग बताये हैं–

नोट

1. प्रयोगात्मक समस्या ढूँढने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि जितना शीघ्र सम्भव हो, किसी विशेष क्षेत्र के जिज्ञासु छात्र (Scholar) बन जायें और उस क्षेत्र का गहन अध्ययन करें।
2. दूसरा उपाय यह है कि आलोचनात्मक ढंग से साहित्य का अध्ययन करें, लोगों की चर्चा सुनें तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण से ही कार्य करें।
3. समस्या को ढूँढने का तीसरा ढंग प्रत्येक बाधा को, जो चिन्तन अथवा कार्य-क्षेत्र में आ रही हो, महत्त्व प्रदान करना है।
4. चौथी पद्धति यह हो सकती है कि अनुसन्धान-कार्य प्रारम्भ कर दिया जाए और फिर उसमें उत्पन्न कठिनाइयों को जिज्ञासापूर्वक देखा जाए।
5. पाँचवीं विधि यह है कि अब तक उस क्षेत्र में जो कुछ भी प्राप्त हुआ है, उस सम्पूर्ण पर अधिकार किया जाए क्योंकि उसमें एक दिशा प्राप्त होगी। इसका तात्पर्य यह है कि जो समस्याएँ तथा विचार आये हैं, उनका एक व्यवस्थित अभिलेख तैयार किया जाए।

जॉन डब्ल्यू. बेस्ट (John W. Best) के अनुसार, शिक्षा-क्षेत्र में समस्या के निम्नलिखित स्रोत हैं–

1. कक्षा, विद्यालय अथवा समाज स्वयं में एक साधन है। प्रत्येक शिक्षक नित्य अनेक समस्याओं का सामना करता रहता है। जो कुछ भी हम कर रहे हैं, वैसा क्यों? जो पाठ्यक्रम पढ़ा रहे हैं, वही क्यों पढ़ाया जाए? क्या हमारी शिक्षण-विधि प्रभावपूर्ण है? क्या छात्रों में आवश्यक परिवर्तन लाने में हम समर्थ हो रहे हैं? यदि नहीं तो क्यों? बाधाएँ क्या हैं? आदि अनेक समस्याओं का सामना वह नित्य करता रहता है। यदि वह जिज्ञासु है और उसकी अनुसन्धान में रुचि है तो किसी पर भी कार्य कर सकता है।
2. प्राविधिक परिवर्तन तथा सामाजिक विकास भी नित्य नयी समस्याएँ तथा अनुसन्धान हेतु व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत कर रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में नयी विधियाँ, टीचिंग मशीन, टेलीविजन आदि के प्रयोग कहाँ तक शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकते हैं, यह अनुसन्धान का विषय है।
3. स्नातकीय शैक्षिक अनुभव के द्वारा अनुसन्धानकर्ता में खोजपूर्ण आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हो जाना चाहिए। यह प्रवृत्ति उसमें वर्तमान कार्य-पद्धति के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण पैदा करती है और उसमें समस्या की जानकारी बढ़ती है। कक्षा के व्याख्यान (class lectures), वाद-विवाद (discussions), परिचर्चा-प्रतिवेदन (seminar reports) तथा कक्षा के बाहर अपने मित्रों एवं प्राध्यापकों से चर्चा के बीच उसे अनेक समस्याओं की जानकारी हो सकती है। इनके अतिरिक्त जिज्ञासु छात्रों के लिए पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन, विशेष कार्य (special assignments), izfrosnu (reports), Encyclopedia of Educational Research, Psychological Abstracts, The Review of Educational Research, The Journal of Experiment Educa- tion, The Journal of Educational

Researches, स्नातकोत्तर शोध-प्रबन्ध तथा इनकी सूची आदि अनेक प्रकाशन ऐसे हैं जिनके अध्ययन से समस्याएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं।

4. समस्या की खोज का चौथा साधन उस क्षेत्र के अधिकारी विद्वानों, शिक्षकों तथा अनुसन्धान-निर्देशकों से परामर्श करना है। ये लोग अनुसन्धानकर्ता की इस क्षेत्र में पर्याप्त सहायता कर समस्या का चुनाव सरल कर सकते हैं।

नोट

'गुड, बार और स्केट्स' (Good, Bar and Scates) का कहना है कि शिक्षा के क्षेत्र में अनुसन्धान के लिए समस्याओं को ढूँढ़ने हेतु सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव यह है कि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखते हुए उपलब्ध शैक्षिक साहित्य का गहन अध्ययन किया जाए–

1. शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में कितना अनुसन्धान-कार्य हो चुका है;
2. पूर्ण अनुसन्धान-कार्य का आधिकारिक वर्णन;
3. नवीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण;
4. किसी क्षेत्र-विषय में प्राप्त आलोचनात्मक निबन्ध-पत्र, पत्रिकाएँ तथा टिप्पणियाँ;
5. शिक्षा सम्बन्धी भविष्यवाणी;
6. अनुसन्धान, जिस पर कार्य हो रहा है; तथा
7. अनुसन्धान की आवश्यकता।

इन बातों का ध्यान रखकर किया गया आलोचनात्मक अध्ययन समस्या को ढूँढ़ने में सहायक हो सकेगा।

गुड तथा **स्केट** ने अनुसन्धान की समस्या के निम्न सात स्रोत बताये हैं–

1. विशेष अध्ययन (Specialization),
2. शैक्षिक कार्यक्रम का अनुसरण (Pursuation of educational programme),
3. अध्ययन कार्यक्रम (Programme of reading),
4. ज्ञान के किसी क्षेत्र का विश्लेषण (Analysis of any area of knowledge),
5. वर्तमान क्रियाओं और आवश्यकताओं पर विचार (Consideration of existing practices and needs),
6. अनुसन्धान की पुनरावृत्ति अथवा प्रसार (Repetition or extension of research),
7. अध्ययनान्तर्गत विभिन्न क्षेत्र ('Offshoots' of studies underway)।

4.9 समष्टि की संकल्पना

समष्टि की संकल्पना एक सांख्यिकीय संकल्पना है जिसका अर्थ होता है बहुत-सी इकाइयों का एक वृहद् समूह जिसमें से कुछ इकाइयों को अध्ययन के लिए चुना जाता है। अनुसंधान के संदर्भ में समष्टि इकाइयों की एक निश्चित संख्या होती है जिनके विषय में अध्ययनगत निष्कर्ष लागू होते हैं। इन इकाइयों की एक निश्चित रूप में सूची उपलब्ध होती है। समष्टि की परिभाषा भी विशिष्ट प्रकार से की जाती है। उसकी परिभाषा एवं व्याख्या उसकी कुछ स्पष्ट विशेषताओं के आधार पर की जाती है। अनुसंधान के संदर्भ में इस समष्टि को लक्ष्यगत समष्टि (target population) कहते हैं। लक्ष्यगत समष्टि की परिभाषा इस प्रकार की गई है: यह "व्यक्तियों, घटनाओं, वस्तुओं अथवा

अन्य प्रकार की इकाइयों का एक कल्पित अथवा वास्तविक समूह होती है।" यह विस्तृत भौगोलिक भूभाग में दूर-दूर तक फैली हुई भी हो सकती है अथवा एक छोटे समूह के रूप में सीमित भूभाग में भी समाई हो सकती है।

नोट

कभी-कभी लक्ष्यगत समष्टि की सभी इकाइयाँ अनुसंधान हेतु उपलब्ध नहीं हो पातीं तथा उनके विषय में शोध-सामग्री (data) एकत्र करना सम्भव नहीं हो पाता। उस स्थिति में उन इकाइयों को निकालकर जो समष्टि अनुसंधान हेतु उपलब्ध हो पाती है, उसे अभिगम्य अथवा प्राप्त समष्टि (accessible population) कहते हैं। इस प्रकार लक्ष्यगत समष्टि एवं अभिगम्य समष्टि के बीच अन्तर किया गया है। अभिगम्य समष्टि वह समष्टि होती है

जिसकी सभी इकाइयों के विषय में शोध-सामग्री एकत्र की जा सके। अनुसंधान में इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख करना चाहिए। परन्तु किसी शोध में लक्ष्यगत समष्टि की सभी इकाइयों के विषय में जानकारी प्राप्त करना सम्भव हो तो वही लक्ष्यगत एवं वही अभिगम्य समष्टि होगी। दोनों में अन्तर नहीं होगा।

एक दूसरे दृष्टिकोण से समष्टि के सम (homogeneous) तथा विषम (heterogeneous) दो अन्य प्रकार भी होते हैं। जब सभी इकाइयों के बीच उनकी विशेषताओं के दृष्टिकोण से पर्याप्त समानता होती है तो उसे सम समष्टि समझा जाता है, परन्तु जब इकाइयों के समूह विभिन्न दृष्टिकोण ों से पर्याप्त भिन्नता रखते हुए समष्टि में समाये रहते हैं तो उस समष्टि को विषम समष्टि कहते हैं। इस प्रकार विषम समष्टि में भिन्नता वाली इकाइयों के अलग-अलग समूह बन जाते हैं। उन समूहों के बीच तो अन्तर होते हैं परन्तु प्रत्येक समूह के भीतर इकाइयों के बीच पर्याप्त समानता होती है अर्थात् प्रत्येक समूह लगभग सम होता है।

4.10 न्यादर्श

इस न्यादर्श के आधार पर ही अध्ययनगत निष्कर्ष घटित होते हैं तथा इन्हीं न्यादर्श-आधारित निष्कर्षों के आधार पर समष्टि के विषय में उद्देश्यों के अनुरूप सामान्यीकरण किया जाता है। यों कहें न्यादर्श के झरोखे से समष्टि का अवलोकन एवं अध्ययन किया जाता है। अवधारणा यह रहती है कि जो कुछ न्यादर्श के विषय में पाया गया है अथवा जो कुछ न्यादर्श के विषय में सही है वह समष्टि के विषय में भी वैसा ही होगा, उसके विषय में भी सही होगा, परन्तु यह बात सदैव ही सही नहीं होती। यह तभी कसौटी पर खरी उतरती है जब न्यादर्श का चयन वैज्ञानिक विधि से किया गया हो जो प्रतिनिधि-न्यादर्श (representative sample) की अनिवार्य शर्त होती है। यदि इस विधि से न्यादर्श का चयन नहीं किया गया है तो वह समष्टि का प्रतिनिधित्व नहीं करेगा और उस स्थिति में जो अध्ययनगत निष्कर्ष निकलेगा वह समष्टि के विषय में सही नहीं होगा। उस स्थिति में चयनित न्यादर्श को अभिनत्यात्मक न्यादर्श (biased sample) कहा जाता है।

अभिनत्यात्मक न्यादर्श की स्थिति में जो सांख्यिकीय न्यादर्श मान प्राप्त होता है वह उस सांख्यिकीय मान से बहुत भिन्न होता है, जो सम्पूर्ण समष्टि के अध्ययन करने पर उपलब्ध होता। उदाहरणार्थ, यदि अध्ययन का उद्देश्य आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि का सर्वेक्षण करना है और समष्टि की परिभाषा है मेरठ शहर के आठवीं कक्षा के विद्यार्थी। 25 विद्यालयों में से 10 विद्यालयों का न्यादर्श चुनकर अध्ययन करना है। अब यदि न्यादर्श इस प्रकार चुनते हैं कि जो अच्छे विद्यालय हैं उन्हें ले लिया जाता है तो इस प्रकार चयनित न्यादर्श अभिनत्यामक न्यादर्श

कहलायेगा। समष्टि के अन्दर अच्छे, बुरे तथा सामान्य स्तर के सभी प्रकार के विद्यालय हैं। उन सभी का प्रतिनिधित्व होना चाहिए था। उपरोक्त न्यादर्श में सामान्य स्तर के तथा बुरे विद्यालयों का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ। अत: वह अभिनति (bais) से ग्रसित हो गया। अभिनत्यात्मक न्यादर्श समष्टि के प्रतिनिधि नहीं होते। अत: उन पर आधारित मापांकों में स्थायी (fixed) अथवा सतत् (constant) त्रुटि (error) का समावेश रहता है। यही कारण है कि आनुमानिक अनुसंधानों (inferential research) में यह अनिवार्य होता है कि न्यादर्श अभिनति-मुक्त (free from bias) हो। दूसरे शब्दों, वह समष्टि का प्रतिनिधि हो।

प्रतिनिधि-न्यादर्श वह न्यादर्श होता है जिसमें समष्टि की सभी विशेषताओं, उसके सभी लक्षणों का, सभी गुणों का न्यूनाधिक मात्रा में समावेश हो, जो समष्टि का प्रतिरूप अथवा उसकी प्रतिकृति (replica) हो। यदि न्यादर्श का चयन समसम्भाविक विधि (rendomly) से किया जाता है तो उसमें अभिनति का कोई स्थ ान नहीं रहता तथा वह समष्टि का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। समसम्भाविक न्यादर्श की यह विशेषता होती है कि उसके आधार पर समष्टि के सांख्यिकीय मान का पूर्वानुमान (prediction) अधिक सही-सही किया जा सकता है। उसमें त्रुटि की संभावना कम होती है तथा जो त्रुटि होती है उसका भी अनुमान लगाया जा सकता है।

इस प्रकार के न्यादर्श का चयन करने हेतु एक न्यादर्श योजना (sample plan) तैयार करना आवश्यक होता है। इसका अर्थ है एक ऐसी योजना जिसके आधार पर समान आकार वाले बहुत से न्यादर्शों का चयन करके अध्ययन किए जाएँ, तो 90 प्रतिशत न्यादर्शों के परिणामों तथा उस परिण ाम के बीच जो सम्पूर्ण समष्टि के अध्ययन से प्राप्त होता है, 5 प्रतिशत से अधिक का अन्तर न हो। अर्थात् 100 से 90 न्यादर्श ऐसे हों जिनके परिणाम सम्पूर्ण समष्टि के परिणाम से 5 से अधिक ऊपर-नीचे न हों।

यदि योजना पर्याप्त रूप से इस बात का निश्चय कराती है कि जो न्यादर्श चयनित होगा वह समष्टि का प्रतिनिधित्व करेगा तो उसे प्रतिनिध-न्यादर्श-योजना (representative sampling plan) कहते हैं। उसी स्थिति में उपरोक्त धारणा भी सही संभव होती है। इस प्रकार की योजना के अन्तर्गत यह निश्चित हो जाता है कि जो विभिन्न प्रकार की इकाइयाँ न्यादर्श में चयनित हुई हैं वैसी ही समरूप इकाइयाँ समष्टि में भी समाविष्ट हैं तथा न्यादर्श में उनका समुचित प्रतिनिधित्व हुआ है।

न्यादर्श-संरचना

न्यादर्श-योजना तैयार करने हेतु एक न्यादर्श-संरचना अथवा न्यादर्श संदर्भ (sampling frame) तैयार करना पड़ता है।

इसके लिए ऐसी कल्पना की जाती है कि समष्टि सीमित है तथा उसकी समस्त इकाइयों की एक सूची तैयार की जा सकती है। यह सूची ही न्यादर्श-संदर्भ अथवा न्यादर्श-संरचना कहलाती है। यह सूची उपलब्ध होने पर न्यादर्श का चयन सरल एवं सम्भव हो जाता है।

गुल्म अथवा समूह

कभी-कभी समष्टि की परिभाषा उसके सबसे छोटे अंग के रूप में न करके उसके घटकों के गुल्मों अथवा समूहों के रूप में करनी पड़ती है। उस स्थिति में न्यादर्श-संरचना भी उन गुल्मों की सूची के रूप में ही तैयार करनी होती है। ये गुल्म, स्वाभाविक रूप में ही समष्टि में स्थित रहते हैं। जैसे विद्यार्थियों की कक्षाएँ अथवा विद्यालय, परिवार, जातियाँ, नगर, राज्य, विभिन्न प्रकार के समुदाय आदि। एक-एक विद्यार्थी की सूची न बनाकर विद्यालयों की सूची तैयार की जाती है तथा उनमें से

कुछ विद्यालयों का चयन करके एक न्यादर्श प्राप्त किया जाता है। यह न्यादर्श इकाइयों (छात्रों) के समूहों जो विद्यालय के रूप में उपलब्ध थे, पर आधारित होगा। अत: इस प्रकार चयनित न्यादर्श को गुल्म-न्यादर्श (cluster sampling) कहा जाता है तथा उसकी न्यादर्श-इकाई (sampling unit) एक व्यक्ति, एक वस्तु अथवा एक घटना न होकर उनके गुल्म अथवा समूह होते हैं।

नोट

4.11 न्यादर्श-प्रतिचयन की प्रक्रिया

न्यादर्श का प्रतिचयन करते समय अनुसंधानकर्ता को यह ध्यान में रखना पड़ता है कि कितने समय में उसे शोध का सम्पूर्ण कार्य पूरा करना है, कितना धन वह उसमें व्यय कर सकता है, कितने प्रशिक्षित व्यक्ति इस कार्य में उसकी मदद कर सकते हैं आदि। इन्हीं सब के आधार पर उसे यह निर्णय लेना होता है कि उसके न्यादर्श का आकार (size) क्या होना चाहिए। यह निश्चित हो जाने पर वह चयन-प्रक्रिया आरम्भ करता है। चयन-प्रक्रिया में सामान्यतया निम्नलिखित पदक्रम रहता है–

1. लक्ष्यगत एवं अभिगम्य समष्टि का निर्धारण एवं उसकी व्याख्या करना।
2. न्यादर्श-इकाई की परिभाषा करना।
3. न्यादर्श-संरचना अथवा सूची तैयार करना।
4. न्यादर्श-आकार निर्धारित करना।
5. न्यादर्श-प्रतिचयन की विधि का निर्धारण करना।
6. योजना को क्रियान्वित करना तथा न्यादर्श-इकाइयों का चयन करना।

4.12 न्यादर्श-प्रतिचयन की तकनीक अथवा विधियाँ

उन सभी विधियों एवं तकनीकों को जिनका प्रयोग न्यादर्श-प्रतिचयन में किया जाता है, दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। ये हैं–

(क) संभाविता-न्यादर्श प्रतिचयन विधि (Probability sampling techniques)

(ख) असंभाविता-न्यादर्श प्रतिचयन विधि (Non-probability sampling techniques)

4.13 संभाविता प्रतिचयन विधि

अनुसंधान की परिस्थिति में जो प्रश्न इस संदर्भ में उपस्थित होता है वह यह है कि एक न्यादर्श के आधार पर जो सांख्यिकीय परिणाम प्राप्त होता है उसके सम्पूर्ण सृष्टि–आधारित परिणाम (समष्टि के अध्ययन द्वारा प्राप्त परिणाम) के ऊपर-नीचे एक निश्चित सीमा के भीतर होने की संभावना (.05 अथवा .01 अथवा इनके समीप) क्या है? इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि समष्टि-आधारित मान, न्यादर्श-आधारित मान से एक निश्चित मात्रा से अधिक भिन्न नहीं होगा इसकी संभावना क्या है? कभी-कभी प्रश्न इस प्रकार भी किया जाता है कि न्यादर्श के अनुसंधानगत समष्टि के प्रतिनिधि स्वरूप होने की संभावना क्या है, वह कहाँ तक समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है, वह उसी समष्टि का अंग है अथवा उससे भिन्न किसी दूसरी समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है।

संभाविता-प्रतिचयन विधि की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. समष्टि की प्रत्येक इकाई के न्यादर्श में चयन की सम्भावना निश्चित की जा सकती है। सामान्यतया न्यादर्श में चुने जाने की संभावना प्रत्येक इकाई की समान होती है। यह

आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक इकाई को न्यादर्श में सम्मिलित किया जाए। आवश्यक यह है कि प्रत्येक के न्यादर्श में सम्मिलित होने की संभावना निश्चित हो।

यह इस कथन की संभावना प्रदान करती है कि न्यादर्श-आधारित परिणाम समष्टि-आधारित परिणाम से एक निश्चित मात्रा से अधिक भिन्न नहीं होगा।

2. संभाविता प्रतिचयन विधि के आधार पर ही यह अनुमान लगाना भी संभव होता है कि अनुसंधान-परीक्षण में कितनी त्रुटि का समावेश है। यह त्रुटि न्यादर्श-आधारित परिणाम एवं समष्टि आधारित परिणाम के अन्तर का ही प्रतीक होती है। इसे "त्रुटि-सीमा" (margin of error) अथवा "शुद्धता की सीमा" (limit of accuracy) भी कहते हैं। यह वह सीमा होती है जिसे शोधकर्ता अनुसंधानगत परिस्थिति में स्वीकार करने को तैयार होता है। संभावित प्रतिचयन विधि के अन्तर्गत यह अनुमान लगाना संभव होता है कि यह त्रुटि कितनी होगी। सार्थकता का स्तर (.05 अथवा .01 अथवा कोई अन्य) जिसे शोधकर्ता चुनता है, त्रुटि की संभावना को भी निर्धारित कर देता है।

4.14 संभाविता प्रतिचयन विधि के प्रकार

ंभाविता प्रतिचयन विधि के दो प्रकार होते हैं–(i) सरल सम-सम्भाविक प्रतिचयन विधि तथा (ii) स्तरीकृत सम-सम्भाविक प्रतिचयन विधि।

सरल सम-संभाविक प्रतिचयन विधि

न्यादर्श प्रतिचयन की जितनी भी वैज्ञानिक विधियाँ हैं उन सब में सरल सम-संभाविक विधि एक अत्यंत मूलभूत संकल्पना है। संभाविता प्रतिचयन विधियों में यही सर्वप्रमुख है। अन्य विधियाँ इसी की रूपांतरमात्र हैं। इसी मूलभूत संकल्पना में थोड़े-बहुत परिवर्तन करके उनका निर्माण किया गया है। अतः सरल सम-संभाविक प्रतिचयन विधि की संकल्पना को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

यह विधि एक ऐसी प्रक्रिया पर आधारित है जिसके अन्तर्गत न केवल प्रत्येक इकाई के न्यादर्श में सम्मिलित होने की समान संभावना ही निश्चित होती है, बल्कि समान आकार वाले इकाइयों के सभी सम्भव गुल्मों (lewgksa) के न्यादर्श के रूप में चुने जाने की संभावना भी समान होती है। उदाहरणार्थ क, ख, ग, घ, च, छ इकाइयों की समष्टि में से यदि दो-दो इकाइयों के समूह बनाएँ तो कुल 15 गुल्म (कख, कग, कघ, कच, कछ, खग, गघ, खच, खछ, गघ, गच, घच, घछ, तथा घछ) बनेंगे। इनमें से प्रत्येक के न्यादर्श रूप में चयनित होने की संभावना समान अर्थात् 1/5 होगी। इसी प्रकार किसी परिस्थिति में यदि 20 समूह बन सकते हैं तो प्रत्येक न्यादर्श रूप में चयनित होने की संभावना अर्थात् 1/20 अथवा 5 प्रतिशत होगी। इस प्रकार सरल सम-संभाविक विधि की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि समष्टि के जितने भी सम्भव न्यादर्श हो सकते हैं उनमें से प्रत्येक के चयन की संभावना समान होती है।

इस तकनीक के अन्तर्गत न्यादर्श-चयन की तीन प्रमुख विधियाँ आती हैं–(i) परम्परागत लाटरी विधि अथवा ड्रम-चक्र विधि अथवा कागज की पर्चियाँ बनाकर उनमें से किसी एक को बिना देखे प्रत्येक बार चुनना आदि। (ii) दूसरी विधि सम-संभाविक संख्या तालिका (random number tables) के प्रयोग पर आधारित है तथा तीसरी विधि (iii) क्रमबद्ध प्रतिचयन (systematic sampling) है।

लाटरी विधि के अन्तर्गत कागज की छोटी-छोटी पर्चियाँ बनाई जाती हैं, उन पर समष्टि की इकायों की क्रम-संख्याएँ (जो समष्टि सूची में लिखी रहती हैं) लिखकर तथा उनकी गोलियाँ बनाकर

नोट

किसी डिब्बे अथवा थैले अथवा घड़े आदि में डाल देते हैं। प्रत्येक पर्ची पर एक ही क्रमसंख्या लिखी जाती है। फिर खूब हिलाकर उसमें से एक-एक पर्ची निकालते जाते हैं तथा उस संख्या को लिखते जाते हैं। जब जितनी इकाइयाँ वांछनीय हैं उतनी प्राप्त हो जाती हैं तो इस प्रक्रिया को बंद कर देते हैं। इस क्रिया को दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता है। एक में जो पर्ची निकाली जाती है उसे संख्या नोट करने के बाद पुन: उसी डिब्बे में डाल दिया जाता है। दूसरे प्रकार में उस पर्ची को बाहर निकाल दिया जाता है। प्रत्येक बार जो शेष इकाइयाँ रह जाती हैं उन्हीं में से अगली बार दूसरी पर्ची निकाली जाती है। पहले प्रकार में जिसमें निकाली हुई पर्ची पुन: डिब्बे में डाल दी जाती है प्रत्येक बार निकाली गई इकाई के चयन की संभावना समान बनी रहती है। ड्रम-चक्र विधि में ड्रम का प्रयोग किया जाता है। ड्रम पर 0 से 9 तक संख्याएँ रहती हैं। जब ड्रम पर लगी सुई को घुमाया जाता है तो जो संख्याएँ आती जाती हैं उन्हें लिख लिया जाता है। जब जितनी इकाइयाँ चाहिए उतनी प्राप्त हो जाती हैं तो यह क्रिया बंद कर दी जाती है एवं नोट की गई क्रमसंख्या वाली इकाइयों को चुन कर न्यादर्श तैयार कर लिया जाता है। इस विधि का प्रयोग उस स्थिति में ही सुविधाजनक होता है जहाँ समष्टि का आकार छोटा हो तथा एक बहुत छोटा न्यादर्श चयन किया जाना हो।

इसके लिए एक तालिका का प्रयोग करते हैं जो प्राय: सांख्यिकी की सभी पुस्तकों में उपलब्ध होती है। इस तालिका में जो संख्याएँ लिखी होती हैं उन्हें सम-संभाविक विधि द्वारा तैयार किया जाता है। वे अभिनतिमुक्त (free from bias) होती हैं। ये संख्याएँ स्तम्भों में लिखी रहती हैं, परन्तु इन्हें पंक्तिवार, स्तंभवार किसी प्रकार से भी प्रयोग में लाया जा सकता है। नीचे तालिका के एक छोटे अंश को प्रस्तुत किया गया है–

42827	70203	78569	60281
41519	84612	30877	37989
38273	91905	33891	31641
48225	65290	85998	11528
56506	28841	56560	28947
29280	51213	96336	79288
73184	26689	05928	65869
52677	23027	51511	87251

तालिका के प्रयोग की विधि इस प्रकार होती है। मान लीजिए समष्टि में कुल इकाइयों की संख्या 600 है जो सूचीबद्ध हैं तथा क्रमसंख्या भी पड़ी हैं। मान लीजिए 600 में से 15 इकाइयाँ चुननी हैं। इसके लिए सबसे पहले आँख बंद करके किसी भी संख्या पर हम उंगली रख देते हैं। मान लीजिए यह संख्या तालिका में दूसरे स्तंभ की दूसरी संख्या 84612 आई। हम इसे छोड़ देंगे क्योंकि यह 600 से ऊपर है। यहाँ यह स्मरण रखा होगा कि हम तालिका-संख्याओं के अन्तिम तीन अंकों का ही प्रयोग कर रहे हैं क्योंकि हमारी समष्टि-संख्या भी तीन अंकों की ही है। 612 अंक 600 से ऊपर होने के कारण हम इसका त्याग कर देते हैं। अब आगे चलते हैं तो 905 मिलता है। इसे भी छोड़ देंगे और आगे चले तो 290 मिला। इसे नोट कर लेंगे: इसी प्रकार उन सब संख्याओं को नोट कर लेंगे जो 600 से कम हैं। इस प्रकार हमें 290, 213, 27, 569, 560, 336, 511, 281, 528, 288, 251, 519, 273, 225, 506, ये 15 संख्याएँ मिलेंगी। इन क्रम-संख्याओं वाली इकाइयों को हम सूची में से छाँटकर न्यादर्श तैयार कर लेंगे।

तीसरी विधि क्रमबद्ध प्रतिचयन की है। इसमें समष्टि-सूची की किसी इकाई पर भी आँख बंद करके उँगली रखकर उसका चयन कर लेते हैं। इसके बाद क्रमानुसार तीसरी, चौथी, पाँचवीं आदि इकाई का चयन करते चले जाते हैं। जब वांछनीय संख्या प्राप्त हो जाती है तो क्रिया बंद कर देते हैं। तीसरी, चौथी, पाँचवीं आदि में से कौन-सी का चयन करेंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि समष्टि की कुल संख्या कितनी हैं तथा उनमें से कितनी इकाइयाँ लेनी हैं। मान लीजिए 100 में से 25 लेनी हैं तो पहली इकाई का चयन करने के बाद उससे आगे प्रत्येक चौथी लेते चले जायेंगे। 100 को 25 से भाग करने पर यह संख्या आ जाएगी। यदि 100 में से 25 लेना है तो प्रत्येक पाँचवीं इकाई लेंगे। इस प्रकार न्यादर्श का प्रतिचयन हो जाएगा। यह विधि भी सरल सम-संभाविक प्रतिचयन का ही एक परिवर्तित रूप है। इस विधि में यह आवश्यक होता है कि समष्टि-इकाइयों की जो सूची तैयार की जाए वह अभिनतिमुक्त हो। उसे सम-संभाविक विधि द्वारा ही तैयार किया जाना चाहिए। अन्यथा न्यादर्श के प्रतिचयन का संभावित प्रतिचयन की श्रेणी में वर्गीकरण नहीं किया जा सकेगा।

स्तरीकृत सम-संभाविक प्रतिचयन

यह भी सरल सम-संभाविक प्रतिचयन विधि का ही एक दूसरा रूप है। इसमें सम्पूर्ण समष्टि को पहले कुछ विशिष्ट स्तरों खण्डों, वर्गों अथवा श्रेणियों में बाँट लिया जाता है। यह स्तरीकरण कुछ ऐसी विशेषताओं अथवा चरों (variables) के आधार पर किया जाता है जिनके विषय में समझा जाता है कि वे अध्ययनगत परिणामों को प्रभावित कर सकते हैं। इसके पश्चात् प्रत्येक खण्ड अथवा वर्ग (stratum) में से सम-संभाविक विधि द्वारा दधछ के अनुपात में इकाइयों का चयन कर लिया जाता है। इसमें छ सम्पूर्ण समष्टि की इकाइयों की संख्या होती है तथा द उस खण्ड (stratum) की कुल इकाइयों की संख्या है जिनमें से इकाइयों का चयन किया जाना है।

इस विधि में यह आवश्यक है कि खण्ड, वर्ग अथवा स्तर स्वयं में समांग अथवा सजातीय (homogeneous) हों परन्तु एक-दूसरे से संदर्भगत विशेषता के दृष्टिकोण से भिन्न अथवा विषमजातीय (heterogeneous) हों। इस प्रकार चयनित न्यादर्श पर आधारित परिणाम सरल संभाविक प्रतिचयन की अपेक्षा अधिक शुद्ध होते हैं। उतने ही शुद्ध परिणाम सरल सम-संभाविक विधि द्वारा चयनित न्यादर्श के आकर को बढ़ाकर भी प्राप्त किए जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से स्तरीकृत सम-संभाविक प्रतिचयन अधिक मितव्ययी (economical) होता है।

स्तरीकृत सम-संभाविक प्रतिचयन विधियाँ भी दो प्रकार की होती हैं–(i) आनुपातिक (proportionate) एवं (ii) अ-आनुपातिक (disproportionate)। आनुपातिक विधि के अन्तर्गत इकाइयों का चयन प्रत्येक खण्ड में से उसी अनुपात में किया जाता है जिस अनुपात में वे सम्पूर्ण समष्टि में स्थित होती हैं।

यह आनुपातिक प्रणाली कहलाती है, परन्तु ऐसा तभी सम्भव होता है जब शोधकर्ता को समष्टि की इकाइयों के विषय में, उनके पारस्परिक अनुपात के विषय में पूरा-पूरा ज्ञान हो। अनेक बार ऐसा सम्भव नहीं होता। यदि ऐसा सम्भव भी हो तो भी कुछ समय पश्चात् वह ज्ञान निरर्थक हो जाता है क्योंकि कुछ विशेषताएँ ऐसी होती हैं जो बहुत शीघ्रता से परिवर्तित होती रहती हैं, जैसे अभिभावकों की आय, बालकों की विकास दर, व्यक्तियों के आर्थिक-सामाजिक स्तर। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक परिस्थिति में अनुसंधान का आधार आनुपातिक स्तरीकृत सम-संभाविक प्रतिचयन ही होता है या होना चाहिए। कभी-कभी इकाइयों का चयन अ-आनुपातिक रूप में करना अधिक वांछनीय हो सकता है। कुछ परिस्थितियों में ऐसा करना ही पड़ता है। अतः यह नहीं समझना चाहिए

कि आनुपातिक स्तरीकृत सम-संभाविक प्रतिचयन ही एक विकल्प है, दूसरा कोई रास्ता हीं नहीं है। अनुसंधान के क्षेत्र में कोई भी परिस्थिति आदर्श एवं अनिवार्य नहीं होती। परिस्थिति के अनुसार ही प्रत्येक की उपयोगिता एवं महत्त्व होते हैं।

नोट

अ-आनुपातिक स्तरीकृत सम-संभाविक प्रतिचयन का अर्थ होता है एक ऐसी प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत प्रत्येक स्तर अथवा वर्ग में से जो इकाइयाँ चुनी जाती हैं, वे न तो वर्गानुसार समान संख्या वाली होती हैं और न आनुपातिक। प्रत्येक खण्ड में से अलग-अलग संख्याओं में इन्हें चुना जाता है जब कोई वर्ग बहुत छोटा होता है तब ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। तब उस वर्ग से अधिक इकाइयाँ चुनना वांछनीय होता है ताकि उस वर्ग का सही-सही प्रतिनिधित्व हो सके। मान लीजिए एक वर्ग हमने उन विद्यालयों का बनाया है जिनमें अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पढ़ाई होती है और ऐसा केवल दो ही विद्यालय हैं। इस स्थिति में दोनों विद्यालयों को ही न्यादर्श में सम्मिलित करना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि एक विद्यालय दूसरे से बहुत भिन्न हो सकता है तथा वह उसका प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ हो सकता है तो कुछ वर्ग अन्त में इतने छोटे रह जाते हैं कि उनमें इकाइयों की पर्याप्त संख्या नहीं रह जाती। इस स्थिति में भी अ-आनुपातिक विधि का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। वास्तव में इकाइयों का अपनी-अपनी संख्या के आधार पर आनुपातिक होना आवश्यक नहीं होता बल्कि, आवश्यक होता है उनका उस चर की विचलनता (variability) के संदर्भ में आनुपातिक होना, जो अनुसंधानगत है। इस प्रकार अ-आनुपातिक स्तरीकृत प्रतिचयन का अर्थ होता है एक ऐसी विधि जिसमें प्रत्येक स्तरीकृत खण्ड में से जो इकाइयाँ चुनी जाती हैं उनका खण्ड के आकार से कोई संबंध नहीं होता। इसकी विशेषता यह है कि यह विधि मितव्ययी (economical) होती है। इसका दोष यह है कि इस प्रकार चुना गया न्यादर्श समष्टि का बहुत सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं करता और इसी कारण उसके आधार पर प्राप्त परिणाम भी अधिक शुद्ध नहीं होते अर्थात् उनके द्वारा समष्टि-मानों का अनुमान बहुत सही-सही नहीं लगाया जा सकता। ये परिणाम तुलनात्मक दृष्टिकोण से कम विश्वसनीय होते हैं।

स्तरीकृत समसंभाविक प्रतिचयन का प्रयोग करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए–

1. खण्डों, वर्गों अथवा श्रेणियों (strata) के विषय में शोधकर्ता को अद्यावधिक, पूर्ण, सही-सही जानकारी होनी चाहिए।
2. जिन आधारों पर स्तरीकरण किया गया है वे तर्कसंगत होने चाहिए, अर्थात् वे अध्ययन की समस्या से जुड़े होने चाहिए।
3. खण्डों की इकाई संख्या पर्याप्त रूप से अधिक होनी चाहिए अर्थात् उनका आकार बड़ा होना चाहिए ताकि उनमें से पर्याप्त इकाइयों का चयन सम्भव हो सके।
4. वर्गों में आन्तरिक रूप से समानता (homogeneity) तथा परस्पर एक-दूसरे के बीच असमानता अर्थात् विषमजातीयता (heterogeneity) होनी चाहिए।
5. जहाँ तब सम्भव हो, शोधकर्ता द्वारा निर्मित वर्गों के स्थान पर परिवेश में स्वाभाविक रूप से स्थित वर्गों का ही प्रयोग करना चाहिए।

इसमें शोधकर्ता को कुछ बंधनों, कुछ नियंत्रणों के अधीन न्यादर्श का प्रतिचयन करना पड़ता है। इसके कुछ लाभ हैं तो कुछ नुकसान भी हैं। लाभ तो यह है कि इसमें समष्टि के प्रत्येक अंग का न्यादर्श में प्रतिनिधित्व हो जाता है, कोई अंग छूटा नहीं रहता। इस प्रकार जो न्यादर्श उपलब्ध होता

है वह समष्टि का बहुत सही-सही प्रतिनिधित्व कर पाता है। सरल समसंभाविक प्रतिचयन में अनेक बार ऐसा नहीं हो पाता। अत: स्तरीकृत समसंभाविक प्रतिचयन के आधार पर किए गए अनुसंधान के परिणाम अधिक विश्वसनीय होते हैं। न्यादर्श का आकार छोटा होने पर भी परिणाम अधिक शुद्ध होते हैं। इसका एक दोष यही है कि इसके प्रयोग हेतु समष्टि के विषय में बहुत जानकारी की आवश्यकता होती है जिसे प्राप्त करने के लिए बहुत प्रयास करना पड़ता है तथा कई बार कुछ जानकारी मिलना संभव भी नहीं होता। इसे इस विधि का नुकसान अथवा दोष कहना उचित नहीं प्रतीत होता। एक असुविधा के रूप में इसे स्वीकार करना चाहिए जिसे थोड़े प्रयास के द्वारा दूर भी किया जा सकता है।

4.15 न्यादर्श का आकार

प्राय: शोधकर्ता यह प्रश्न पूछा करते हैं कि न्यादर्श का आकार (size) कितना बड़ा होना चाहिए। इस प्रश्न का सटीक उत्तर असम्भव है क्योंकि यह बहुत-सी बातों पर निर्भर करता है। यह सामान्य ज्ञान की बात है कि न्यादर्श जितना बड़ा होगा, अनुसंधान का परिणाम भी उतना ही अधिक विश्वसनीय होगा, परन्तु निश्चित शुद्धता, निश्चित विश्वसनीयता प्राप्त करने के लिए उसका आकार क्या होना चाहिए, इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। समसंभाविक प्रतिचयन की स्थिति में तो मोटे तौर पर आकार का निर्धारण सम्भव भी है, परन्तु अन्य प्रकार की प्रतिचयन विधियों में यह बिल्कुल भी सम्भव नहीं है। अत: यहाँ सहसंभाविक प्रतिचयन के संदर्भ में ही आकार-निर्धारण की विधि का उल्लेख किया जा रहा है।

यह बात पहले लिखी जा चुकी है कि न्यादर्श का आकर जितना बड़ा होगा, परिणाम उतना ही अधिक विश्वसनीय होगा। अत: स्पष्ट है कि न्यादर्श का आकार बड़ा होना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका आकार अनावश्यक रूप से बड़ा हो। वास्तविकता यह है कि उसका आकार न तो बहुत बड़ा होना चाहिए और न बहुत अधिक छोटा। वह अनुकूलतम (optimum) होना चाहिए। अनुकूलतम आकार वह होता है जिससे अनुसंधान की विश्वसनीयता, नम्यता एवं प्रभाविकता (efficiency) सुनिश्चित होती है तथा न्यादर्श को समष्टि का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता प्रदान करता है। उसे उतना ही छोटा होना चाहिए कि बस अनावश्यक व्यय से बचा सके। इस प्रकार उसे उतना ही बड़ा होना चाहिए कि न्यादर्श-त्रुटि (sample error) के ग्राह्य सीमा से बाहर जाने से बचा जा सके। उसे उतना ही बड़ा होना चाहिए कि न्यूनतम व्यय के साथ तथा वांछनीय रूप से विश्वसनीय परिणाम उपलब्ध हो सकें।

न्यादर्श के आकार को कई कारक तत्व प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ हैं–(i) समष्टि का स्वरूप (विषमजातीय समष्टि के न्यादर्श का आकार बड़ा होगा), (ii) आँकड़ों का तालिकाकरण (यदि बहुत-सी श्रेणियों में उन्हें बाँटना हो तो बड़े न्यादर्श की आवश्यकता होगी), (iii) अनुसंधान सामग्री (data) एकत्र करने हेतु शोधकर्ता को उपलब्ध संसाधन जैसे समय, धन, जनशक्ति आदि, (iv) मनोवैज्ञानिक परीक्षणों की संख्या एवं उनके विस्तार, (v) न्यादर्श की इकाइयों का भौगोलिक प्रसार, (vi) इकाइयों की उपलब्धि अर्थात् कुछ इकाइयों का उपलब्ध न होना (mortality), (vii) न्यादर्श-चयन की विधि, (viii) मापांकों के सांख्यिकीय विश्लेषण की विधि, (ix) अनियंत्रित चरों की संख्या (यदि उनकी संख्या अधिक है तो न्यादर्श का आकार बड़ा होगा, (x) वांछनीय परिणाम (यदि परिणाम बहुत अधिक शुद्ध एवं विश्वसनीय चाहिए तो न्यादर्श का आकार बड़ा होगा) आदि।

न्यादर्श-आकार की गणना

नोट

इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि (i) न्यादर्श-आकार की गणना केवल संभाविता प्रतिचयन की स्थिति में ही सम्भव होती है, (ii) यह गणना दो बातों पर आधारित होती है–(क) समष्टि-विचरण (population variance) तथा (ख) वांछनीय विश्वास-सीमा (confidence limit), तीसरे (iii) यह कि गणना के जो सूत्र उपलब्ध हैं वे पूर्णतया ही आकार का निर्धारण नहीं करते बल्कि लगभग वांछनीय आकार उपलब्ध कराते हैं। इसी संदर्भ में यह भी जान लेना आवश्यक है कि न्यादर्श का आकार इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना कि उसका प्रतिनिधिरूप होना महत्त्वपूर्ण होता है।

न्यादर्श के आकार-निर्धारण की कुछ विधियाँ इस प्रकार हैं–

1. कुछ वैज्ञानिकों ने ऐसी तालिकाएँ तैयार की हैं जिनके द्वारा समष्टि के आकार के अनुसार न्यादर्श के आकार का निर्धारण किया जा सकता है। ऐसी एक तालिका डॉ. आर. पी. सिंह ने 1973 में प्रस्तुत की थी। उसके अनुसार यदि समष्टि का आकार 10 इकाइयों का है तो न्यादर्श का आकार भी 10 इकाइयों का होना चाहिए। इसी प्रकार समष्टि का आकार यदि क्रमशः 15, 30, 50, 100, 200, 400, 500, 600, 800, 1000, 1500, 3000, 5000, 10,000, 50,000 तथा 1,00,000, हो तो न्यादर्श का आकार उसी क्रम से 14, 28, 44, 80, 132, 196, 217, 234, 260, 278, 306, 341, 357, 370, 381 तथा 384 होना चाहिए।
2. दूसरे प्रकार से न्यादर्श के आकार की गणना करने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है–(i) एक तो परिणाम की वांछनीय शुद्धता (precision) तथा दूसरी (ii) समष्टिगत विचरण का परिणाम (estimate of population variance)। वांछनीय शुद्धता का अर्थ है कि कितनी त्रुटि अनुसंधान के परिणाम में सहनीय है। एक, दो, तीन या चार आदि कितने अंकों तक की त्रुटि सहनीय होगी, स्वयं निश्चित करना होता है। समष्टि-विचरण या तो एक छोटा सा प्रारम्भिक अध्ययन करके पता लगाया जा सकता है अथवा पहले यदि कोई ऐसा अध्ययन हुआ है तो उससे जाना जा सकता है। यदि यह भी संभव नहीं है तो उसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। यदि इतना भी ज्ञात हो जाए या अनुमान लगाया जा सके कि सम्पूर्ण समष्टि में अध्ययनगत चर का विस्तार क्या है अर्थात् उसके प्रसार की निम्नतम और उच्चतम सीमाएँ क्या हैं तो उन दोनों के अन्तर को लेकर उसे 6 से भाग देकर प्रमाप विचलन (standard deviation) ज्ञात किया जा सकता है।

परिणाम की शुद्धता का दूसरे शब्दों में यह अर्थ भी होता है कि अनुसंधानगत चर पर समष्टि एवं न्यादर्श के मध्यमानों के बीच कितना अन्तर किस स्थिति में सहनीय है। यह 2% अथवा 5% कुछ भी स्वीकार किया जा सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि शोधकर्ता का लक्ष्य क्या है, वह कितना अधिक सही परिणाम चाहता है। यदि हृदय रोग की किसी औषधि का परीक्षण किया जा रहा है तो निश्चय ही शोधकर्ता चाहेगा कि त्रुटि बहुत कम अर्थात् 1% अथवा उससे भी कम हो। यदि शिक्षण की दो विधियों की परस्पर तुलना की जा रही है कि कौन-सी विधि अधिक प्रभावशाली है तो कुछ अधिक त्रुटि को भी सहन किया जा सकता है। प्रमाप-त्रुटि (standar error) की संभावना (probability) एक ऐसा सांख्यिकीय मान है जो यह बता देता है कि किसी न्यादर्श के उस सीमा के भीतर होने की क्या संभावना है जो सहनीय त्रुटि की है तथा जिसका निर्धारण पहले किया जा चुका है। यदि विश्वास-सीमा .05 अथवा 95% स्तर पर निर्धारित की जाती है तो

95 प्रतिशत न्यादर्श ± 2 S.E. के बीच आयेंगे। प्रमाण-त्रुटि (S.E.) समस्त न्यादर्शों की विचरण-सीमा (range) का 1/6 मानी जाती है, परन्तु दूरतम (extreme) अन्तर अथवा विचरण कभी-कभी ही होते हैं। अतः प्रमाप-त्रुटि न्यादर्श की विचरण-सीमा का 1/4 ही मानी जाती है। इस प्रकार .95 स्तर पर विश्वास-सीमा निर्धारित करने पर ऐसा न्यादर्श हमें चुनना होगा जिसकी प्र. त्रु. (S.E.) सहनीय त्रुटि का 1/2 हो। यदि विश्वास-सीमा इससे भी ऊपर .99 स्तर पर निर्धारित की जाती है तो न्यादर्श की प्र. त्रु. सहनीय त्रुटि का और भी छोटा प्रमाप होगी। इसी आधार पर यह भी माना जाता है कि यदि अनुसंधान के परिणाम की शुद्धता बढ़ानी हो अर्थात् उसकी प्र. त्रु. घटानी है तो न्यादर्श के आकार को बढ़ाना होगा। शुद्धता को दो गुना बढ़ाने के लिए न्यादर्श के आकार को चार गुना बढ़ाना होगा। तीन गुना बढ़ाने के लिए न्यादर्श के आकार को नौ गुना तथा चार गुना बढ़ाने के लिए न्यादर्श के आकार को सोलह गुना बढ़ाना होगा। इसका अर्थ हुआ कि परिणाम की शुद्धता की वृद्धि का गुणांक न्यादर्श के आकार की वृद्धि के गुणांक का वर्गमूल होता है।

पार्टन (1965) ने न्यादर्श-आकार ज्ञात करने के दो सूत्र प्रस्तुत किए हैं। एक प्रतिशत पर आधारित है तथा दूसरा मध्यमानों पर। ये इस प्रकार हैं–

(क) $$N = \frac{P.C.\ (100 - P.C.)\ Z^2}{T^2}$$

इस सूत्र का प्रयोग तब किया जाता है जब समष्टि-मान तथा न्यादर्श-मान का अन्तर प्रतिशत में हो। इसमें P.C. समष्टि का अनुमानित प्रतिशत मान होता है, Z प्रमाप त्रुटि (S.E.) की संख्या है जो .05 अथवा .01 आदि स्तरों पर तालिका से उपलब्ध होती है, T सहनीय त्रुटि है जो 5% अथवा 2% कुछ भी हो सकती है। वास्तव में यह सूत्र प्र. त्रु. (S.E.) सूत्र का ही परिवर्तित रूप है।

(ख) दूसरा सूत्र इस प्रकार है–

$$N = \left(\frac{\sigma \times S.E.\ units}{T}\right)^2 \text{ अथवा } \left(\frac{\sigma\, Z}{T}\right)^2$$

इस सूत्र में σ = समष्टि का अनुमानित प्रमाप-विचलन (standard deviation)

Z = S.E. की इकाई संख्या

T = सहनीय त्रुटि (5% अथवा 2%)

उदाहरण–मान लीजिए एक औषधि की प्रभाविकता का अध्ययन किया जा रहा है तथा शोधकर्ता को .95 संभाविता स्तर 2% से अधिक त्रुटि सहनीय नहीं है तो कितने रोगियों के न्यादर्श पर उसे परीक्षण करना चाहिए, वह यह जानना चाहता है। इस स्थिति में न्यादर्श का आकार होगा–

सहनीय त्रुटि = $1.96 \times S.E.$

क्योंकि S.E. का सूत्र होता है $\frac{\sigma}{\sqrt{N}}$ (σ = S.D.)

अतः सहनीय त्रुटि = $1.96\ \frac{\sigma}{\sqrt{N}}$

यदि सहनीय त्रुटि 2 है तो $2 = 1.96\ \frac{\sigma}{\sqrt{N}}$

यदि अनुमानित S.D. 10 है तो $2 = 1.96 \frac{\sigma}{\sqrt{N}}$

इसे हल कने पर N = 96 (लगभग)

नोट

इस प्रकार न्यादर्श-आकार की गणना करने पर यह नहीं समझना चाहिए कि इसके आधार पर जो परिणाम उपलब्ध होग वह पूर्णतया वांछनीय शुद्धता (accuracy) का प्रतीक होगा। ऐसा तभी सम्भव होगा जब न्यादर्श का चयन भी आदर्श हो जो प्रायः नहीं होता, तो भी न्यादर्श-आकार निर्धारित करने की यह एक उपयोगी विधि है।

न्यादर्श का सही-सही आकर निर्धारित करने की एक दूसरी विधि भी है। इसे प्रतिचयन स्थिर परीक्षण (stability test of sampling) कहते हैं। इसके अन्तर्गत एक के बाद दूसरा न्यादर्श चुनकर तथा उस पर परीक्षण करते चले जाते हैं। जब बराबर दो-तीन परीक्षणों पर परिणाम लगभग समान आने लगते हैं तो वहीं रुक जाते हैं तथा वही न्यादर्श का उपयुक्त आकार होता है। उदाहरणार्थ, पहले 10 इकाइयों के छोटे समूह पर परिणाम प्राप्त किया, फिर दूसरा न्यादर्श 15 इकाइयों का लिया। उस पर परीक्षण किया तथा पहले और दूसरे न्यादर्श को मिलाकर परिणाम का आगणन किया और देखा कि परिणाम की शुद्धता कितनी बढ़ी। इसी प्रकार पुनः तीसरा न्यादर्श 20 इकाइयों का लिया, उस पर परीक्षण किया और अब पहले, दूसरे तथा तीसरे न्यादर्श को मिलाकर परिणाम का आगणन किया। यदि अब भी परिणाम वही रहा जो पहले था तो समझा जाएगा 10 + 15 = 25 इकाइयों वाला न्यादर्श पर्याप्त था।

4.16 गुल्म प्रतिचयन

प्रतिचयन की इस विधि में न्यादर्श की इकाई (unit) कोई एक व्यक्ति, एक घटना, एक वस्तु न होकर उनका एक गुल्म अथवा समूह होता है जैसे छात्रों की कक्षाएँ, विद्यालय, समुदाय आदि। संभाविता एवं अ-संभाविता दोनों प्रकार के प्रतिचयनों में इसका प्रयोग किया जा सकता है। यह अधिक सुविधाजनक होता है। यही इसकी विशेषता है, परन्तु इसके दोष कई एक हैं। इसमें त्रुटि की मात्रा अधिक होती है। संभाविता प्रतिचयन की तुलना में एक निश्चित शुद्धता हेतु इसमें पर्याप्त रूप से बड़े न्यादर्श की आवश्यकता होती है। समान आकार वाले समष्टि के प्रत्येक न्यादर्श के चयन की संभावना समान नहीं होती। जो लाभकारी विशेषताएँ संभाविता प्रतिचयन की होती हैं वे इसमें नहीं पाई जातीं। अतः संभाविता प्रतिचयन की तुलना में यह कम उपयोगी होता है।

महलानवीस (1944) ने इस विधि में थोड़ा परिवर्तन करके एक नई विधि का विकास किया है जिसे उन्होंने अतिच्छादी आयत-संतल प्रतिचयन विधि (overlapping grid-sampling) की संज्ञा दी है।

4.17 बहुचरणीय प्रतिचयन

यह विधि गुल्म प्रतिचयन का ही विस्तार अथवा परिवर्तित रूप है। इसके अन्तर्गत पहले समष्टि में से इकाइयों के बड़े-बड़े समूह छाँट लिए जाते हैं। इनका चयन भी समसंभाविक विधि से किया जाता है। यह प्रतिचयन का पहला चरण हुआ। इसके बाद इन चयनित समूहों के भीतर स्थित अन्य छोटे समूहों का चयन किया जाता है। यह दूसरा चरण हुआ। इसी प्रकार इन समूहों में से वांछनीय इकाइयों को चुना जाता है। यह तीसरा चरण हुआ। प्रत्येक चरण में चयन की प्रक्रिया समसंभाविक

रहती है। जैसे–यदि एक नगर के आठवीं कक्षा के 150 विद्यार्थियों का न्यादर्श लेना है तो इसके लिए पहले हम नगर के 50 विद्यालयों में 10 विद्यालय समसंभाविक विधि द्वारा छाँट लेंगे (प्रथम चरण)। इसके बाद इन 10 विद्यालयों में से प्रत्येक में से कक्षा 8 का एक सेक्शन लाटरी विधि से छाँट लेंगे (दूसरा चरण)। अब प्रत्येक सेक्शन में से क्रमबद्ध प्रतिचयन विधि द्वारा 15, 15 विद्यार्थी चुन लेंगे (तीसरा चरण)। इस प्रकार 150 विद्यार्थियों का न्यादर्श उपलब्ध हो जाएगा।

इस विधि द्वारा न्यादर्श का चयन करने में वे सभी दोष रहते हैं जो गुल्म प्रतिचयन विधि में पाए जाते हैं। इस विधि का प्रयोग भी संभावित एवं अ-संभाविता दोनों प्रकार के प्रतिचयनों में किया जाता है।

4.18 असंभाविता प्रतिचयन विधियाँ

संभाविता प्रतिचयन विधियों की एक महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि उनके अन्तर्गत समष्टि की प्रत्येक इकाई के न्यादर्श में आने की संभावना समान होती है तथा यह भी ज्ञात रहता है कि प्रत्येक इकाई के न्यादर्श में सम्मिलित होने की सम्भावना क्या है? साथ ही उनके आधार पर यह भी जाना जा सकता है कि अनुमानतः न्यादर्शगत परिणाम में कितनी त्रुटि है अथवा कितना शुद्ध है, परन्तु असंभाविता प्रतिचयन विधियों में ऐसा नहीं होता। उनमें समष्टि की इकाइयों के न्यादर्श में सम्मिलित होने की संभावना समान नहीं होती। किसी इकाई के न्यादर्श में आने की संभावना क्या होगी, यह भी नहीं जाना जा सकता। अतः इस बात का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता कि इन विधियों द्वारा चयनित न्यादर्श के आधार पर प्राप्त परिणाम की शुद्धता क्या है, उसमें कितनी त्रुटि है। तो भी इनकी अनुसंधान में अपनी उपयोगिता है। उनका प्रयोग भी प्रायः किया जाता है। कुछ परिस्थितियों में तो उनका कोई विकल्प भी नहीं होता। अतः इन विधियों की जानकारी भी आवश्यक है। कुछ प्रमुख विधियों का उल्लेख आगे किया गया है।

1. संयोगजन्य प्रतिचयन (Accidental, Incidental or Opportunity Sampling)

इस विधि के अन्तर्गत प्रतिचयन की कोई पूर्व योजना नहीं होती। न कोई समष्टि-संदर्भ होता है, न कोई इकाइयों की सूची। बस जहाँ जो मिल गया उसी से शोध-सामग्री प्राप्त कर ली जाती है। किसी घटना, विषय तथा तथ्य के बारे में जनता क्या सोचती है, इसका सर्वेक्षण प्रायः पत्रकार किया करते हैं। कुछ लोगों के विचार जो उन्हें संयोग से कहीं मिल जाते हैं, लेकर वे अपनी रिपोर्ट लिख देते हैं। इसी प्रकार प्रदर्शनियों में, मेलों में, विद्यालयों में जहाँ कहीं जो भी मिल जाता है वही प्रतिचयन की इकाई बन जाता है। इसे संयोगजन्य प्रतिचयन कहते हैं।

2. अभ्यंश प्रतिचयन (Quota Sampling)

इस विधि के अन्तर्गत पहले समष्टि को कुछ विशिष्ट खण्डों में अथवा वर्गों में विभाजित कर लिया जाता है। इन्हें उप-समष्टियाँ (sub-populations), श्रेणियाँ, विशिष्ट क्षेत्र, वर्ग, खण्ड, विशिष्ट स्तर कुछ भी कहा जा सकता है। इसके पश्चात् प्रत्येक खण्ड अथवा क्षेत्र की जनसंख्या अर्थात् कुल इकाइयों का निर्धारण किया जाता है तथा यह भी निर्धारित किया जाता है कि वह समष्टि का कौन-सा अनुपात है। तत्पश्चात् यह निर्धारित किया जाता है कि प्रत्येक में से कितना अंश अर्थात् कितनी इकाइयाँ न्यादर्श में सम्मिलित की जायेंगी। यह भी साधारणतया उसी अनुपात में निर्धारित किया जाता है जो खण्डों एवं समष्टि के बीच होता है। प्रत्येक क्षेत्र अथवा खण्ड में से कितनी निर्धारित

इकाइयाँ किस प्रकार चुनी जायेंगी यह शोधकर्ता की अपनी सूझबूझ, अपने निर्णय पर निर्भर करता है। मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि समष्टि की सभी प्रकार की इकाइयों का न्यादर्श में समावेश हो सके।

यह विधि बहुत कुछ स्तरीकृत समसंभाविक प्रतिचयन विधि की भाँति ही है। अन्तर इतना है कि इसमें प्रत्येक वर्ग अथवा खण्ड में से इकाइयों का चयन समसंभाविक विधि द्वारा नहीं किया जाता। चयन शोधकर्ता अथवा साक्षात्कारकर्ता के अपने विवेक एवं निश्चय पर निर्भर करता है।

नोट

वास्तव में इस विधि में यह भी अनिवार्य नहीं होता कि प्रत्येक खण्ड में से इकाइयों की संख्या उसी अनुपात में चुनी जाए जिस अनुपात में समष्टि में स्थित हैं। आवश्यक केवल इतना ही समझा जाता है कि प्रत्येक खण्ड में से पर्याप्त इकाइयाँ न्यादर्श में सम्मिलित हो सकें। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि खण्डों से ली गई इकाइयाँ उनकी प्रतिनिधि होंगी। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता इस विधि द्वारा प्राप्त न्यादर्श समष्टि का प्रतिनिधि रूप होगा।

अत: इस प्रकार चयनित न्यादर्श के आधार पर प्राप्त परिणाम में सन्निहित त्रुटि का भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। ऐसी मान्यता है कि इस विधि द्वारा चुने गए न्यादर्श के आधार पर प्राप्त परिणाम की शुद्धता तुलनात्मक दृष्टिकोण से काफी कम होती है।

प्रयोजनात्मक प्रतिचयन

इस प्रकार के प्रतिचयन के पीछे यह लक्ष्य रहता है कि कुछ ऐसी इकाइयों को समष्टि में चुन लिया जाए जो उस समष्टि के अनुरूप हों जिसमें शोधकर्ता की रुचि है अथवा जो उस प्रयोजनानुसार है। ऐसी कौन-सी इकाइयाँ होंगी तथा कितनी चुनी जायेंगी यह शोधकर्ता के अपने निर्णय पर आधारित होता है। निर्णय का आधार उसके अनुसंधान का अभिप्राय अथवा उद्देश्य होता है। प्रक्रिया के पीछे अवधारणा यह रहती है कि उद्देश्य को सामने रखकर तथा अपने विवेक का प्रयोग करते हुए शोधकर्ता स्वयं ऐसी इकाइयों का चयन कर सकता है जो उस समष्टि के अनुरूप हों जिस पर वह अनुसंधान करना चाहता है। ऐसा माना जाता है कि इकाइयों के चयन संबंधी निर्णय में शोधकर्ता से जो त्रुटियाँ होती हैं वे एक-दूसरे को खण्डित (बंदबमस) करती रहती हैं तथा अन्त में जो न्यादर्श निकलकर आता है वह अभीष्ट समष्टि का प्रतिनिधि रूप होता है। यथार्थ में ऐसा होता नहीं। परस्पर मान्यता ऐसी है। मौलि के अनुसार, प्रयोजनात्मक प्रतिचयन में इकाइयों का चयन ऐसे निष्कर्ष (criterion) के आधार पर किया जाता है जो न्यादर्श-चयन में द्वितीय नियंत्रक के रूप में कार्य करता है। उदाहरण के लिए, यदि बुद्धिमान परन्तु पढ़ने-लिखने में पिछड़े हुए बालकों का अध्ययन करना है तो ऐसे बालकों के न्यादर्श-चयन में पढ़ने-लिखने में पिछड़े सभी प्रकार के बालकों को न लेकर केवल उन्हीं को लेंगे जो बुद्धिमान हैं। अत: बुद्धि एक ऐसा निष्कर्ष हुआ जो द्वितीय नियंत्रक का कार्य कर रहा है। अनुसंधान का उद्देश्य एक विशिष्ट बाल-समूह का अध्ययन करना है। अत: शोधकर्ता अपने विवेक के आधार पर उद्देश्य को सामने रखकर न्यादर्श का चयन करेगा।

मौलि ने प्रयोजनात्मक प्रतिचयन को स्तरीकृत प्रतिचयन का ही एक रूप माना है। इसी प्रकार उन्होंने अभ्यंश प्रतिचयन (quota sampling) को प्रयोजनात्मक प्रतिचयन (purposive sampling) का एक विशिष्ट रूप माना है।

प्रतिचयन की इस विधि में भी इकाइयों के न्यादर्श में सम्मिलित होने की संभावना समान नहीं होती। प्रत्येक इकाई की संभावना या तो एक होती है अथवा शून्य। इसमें समय की तो बचत होती है परन्तु परिणाम अधिक सही नहीं होते। साथ ही इस विधि के समुचित प्रयोग हेतु समष्टि

की विशेषताओं का बहुत अच्छा ज्ञान होना अति आवश्यक है। परिणाम में कितनी त्रुटि है अर्थात् परिणाम की शुद्धता क्या है इसका भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

निर्णयात्मक प्रतिचयन

नोट

जब शोधकर्ता इकाइयों का चयन अपने स्वयं के विवेक एवं ज्ञान के आधार पर करता है तो उसे निर्णयात्मक प्रतिचयन कहते हैं। जैसे, यदि यह जानना है कि ग्रामीण लोगों का जनसंख्या-नियंत्रण कार्यक्रम के प्रति क्या दृष्टिकोण है और शोधकर्ता केवल 3 या 4 गाँव चुनकर उसमें अपना अध्ययन करता है तथा उनके आधार पर सम्पूर्ण ग्रामवासियों के विषय में अपना मत व्यक्त करता है, तो यह 3-4 गाँवों का न्यादर्श निर्णयात्मक प्रतिचयन के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन 3-4 गाँवों के चयन के पीछे शोधकर्ता का यह विवेक, यह ज्ञान है कि ये गाँव, ग्रामवासियों की समस्त जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। न करते हों यह बात दूसरी है उसके अपने निर्णय के अनुसार तो करते हैं।

इस प्रकार, चयनित न्यादर्श के भी वही दोष हैं जिनका उल्लेख प्रयोजनात्मक प्रतिचयन के अन्तर्गत किया गया है। इसके आधार पर प्राप्त परिणाम भी अधिक शुद्ध नहीं होते। उनमें भी पर्याप्त त्रुटि बनी रहती है, तो भी बहुत से अध्ययनों में, विशेषकर समाजशास्त्र के क्षेत्र में, इस प्रकार के न्यादर्शों पर अध्ययन किए गए हैं।

इस प्रकार जितनी भी असंभाविता प्रतिचयन विधियाँ हैं वे सभी पर्याप्त रूप से असंतोषजनक हैं। उनकी शुद्धता का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उनके परिणामों में कितनी त्रुटि है इसका आकलन नहीं किया जा सकता। अतः इनके न्यादर्शाधारित परिणामों के आधार पर समष्टि की विशेषताओं के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। परिणामों का सामान्यीकरण संभव नहीं होता तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये सारी विधियाँ निरर्थक एवं बेकार हैं। इनके अन्तर्गत जो परिणाम प्राप्त होते हैं वे नवीन संकल्पनाओं, नये दृष्टिकोणों, कई प्रकार की अतिरिक्त अवधारणाओं को जन्म दे सकते हैं जिनका परीक्षण अधिक वैज्ञानिक ढंग से बाद में किया जा सकता है। जिन परिस्थितियों में बहुत अधिक शुद्धता की आवश्यकता नहीं होती, जैसे प्रारंभिक अध्ययनों में, वहाँ इन विधियों का प्रयोग उपयोगी हो सकता है। साथ ही जहाँ शोधकर्ता को समष्टि की विशेषताओं का पूरा-पूरा ज्ञान न हो अथवा समष्टि की इकाइयों का स्वरूप स्पष्ट न हो, संभव न हो अथवा अनिवार्य न हो, उन परिस्थितियों में इन विधियों का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु परम आवश्यक यह है कि प्राप्त परिणामों की व्याख्या भी इन सब संरोधनों (बवदेजतंपदजे) को सामने रखकर करनी चाहिए।

4.19 न्यादर्श-त्रुटि

न्यादर्श-प्रतिचयन-विधियों के संदर्भ में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकल्पना न्यादर्श-त्रुटि (sampling error) की है जिसे अच्छी तरह समझना बहुत आवश्यक है। न्यादर्श-त्रुटि अथवा प्रतिचयन-त्रुटि का प्रश्न वहाँ उठता है जहाँ न्यादर्श के आधार पर प्राप्त परिणाम का समष्टि के ऊपर आरोपण किया जाता है अर्थात् यह कहा जाता है कि समूची समष्टि की वही विशेषता है जो न्यादर्श में पाई गई है। न्यादर्श के आधार पर जो परिणाम प्राप्त होते हैं वे अधिकतर सांख्यिकीय मानों अथवा मापांकों के रूप में होते हैं, जैसे न्यादर्श का किसी चर पर मध्यमान, दो मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता का माप अर्थात् टी-मान, एफ-मान आदि। इन मानों के परीक्षण के आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है वह समष्टि की व्याख्या का भी आधार बनता है तथा कहा जाता है कि जो न्यादर्श के विषय में सही है वह समष्टि के विषय में भी सही होगा। इसे परिणाम का सामान्यीकरण (generalization)

नोट

कहते हैं। परन्तु इस प्रकार का सामान्यीकरण तभी सही एवं संभव होता है जब न्यादर्श समष्टि का प्रतिनिधित्व करता हो। जितनी अधिक प्रतिनिधित्व की क्षमता उसमें होगी उतनी ही सामान्यीकरण की भी संभावना अधिक होगी। ऐसा इसलिए कहा जाता है कि यदि-न्यादर्श समष्टि का बहुत अधिक प्रतिनिधित्व करता है अर्थात् समष्टि के समरूप है तो जो मान न्यादर्श के आधार पर प्राप्त हुआ है वही मान समष्टि का भी होगा अर्थात् यदि सम्पूर्ण समष्टि का उसी चर पर माप लेकर उस मान को ज्ञात किया जाए तो वह न्यादर्शाधारित मान के बराबर अथवा लगभग बराबर होगा। इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जितना समष्टि-मान न्यादर्श-मान से दूर होगा (अन्तर जितना अधिक होगा) उतनी ही अधिक न्यादर्शाधारित मान में त्रुटि होगी। इस प्रकार न्यादर्श त्रुटि का अर्थ हुआ समष्टि-मान एवं न्यादर्श-मान के अन्तर की मात्रा।

समष्टि-मान एवं न्यादर्श-मान के बीच अन्तर कई कारणों से हो सकता है, परन्तु इन कारणों का एक स्रोत न्यादर्श का समष्टि के समरूप अथवा प्रतिनिधिरूप न होना भी है। ऐसी मान्यता है कि यदि न्यादर्श को समसंभाविक विधि द्वारा चुना गया है तो वह प्रतिनिधि रूप होगा, परन्तु शत-प्रतिशत समष्टि का समरूप होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः समरूप होते हुए भी न्यादर्श-मान को त्रुटि-विहीन नहीं माना जा सकता और न्यादर्श का चयन समसंभाविक विधि द्वारा नहीं किया गया है तब तो वह समष्टि का प्रतिनिधित्व बिल्कुल ही नहीं करेगा। उस स्थिति में न्यादर्श-त्रुटि और भी अधिक हो सकती है। इस प्रकार न्यादर्श-त्रुटि का संबंध न्यादर्श-चयन की विधि एवं न्यादर्श के प्रकार के साथ जुड़ा होता है। इसीलिए न्यादर्श के कारण जो त्रुटि उत्पन्न होती है उसे न्यादर्श त्रुटि कहते हैं।

न्यादर्श त्रुटि के प्रकार

न्यादर्श त्रुटि के दो प्रकार होते हैं–(क) समसंभाविक त्रुटि (random error) तथा (ख) क्रमिक (systematic) अथवा अचल त्रुटि (constant error)।

(क) समसंभाविक त्रुटि का संबंध समसंभाविक न्यादर्श-प्रतिचयन से होता है। ऐसी मान्यता है कि समसंभाविक विधि से न्यादर्श का चयन करने पर इकाइयों के बीच अन्तर एक-दूसरे को निरस्त करते चले जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप न्यादर्शाधारित जो मान उपलब्ध होता है वह समष्टिमान के बहुत समीप आ जाता है तथा त्रुटि पर्याप्त रूप से कम हो जाती है, परन्तु ऐसा नहीं माना जाता कि त्रुटि पूर्णतया समाप्त हो जाती है। फिर भी कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जाती है। इसी को समसंभाविक त्रुटि कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसे पूर्णतया समाप्त तो नहीं किया जा सकता परन्तु उसे (क) कम अवश्य किया जा सकता है तथा (ख) जितनी हो सकती है उसका अनुमान भी लगाया जा सकता है। उसे कम करने का एक उपाय है न्यादर्श के आकार में वृद्धि करना। कितने प्रतिशत न्यादर्शों में कितनी त्रुटि हो सकती है अथवा त्रुटि की अधिकतम सीमा क्या हो सकती है यह जानकारी भी प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए सूत्र द्वारा पहले प्रमाप त्रुटि (S.E.) ज्ञात करनी पड़ती है, जिसका सूत्र होता है–

मान लीजिए S.E. 2.0 आती है, तो 95 प्रतिशत न्यादर्शों में यह त्रुटि $\pm 1.96 \times 2 = \pm 3.92$ होगी तथा 99 प्रतिशत न्यादर्शों में यह $\pm 2.58 \times 2 = 5.16$ होगी। यदि न्यादर्श का मध्यमान 100 है तो 95 प्रतिशत में समष्टि-मध्यमान 96.08 – 103.92 के बीच होगा। इसी प्रकार 99 प्रतिशत में वह 94.84 – 105.16 के बीच होगा। इस प्रकार त्रुटि के आधार पर समष्टि-मान का अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु यह तभी सम्भव होता है जब न्यादर्श का चयन समसंभाविक विधि द्व

ारा किया जाता है तथा वह समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। समसंभाविक त्रुटि की संकल्पना भी इसी से जुड़ी होती है।

(ख) क्रमिक अथवा अचल त्रुटि न्यादर्श के अभिनतिबद्ध (biased) होने के कारण उत्पन्न होती है। इस त्रुटि में न्यादर्श की इकाइयों के बीच जो अन्तर उत्पन्न होते हैं वे एक-दूसरे को निरस्त नहीं करते जैसा कि समसंभाविक न्यादर्श की स्थिति में होता है बल्कि वे अन्तर सभी इकाइयों में समानरूप से बने रहते हैं तथा दिशोन्मुख (directional) होते हैं अर्थात् एक ही दिशा में प्रभावी रहते हैं; या तो उससे सारी इकाइयों में माप समान रूप से बढ़ते चले जाते हैं या घटते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि यह ज्ञात करना है कि एक नगर के नवीं कक्षा के विद्यार्थियों की गणित विषय की औसत शैक्षिक उपलब्धि क्या है और यह जानने के लिए हमने कुछ विद्यालयों के केवल कक्षा 9 'अ' के विद्यार्थियों की उपलब्धि का मापन करके उसका औसत निकाला तो इसमें क्रमिक त्रुटि का समावेश हो जायेगा क्योंकि कक्षा 'अ' में प्रायः सबसे योग्य विद्यार्थियों को ही रखा जाता है। अतः उनकी उपलब्धि समान रूप से बढ़ी हुई आएगी। सब विद्यार्थियों के अंक बढ़े हुए रहेंगे। इसी प्रकार यदि केवल कक्षा 'स' को लेंगे तो सब विद्यार्थियों के अंक घटे हुए आयेंगे क्योंकि कक्षा 'स' में उन विद्यार्थियों को रखा जाता है जो सबसे कम योग्य हैं। इस प्रकार क्रमिक त्रुटि समान रूप से किसी एक दिशा में ही कार्य करती है। मापांकों को या तो घटाती है या बढ़ाती है।

क्रमिक त्रुटि अथवा अचल त्रुटि को निरस्त करने अथवा घटाने का एक ही उपाय है कि न्यादर्श-चयन अभिनतिमुक्त (free from bias) हो। समसंभाविक विधि द्वारा न्यादर्श-चयन करने पर यह त्रुटि नियंत्रित हो जाती है, परन्तु प्रायः ये ऐसी त्रुटियाँ होती हैं कि उनका आभास नहीं हो पाता। अनुसंधान के क्षेत्र में इन त्रुटियों को "दुष्ट त्रुटियाँ" (bad errors) माना जाता है क्योंकि इनका किसी प्रकार भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वे सांख्यिकी के समसंभाविता सिद्धांत के दायरे से बाहर होती हैं। कभी-कभी यह जानना भी कठिन होता है कि वे किस दिशा में क्रियाशील हैं। अतः उनके प्रति शोध के समय सजग रहना बहुत आवश्यक है। जिस प्रकार भी संभव हो उन्हें पूर्णतया नियंत्रित करने का प्रयास करना चाहिए।

4.20 परिकल्पना का अर्थ एवं स्वरूप

जब किसी व्यक्ति के समक्ष कोई कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, तो वह उसके निवारण के उपाय भी सोचने लगता है। फलस्वरूप, जो उपाय उसके मस्तिष्क में आते हैं, वे ही समस्या के सम्भावित समाधान होते हैं। यह दूसरी बात है कि वे बाद में सत्य सिद्ध न हों अथवा सत्य सिद्ध हों। उदाहरण के लिए, एक छात्र परीक्षा में बार-बार असफल घोषित होता है। इसका क्या कारण है, यह जानने के लिए अनुसंधान हेतु उसे मनोवैज्ञानिक को सौंप दिया जाता है। समस्या के समाधान हेतु मनोवैज्ञानिक उसके असफल होने के कारणों की कल्पना करता है। हो सकता है उसमें बुद्धि का अभाव हो, हो सकता है वह पढ़ने-लिखने में पहले से ही कमज़ोर हो, हो सकता है वह परीक्षा के समय अस्वस्थ हो गया हो, हो सकता है उसकी पढ़ने-लिखने में रुचि न हो आदि कितनी ही परिकल्पनाएँ सम्भव हो सकती हैं। इनमें से कौन सत्य तथा कौन असत्य है, यह तो बाद में परीक्षण द्वारा ही पता लगेगा। इस प्रकार परिकल्पनएँ एक प्रकार से समस्या के सम्भावित समाधान होती हैं। यदि समस्या को प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। (जैसे, छात्र बार-बार असफल क्यों होता है?) तो ये परिकल्पनाएँ इस प्रश्न के सम्भावित उत्तर समझे जा सकते हैं, परन्तु वैज्ञानिक अनुसंधान का आरंभ इसी बिन्दु से होता है।

नोट

परिकल्पना अंग्रेजी भाषा के शब्द 'हाइपोथिसिस' (hypothesis) का हिन्दी रूपांतर है, जिसका अर्थ है ऐसी मान्यता (thesis) जो अभी अपुष्ट (hypo) है।

हौडनेट के शब्दों में, परिकल्पनाएँ शोधकर्ता की आँखें होती हैं जिनके द्वारा वह समस्यागत अव्यवस्था (अव्यवस्थित तथ्यों) में झाँककर देखता है तथा उनमें समस्या का समाधान खोजता है। **वान डालेन** के अनुसार, परिकल्पना शोधकर्ता का समस्या के समाधान अथवा समस्यात्मक प्रश्न के उत्तर के विषय में एक बुद्धिमत्तापूर्ण अनुमान (intelligent guess) होती है। वह परिकल्पना को समस्या का ऐसा समाधान मानते हैं, जो **केवल** एक सुझाव के रूप में होता है। कर्लिगर का मानना है कि परिकल्पना दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध के विषय में एक प्रकार का कल्पनाजन्य कथन होती है। जैसे, 'बुद्धि बालकों की शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करती है' यह एक परिकल्पना है। इसमें बुद्धि एवं शैक्षिक उपलब्धि के बीच एक विशिष्ट प्रकार के संबंध की कल्पना की गई है।

जब कोई समस्या व्यक्ति के समक्ष उत्पन्न होती है और उसका समाधान खोजने का वह प्रयास करता है, तो पहले अपने ज्ञान, अनुभव, अध्ययन आदि के आधार पर कल्पना करता है कि उसका संभव समाधान क्या हो सकता है। इसी प्रकार जब किसी प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास करता है, तो पहले कल्पना करता है कि उसका सम्भावित उत्तर क्या हो सकता है। इन सम्भावित समाधानों, सम्भावित उत्तरों को वह सामान्यानुमानों (generalizations) के रूप में प्रस्तुत करता है तथा बाद में यह परीक्षण करता है कि वे कहाँ तक सत्य हैं। ये सामान्यानुमान ही परिकल्पनाएँ कहलाती हैं। इस प्रकार परिकल्पना बेस्ट (1977) के शब्दों में, एक ऐसा पूर्वानुमान (inference) होती है, जिसका निर्माण वस्तुस्थिति, घटनाओं एवं परिस्थितियों की व्याख्या करने हेतु अस्थायी रूप से किया जाता है और जो अनुसंधान-कार्य को आगे बढ़ाने में सहायता करती है अर्थात् बाद में परीक्षण के द्वारा यदि वह सत्यापित हो जाती है तो समस्या का समाधान हो जाता है तथा वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है।

प्रतिदिन ही हम अपने दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान इसी प्रकार (अर्थात् परिकल्पना का निर्माण और फिर उसका परीक्षण) करते हैं। कमरे मे जल रहा बल्ब अचानक बुझ जाता है, तुरंत व्यक्ति स्वयं से पूछता है "क्या हुआ"? एक समस्या उत्पन्न हुई है। इस समस्या का समाधान, उस प्रश्न का उत्तर पाने हेतु वह एक-एक परिकल्पना का निर्माण करता है और उसका परीक्षण करता है। अन्त में, उसे वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। पहले अनुमान लगाता है अर्थात् परिकल्पना का निर्माण करता है "सम्भवत: स्रोत से ही विद्युत गई है।" वह बाहर निकल कर और घरों की ओर देखता है तथा पाता है कि और सबके घरों में तो बिजली आ रही है। अत: यह परिकल्पना असत्य सिद्ध हो जाती है। तब दूसरी परिकल्पना करता है "अपने घर का ही फ्यूज तो नहीं उड़ गया"। वह कट-आउट निकालकर फ्यूज का परीक्षण करता है तथा पाता है कि उसमें कोई खराबी नहीं है। यह परिकल्पना भी असत्य सिद्ध होती है। तब वह तीसरी परिकल्पना का निर्माण करता है "बल्ब तो फ्यूज नहीं हो गया"। बल्ब का परीक्षण करने पर पाता है कि वह फ्यूज हो गया है। यह परिकल्पना सत्य सिद्ध होती है। इसी बिन्दु पर पहुँचकर समस्या का समाधान भी हो सकता है तथा सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जाती है। सभी समस्याओं के समाधान खोजने के पीछे यही प्रक्रिया रहती है तथा उसमें परिकल्पनाओं (पूर्वानुमानों, सम्भावित उत्तरों एवं समाधानों) की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अनुसंधान भी समस्या-समाधान की ही एक विशिष्ट एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। अत: अनुसंधान में भी परिकल्पनाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

जो ज्ञातव्य है, उसके विषय में 'क्या है', 'क्यों है', इस विषय में पूर्वानुमान लगाना ही परिकल्पना होती है।

4.21 परिकल्पना के प्रकार

नोट

व्यवहार-वैज्ञानिक अपने अनुसंधानों में कई प्रकार की परिकल्पनाओं का प्रयोग करते हैं। विभिन्न लेखकों ने कई प्रकार से उनका वर्गीकरण किया है। आगे इनका विस्तार से उल्लेख किया गया है–

1. **गुड तथा हैट का वर्गीकरण–**गुड तथा हैट (1952) ने परिकल्पना के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। यह वर्गीकरण उन्होंने इस आधार पर किया है कि परिकल्पना में अभिव्यक्त अमूर्तता का स्तर (level of abstraction) क्या है? यदि अनुसंधान का स्तर ऊँचा है, तो परिकल्पना का स्तर भी ऊँचा होगा। यह इस पर निर्भर करता है कि अनुसंधान के निष्कर्ष अथवा सामान्यन (generalizations) कितने अमूर्त (abstract) अथवा व्यापक हैं। इस दृष्टिकोण से परिकल्पनाएँ (i) साधारण अथवा निम्नस्तरीय (lowest level)] (ii) उच्चस्तरीय अथवा जटिल स्तरीय (higher level), (iii) उच्चतम स्तरीय अथवा जटिलतम स्तरीय (highest level) तीन प्रकार की होती हैं।

   (i) साधारण अथवा निम्नस्तरीय परिकल्पना: इस स्तर की परिकल्पनाएँ केवल साधारण स्तर के अनुसंधानों में पाई जाती हैं तथा वे कुछ अनुभवाधीन (empirical) समानताओं (uniformities) का ही वर्णन करती हैं। वे बहुत साधारण से अनुमान एवं कथन के रूप में होती हैं। जैसे, ग्यारह वर्षीय बालक अति संवेदनशील होते हैं, आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों की औसत बुद्धि 90-100 के बीच होती है, भारत के पिछड़े वर्गों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति संतोषजनक नहीं है आदि। ये सब साधारण स्तर के अनुसंधानों की परिकल्पनाएँ हैं।

   (ii) उच्चस्तरीय परिकल्पनाएँ: उपरोक्त से उच्चस्तरीय परिकल्पनाएँ संकल्पनाओं (concepts) के पारस्परिक संबंधों पर आधारित होती हैं। इनमें समानताओं की अमूर्तता का स्तर उच्च स्तर का होता है। ये समानताओं में सन्निहित किसी अमूर्त संकल्पना की अभिव्यक्ति करती हैं। इस प्रकार की परिकल्पना पर आधारित अनुसंधान का उद्देश्य घटनाओं का गहन अध्ययन होता है।

   इस परिकल्पना में अनुसंधान का उद्देश्य केवल यह जानना मात्र नहीं है कि ये बालक संवेदनशील होते हैं अथवा नहीं, बल्कि उसके आगे यह जानना है कि क्या उनकी संवेदनशीलता का कारण उनके भीतर तेजी से हो रहे शारीरिक परिवर्तन हैं। अत: यह परिकल्पना साधारण स्तर की न रहकर कुछ जटिल हो गई।

3. **उच्चतम स्तरीय परिकल्पना:** इस स्तर की परिकल्पना में अमूर्त वैचारिकता (abstract thinking) का सबसे अधिक ऊँचा स्तर निहित रहता है। अत: इस स्तर के अनुसंधान सबसे अधिक जटिल होते हैं। प्रथम एवं द्वितीय स्तर की परिकल्पनाओं का संबंध "क्या है" से होता है, जबकि तृतीय (उच्चतम) स्तर की परिकल्पनाओं का संबंध "क्यों है" से होता है। इन्हीं के आधार पर उच्च स्तर के सिद्धांतों (theories) एवं नियमों (laws) का विकास होता है। उदाहरण के लिए यह अनुमान लगाना कि शारीरिक परिवर्तन संवेदनशीलता की वृद्धि के कारण क्यों और कैसे बनते हैं, उच्चतम स्तर की परिकल्पना को जन्म देगा।

नोट

शारीरिक परिवर्तन एवं संवेदनशीलता संबंधी अनुभवाधीन समानताओं को परस्पर जोड़ने वाली उस कड़ी को खोजना होगा, जो किसी दूसरी शृंखला की कड़ी है। इस स्थिति में चिंतन का स्तर सर्वाधिक अमूर्त होगा। अनुसंधान की जटिलता भी बहुत अधिक होगी। इस प्रकार की परिकल्पना का निर्माण शोधकर्ता की उच्चस्तरीय सृजनात्मक क्षमता एवं कल्पना-शक्ति पर निर्भर करेगा।

परिकल्पना का कथन किस प्रकार किया गया है इस दृष्टिकोण से उसके दो प्रकार पाए जाते हैं। ये हैं– (i) प्रश्नरूप तथा (ii) घोषणात्मक रूप।

(i) प्रश्नरूप परिकल्पना प्रश्न के रूप में होती है, जैसे, "क्या गृह-परिवेश बालकों के मनोवैज्ञानिक विकास को प्रभावित करता है?" कुछ शोधकर्ता परिकल्पनाओं को प्रश्नों के रूप में ही प्रस्तुत करना पसंद करते हैं।

(ii) घोषणात्मक परिकल्पना एक निश्चय-कथन (assertion) के रूप में होती है। उसमें एक तथ्य की अनुमानित घोषणा रहती है। यह तथ्य किसी घटना की वस्तुस्थिति अथवा चरों के पारस्परिक संबंधों के विषय में एक पूर्वानुमान के रूप में होता है। यह सीधा-सीधा एक कथन मात्र होता है, जैसे गृह-परिवेश बालकों के मनोवैज्ञानिक विकास को प्रभावित करता है। अधिकतर शोधकर्ता इसी रूप में परिकल्पनाओं को प्रस्तुत करते हैं।

उपरोक्त दोनों रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। केवल लिखने और कथन करने में ही अन्तर होता है।

एक अन्य दृष्टिकोण से परिकल्पनाओं को दो श्रेणियों में बाँटा गया है–(i) प्रायोगिक परिकल्पना (experimental hypothesis) तथा (ii) सांख्यिकीय परिकल्पना (statistical hypothesis)।

(i) प्रायोगिक परिकल्पना को मौलिक (substantive) परिकल्पना, वैज्ञानिक परिकल्पना (scientific hypothesis), अनुसंधान परिकल्पना (research hypothesis), व्यावहारिक परिकल्पना (operational hypothesis), सामान्य (general)] परिकल्पना, अनुभवगम्य (empirical) परिकल्पना तथा विकल्प परिकल्पना (alternative hypothesis H1) भी कहते हैं, इन्हें प्रश्नरूप तथा घोषणात्मक रूप दोनों में व्यक्त किया जा सकता है। साथ ही ये साधारण, उच्चतर तथा उच्चतम तीनों में से किसी भी स्तर के हो सकते हैं।

(ii सांख्यिकीय परिकल्पना को अप्रतिष्ठेय परिकल्पना (null hypothesis, H0) अथवा निराकरणीय परिकल्पना अथवा शून्य परिकल्पना भी कहते हैं। प्रायोगिक परिकल्पना का परीक्षण (testing) स्वयं के आधार पर ही सीधे नहीं किया जा सकता। अतः उसे सांख्यिकीय परिकल्पना में बदलकर अप्रत्यक्ष रूप से उसका परीक्षण किया जाता है। सांख्यिकीय परिकल्पना का परीक्षण सांख्यिकीय विधि द्वारा किया जाता है। इस परीक्षण में उसे अस्वीकार करके प्रायोगिक परिकल्पना को स्वीकार किया जाता है। उदाहरण के लिए "गृह-परिवेश बालकों के आ मबोध (self-concept) को प्रभावित करता है।" इस प्रायोगिक परिकल्पना को सांख्यिकीय परिकल्पना में बदलने पर यह "गृह-परिवेश बालकों के आत्मबोध पर कोई प्रभाव नहीं डालता" इस प्रकार व्यक्त किया जायेगा।

एक अन्य दृष्टिकोण से सांख्यिकीय एवं प्रायोगिक परिकल्पनाएँ भी दो प्रकार की होती हैं–(i) दिशा-सूचक (directional) तथा (ii) दिशाहीन (non-directional)।

दिशा-सूचक परिकल्पना को एक-छोरीय (one-tailed) परिकल्पना भी कहते हैं। इसमें तुलनीय समूहों के अन्तरों की दिशा निर्धारित होती है, अर्थात् एक समूह के मध्यमान को दूसरे समूह के मध्यमान के ऊपर या नीचे समसंभावना वक्र के किस ओर लेना है, यह निर्दिष्ट रहता है। इसमें समसंभावना वक्र के एक ही छोर का प्रयोग करना होता है। जैसे, बालकों की शैक्षिक उपलब्धि बालिकाओं की शैक्षिक उपलब्धि से अच्छी होती है। इसे सांख्यिकीय परिकल्पना (null hypothesis) में बदलने पर यह होगी "बालकों की शैक्षिक उपलब्धि बालिकाओं की शैक्षिक उपलब्धि से अच्छी नहीं होती।" इस परिकल्पना के परीक्षण हेतु बालिकाओं की शैक्षिक उपलब्धि के मध्यमान को समसंभावना वक्र के मध्य में रखेंगे तथा बालकों के मध्यमान को उसके दायें छोर पर ऊपर रखेंगे। अन्तर केवल वक्र के एक छोर पर ही स्थित होगा।

दिशाहीन परिकल्पना को द्वि-छोरीय (two-tailed) परिकल्पना भी कहते हैं। इसमें समूहों के मध्यमान का अन्तर वक्र के किसी एक छोर पर ही लिया जाएगा, ऐसा निर्दिष्ट नहीं होता। यह अन्तर दोनों छोर पर स्थित होता है, अर्थात् अन्तर की दिशा उसमें निर्दिष्ट नहीं होता। जैसे, "बालक एवं बालिकाओं की बुद्धि में अन्तर होता है" (सांख्यिकीय रूप में "अन्तर नहीं होता")। इस परिकल्पना में यह निर्दिष्ट नहीं है कि किसी बुद्धि का मध्यमान दूसरे समूह के मध्यमान से अधिक या कम है। केवल यह देखना है कि अन्तर है या नहीं। यदि बालकों की बुद्धि के मध्यमान को समसंभावना वक्र के केन्द्र में रखते हैं, तो बालिकाओं का मध्यमान वक्र के केन्द्र के बायीं अथवा दायीं किसी भी ओर हो सकता है। यदि बालकों के मध्यमान से कम है, तो बायीं ओर तथा यदि अधिक है तो दायीं ओर होगा। चाहे जिस ओर हो, अन्तर तो होगा ही। इसी का परीक्षण करना होता है। इसीलिए इस प्रकार की परिकल्पना को द्वि-छोरीय अथवा दिशाहीन परिकल्पना कहते हैं। केवल परिकल्पना के कथन अथवा लिखने से पता चल जाता है कि वह दिशा-सूचक है अथवा दिशाहीन। दिशाहीन में "अन्तर है" अथवा "अन्तर नहीं है" इन शब्दों का प्रयोग रहता है, परन्तु दिशा-सूचक में "कम है", "अधिक है", "श्रेष्ठ है", "अच्छा है", "बुरा है" आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग रहता है।

4.22 परिकल्पना का महत्त्व अथवा उद्देश्य

अनुसंधान में परिकल्पना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि कई उद्देश्यों की पूर्ति उनके माध्यम से होती है। शोधकर्ताओं का मत है कि जहाँ संभव हो वहाँ अनुसंधान को परिकल्पना का सहारा लेना ही चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि परिकल्पना के बिना कोई अनुसंधान हो ही नहीं सकता। कर्लिगर के अनुसार, परिकल्पना के बिना भी अनुसंधान सम्भव है। उनके अनुसार विशेषकर अन्वेषणात्मक (exploratory) अनुसंधानों में परिकल्पना अनिवार्य नहीं होती, परन्तु आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में ऐसा संभव नहीं है। वान डालेन का मत है कि उन अनुसंधानों में जिनमें कार्य-कारण (cause-effect) संबंध की खोज लक्ष्य है, परिकल्पना विशेष रूप से वांछनीय होती है। जहाँ किसी घटना की वर्तमान स्थिति (status) का वर्णन करना लक्ष्य हो वहाँ उसकी उतनी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि वहाँ भी शोधकर्ता को उपयुक्त अनुसंधान-क्षेत्र खोजने हेतु परिकल्पना की आवश्यकता हो सकती है। वास्तव में, अनुसंधान की प्रारंभिक अवस्था में जब तक समस्या अन्तिम रूप से निर्धारित नहीं हो जाती (exploratory stage) परिकल्पना की आवश्यकता नहीं होती। हिलवे का भी कहना

नोट

है कि ऐसे अनुसंधानों में जिनका उद्देश्य केवल तथ्य-संग्रह ही हो, परिकल्पना का होना आवश्यक नहीं है। ऐतिहासिक अनुसंधान, वर्णनात्मक अनुसंधान, विधि अनुसंधान (legal research)] लेख्य अनुसंधान (documentary research), संदर्भ-ग्रंथ अनुसंधान (bibliographical research) आदि में परिकल्पना के प्रयोग की संभावनाएँ नाममात्र की ही होती हैं, तो भी कुछ परिस्थितियाँ इन अनुसंधानों में भी ऐसी हो सकती हैं, जिनमें परिकल्पना का प्रयोग उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इन क्षेत्रों के अध्ययन प्रायः आगमन तर्क प्रणाली पर आधारित होते हैं। अतः उनमें अनुसंधान का आंरभ परिकल्पना से नहीं होता, बल्कि परिकल्पना से उनका अन्त होता है। अनुसंधान में परिकल्पना की अनिवार्यता को चुनौती बेकन ने दी थी, जिनका कहना था कि परिकल्पना शोधकर्ता में अभ्यानति (bias) तथा पूर्वाग्रह (prejudice) उत्पन्न कर देती है, जिससे शोध-परिणामों की वस्तुनिष्ठता घट जाती है, परन्तु इस धारणा में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। वास्तव में परिकल्पना का अनुसंधान में बहुत अधिक महत्त्व है। इसके कई लाभ हैं–

1. **मौलि** के अनुसार, परिकल्पना अनुसंधान की दिशा को स्पष्ट करती है। फलस्वरूप शोध कर्ता को इधर-उधर नहीं भटकना पड़ता। वह निरर्थक तथ्यों एवं जानकारी के संग्रह से बच जाता है। व्यर्थ के संदर्भ साहित्य का अध्ययन करने में भी उसका समय नष्ट नहीं होता, क्योंकि परिकल्पना यह निर्धारित कर देती है कि किस प्रकार के साक्ष्य संग्रह करने हैं तथा किन ग्रथों में क्या पढ़ना है। इस प्रकार वान डालेन के शब्दों में, परिकल्पना शोध-समस्या तथा समस्या-समाधान के बीच उन दोनों को जोड़ने वाले एक सेतु का कार्य करती है। उससे समस्या की सीमाओं का स्पष्टीकरण होता है। क्या संगत है तथा क्या असंगत है, इसका निर्धारण भी परिकल्पना द्वारा हो जाता है। साथ ही जो तथ्य एवं साक्ष्य एकत्र किए जाते हैं, उनका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाना चाहिए, यह भी स्पष्ट हो जाता है। परिकल्पनावार ही उनका गठन एवं विश्लेषण किया जाना संभव हो जाता है। परिकल्पनाओं में जो चर निहित हैं, केवल उन्हीं के संबंध में जानकारी प्राप्त करना होता है। इस प्रकार शोधकर्ता का बहुत-सा समय, धन एवं शक्ति अपव्यय बच जाता है।
2. अनुसंधान-परिकल्पनाओं द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार की अनुसंधान-विधि, अनुसंधान-आकल्प (research design) का प्रयोग किया जाएगा। परिकल्पना में जिस प्रकार के संबंध की कल्पना रहती है, उसके परीक्षण हेतु उसी के अनुरूप आकल्प का चयन करना होता है। शोध-सामग्री के संग्रह एवं विश्लेषण के बहुत से आकल्प जैसे केवल पश्च-परीक्षण, पूर्व-पश्च-परीक्षण, नियंत्रित समूह आकल्प उपलब्ध हैं। उनमें से कौन-सा सबसे अधिक उपयुक्त होगा, यह इस पर निर्भर करता है कि परिकल्पना क्या है। इसी प्रकार शोध-दत्तों के विश्लेषण की भी बहुत-सी विधियाँ (प्राचलीय एवं अप्राचलीय) हैं। उनका चुनाव भी परिकल्पना पर निर्भर करता है। परिकल्पना यह भी निर्दिष्ट करती है कि शोध-सामग्री (data) किन व्यक्तियों, किन स्थानों तथा किस प्रकार की मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं के माध्यम से एकत्र की जाएगी। इस दृष्टिकोण से परिकल्पनाओं का अनुसंधान के क्षेत्र में बहुत अधिक महत्त्व है।
3. परिकल्पनाएँ उस परिप्रेक्ष्य (framework) को भी प्रस्तुत करती हैं, जिसमें समस्या के समाधान-स्वरूप निष्कर्षों की स्थापना करनी होती है। उदाहरण के लिए, यदि बालकों के समस्यात्मक व्यवहारों के कारणों का अध्ययन करना है, तो कुछ परिकल्पित कारण-तत्वों को

चुनकर प्रत्येक के संबंध में (जैसे गृह-परिवेश, बुद्धि-स्तर, आत्मबोध आदि) अलग-अलग परिकल्पना स्थापित करके उनका बालकों के समस्यात्मक व्यवहारों के साथ जो संबंध हैं, उनका परीक्षण करेंगे तथा उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में समस्यात्मक व्यवहारों की व्याख्या करेंगे। उनसे बाहर जाकर व्याख्या करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: समस्या की वस्तुनिष्ठ रूप में व्याख्या करने में परिकल्पनाएँ बहुत सहायक होती हैं। अनुसंधान के परिणामों को सार्थक ढंग से प्रस्तुत करने में उनसे पर्याप्त सहायता मिलती है।

4. प्रत्येक समस्या के अनेक पक्ष होते हैं, जिनका अध्ययन आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण हो सकता है, परन्तु सभी का अध्ययन एक साथ नहीं किया जा सकता। किन पक्षों का अध्ययन किया जाएगा अथवा किया जा रहा है, यह परिकल्पनाओं से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार परिकल्पनाएँ वे मार्ग हैं जो यह निर्दिष्ट करते हैं कि कहाँ पहुँचना है। कर्लिंगर ने अनुसंधान की तुलना वैज्ञानिक क्रीड़ा (scientific game) से की है तथा कहा है कि शोधकर्ता खिलाड़ी की भाँति "पहले दाँव लगाता और फिर पासे फेंकता है। पहले पासे फेंके और फिर दाँव लगाए ऐसा नहीं होता। शोध-सामग्री का संग्रह हो चुकने के पश्चात् दाँव नहीं बदला जा सकता।"

5. परिकल्पना ज्ञान के सृजन का अन्तिम बिन्दु नहीं होती। एक परिकल्पना का परीक्षण दूसरी को जन्म देता है, दूसरी का परीक्षण तीसरी को। सागर की लहरों की भाँति वे एक-दूसरे को आगे ठेलती चलती हैं, जिसके फलस्वरूप ज्ञान-सागर का विस्तार होता रहता है। प्रत्येक अनुसंधान की परिकल्पनाओं का परीक्षण आगामी परीक्षणापेक्षी परिकल्पनाओं की ओर संकेत करता है।

4.23 परिकल्पनाओं के स्रोत अथवा निर्धारक तत्व

परिकल्पना का निर्माण भी उतना ही कठिन है, जितना समस्या का चयन तथा उसके भी वही स्रोत एवं निर्धारक तत्व हैं, जो समस्या-चयन के होते हैं। समस्या-चयन की भाँति परिकल्पना-निर्माण (formulation of hypothesis) की भी कोई निश्चित विधि अथवा सूत्र नहीं है। हाँ! कुछ ऐसी आवश्यक शर्तें (conditions)] परिस्थितियाँ तथा आधार अवश्य हैं, जो इस कार्य में सहायक होते हैं। इन्हें परिकल्पना-निर्माण के स्रोत अथवा निर्धारक अथवा सहायक तत्व कह सकते हैं।

1. **शोधकर्ता का अध्ययन, ज्ञान एवं अनुभव**—ये तीनों परिकल्पना के निर्माण में बहुत अधिक सहायक होते हैं। अध्ययन अपने विषय का ही नहीं, बल्कि संबंधित अन्य विषयों का अध्ययन भी बहुत लाभकारी होता है। अन्तर्विषयी अध्ययन (interdisciplinary studies) से नई सूझबूझ का विकास होता है, ज्ञान की वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप समस्यागत चरों के नवीन संबंध उभरकर आते हैं, जो कभी-कभी अधिक उपयुक्त परिकल्पनाओं को जन्म देते हैं। गहन एवं विस्तृत अध्ययन के आधार पर ही शोधकर्ता यह पता लगा पाता है कि शोध हेतु निर्धारित विषय पर कितने तथा किस प्रकार के अध्ययन हो चुके हैं, किस प्रकार की परिकल्पनाओं की उनके अंतर्गत परीक्षा की जा चुकी है, कहाँ-कहाँ किस प्रकार की त्रुटियाँ रही हैं, कौन-सी नई दिशाएँ हैं, जिनकी ओर शोधकर्ता का ध्यान अभी तक नहीं गया है आदि। समस्यागत चरों के विषय में जो सैद्धांतिक संकल्पनाएँ (theoretical conceptions) प्रचलित हैं, उनका अध्ययन करने पर उनकी व्यावहारिक

नोट

परिभाषाओं (operational definitions) का ज्ञान होता है। उनके आधार पर उन चरों से संबंधित परिकल्पनाओं के निर्माण में सहायता मिलती है। शोध-विषय के परिप्रेक्ष्य में शोधकर्ता का जितना अधिक ज्ञान होगा, उतनी की अधिक उसकी तत्संबंधी सूझ होगी। उतनी ही अच्छी तर्कपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण परिकल्पनाओं का निर्माण करने में वह सक्षम होगा।

कभी-कभी अपने विषय-क्षेत्र से हटकर दूसरे विषयों का अध्ययन भी इस संबंध में बहुत अधिक लाभदायक होता है। शिक्षा, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के क्षेत्र में ऐसी बहुत-सी संकल्पनाएँ हैं जो दूसरे क्षेत्रों से ली गई हैं तथा उनके आधार पर इन क्षेत्रों में पूर्णतया नये प्रकार की परिकल्पनाओं का निर्माण करके उनका परीक्षण किया गया है। उदाहरण के लिए, कुर्ट लेविन ने मानव-व्यवहार की व्याख्या हेतु जिन परिकल्पनाओं का निर्माण एवं परीक्षण किया वे भौतिक विज्ञान की संकल्पना बल (force) पर आधारित थीं। इस प्रकार व्यवहार-नियंत्रण के फीड-बैक (feedback) नियम को इंजीनियरिंग के थर्मोस्टेट सिस्टम से लिया गया। इस प्रकार की एकदम नई सूझ (insight) गहन एवं विस्तृत अध्ययन के द्वारा ही विकसित होती है। इस प्रकार शोधकर्ता के ज्ञान की पृष्ठभूमि (background of knowledge) उपयुक्त एवं श्रेष्ठ परिकल्पनाओं का महत्त्वपूर्ण स्रोत होती है।

शोधकर्ता के स्वयं के अनुभवों की भूमिका भी इस संबंध में कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। परिवेश में घटने वाली घटनाओं, जीवन की परिस्थितियों, व्यक्तियों के व्यवहारों, संस्थाओं के कार्यों, उद्देश्यों, काम करने के ढंगों एवं हो रहे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों का जितना विस्तृत अनुभव शोधकर्ता को होगा उतनी ही सम्यक, सार्थक एवं उपयुक्त परिकल्पनाओं का निर्माण करने में वह सक्षम होगा। उसके ये अनुभव समस्यागत चरों के अनेक एवं विभिन्न प्रकार के संबंधों का स्पष्टीकरण करने में शोधकर्ता की सहायता करते हैं। इन्हीं के बीच से नई एवं मौलिक परिकल्पनाएँ उजागर होती हैं।

यदि शोधकर्ता के अध्ययन, ज्ञान एवं अनुभवों का दायरा संकुचित है तो समस्यागत चरों के नये संबंधों की खोज एवं मौलिक परिकल्पनाओं का निर्माण करना उसके लिए संभव नहीं होगा।

2. **शोधकर्ता की मानसिक अभियोग्यताएँ**–ये भी उच्चस्तरीय परिकल्पनाओं के निर्माण का स्रोत होती हैं। अध्ययन, ज्ञान एवं अनुभव स्वयं परिकल्पनाओं का निर्माण करने में सक्षम नहीं होते, बल्कि उनका मानसिक स्तर पर प्रहस्तन (manipulation) अर्थात् उनकी मानसिक स्तर पर व्याख्या, संगठन, संबंधीकरण, प्रयोग (application), तर्क द्वारा उनके निहितार्थों (implications) को समझना आदि महत्त्वपूर्ण होता है। उपयुक्त परिकल्पनाओं का जन्म इसी मानसिक मंथन से होता है। इसमें शोधकर्ता की तर्कशक्ति एवं सृजनशीलता (creative ability) की बहुत बड़ी भूमिका होती है। सृजनशील चिंतन समस्यागत चरों के पारस्परिक संबंधों को नवीनतम परिप्रेक्ष्यों में प्रस्तुत कर सकता है। तब उच्चस्तरीय परिकल्पनाओं का निर्माण सरल एवं संभव हो जाता है। शोधकर्ता की कल्पना शक्ति (imagination) परिकल्पना-निर्माण की प्रक्रिया की एक सशक्त कड़ी होती है। विज्ञान ने मानव की कल्पना शक्ति का सहारा लेकर अद्‌भुत चमत्कार किए हैं। वैज्ञानिक आइन्स्टीन का मानना है कि मानव की कल्पना-शक्ति उसके ज्ञान से कहीं अधिक बलशाली होती

है। प्रखर कल्पना-शक्ति शोधकर्ता को परम्परागत समस्या-समाधानों, प्रश्नों के पूर्वगत उत्तरों के बहुत परे ले जाती है। अत: शोधकर्ता उन्हें स्वीकार नहीं करता। वह उनपर गंभीरता से चिंतन करता है। 'क्यों,' 'क्या', 'कैसे', की दुर्गम घाटियों में प्रवेश करता है और खोज लेता है कुछ ऐसे तथ्यों को, परिप्रेक्ष्यों को, प्रसंगों को, तत्वों को जो नये तथा अभूतपूर्व ढंग से समस्या को उनके समक्ष प्रस्तुत करते हैं तथा अत्यन्त मौलिक परिकल्पनाओं को जन्म देते हैं। थौर्नडाइक, पैवलौव तथा स्किनर के अधिगम-सिद्धांतों के विकास के पीछे इसी प्रकार की परिकल्पनाओं का हाथ रहा होगा।

3. **सादृश्य-आधारित तर्क**—मिलती-जुलती परिस्थितियों अथवा घटनाओं के तर्कपूर्ण विश्लेषण भी परिकल्पना के निर्माण में सहायक होते हैं। कभी-कभी किसी एक विषय अथवा क्षेत्र की घटना, विचार अथवा सिद्धांत दूसरे विषय अथवा क्षेत्र की घटना अथवा विचार से बहुत मिलते-जुलते होते हैं। उनकी तुलना करने पर अथवा उनकी समानता का विश्लेषण करने पर शोधकर्ता को कभी-कभी एक नया विचार मिल जाता है, जो मौलिक परिकल्पना का निर्माण करने में सहायक होता है। इसे सादृश्याधारित तर्क (reasoning by analogy) कहते हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षा-संस्थाओं की प्रभाविकता (effectiveness) का अध्ययन कर रहा शोधकर्ता समाजशास्त्र की पुस्तक में पढ़ता है कि समाज में नियंत्रण का अभाव सामाजिक अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार को जन्म देता है। इस परिस्थिति की वह शिक्षा-संस्था की परिस्थिति से तुलना करता है, उसका विश्लेषण करता है तो यह विचार जन्म लेता है कि शिक्षा-संस्था के भीतर यदि नियंत्रण का अभाव होगा तो शिक्षा-संस्था का वातावरण भी बिगड़ सकता है तथा इसका कुप्रभाव संस्था की प्रभाविकता पर पड़ सकता है। अत: एक नई परिकल्पना उसके उस शोध के साथ जुड़ती है कि "शिक्षा-संस्था में नियंत्रण का अभाव उसकी प्रभाविकता को घटाता है।"

4. **कुछ अन्य सुझाव**—उपयुक्त परिकल्पना के निर्माण में समय का भी अपना महत्त्व है। शोध की समस्या पर पर्याप्त समय तक गंभीरता से चिंतन करना चाहिए। विभिन्न दृष्टिकोणों से उस पर विचार करना चाहिए।

   कभी-कभी कुछ समय के लिए समस्या को बिल्कुल भुला भी देना चाहिए। ऐसा करने से उस विस्मृति-काल में शोधकर्ता का उपचेतन मन (subconscious mind) समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार कर रहा होता है, चेतन मन की विचार-शृंखला से हटकर कार्य कर रहा होता है। अत: कभी-कभी अप्रत्याशित परन्तु बहुत उपयोगी परिकल्पनाएँ उभर आती हैं।

   शोध-मार्गदर्शक, विशेषज्ञों, प्रशासकों, अधिकारियों, साथ काम करने वाले साथियों आदि के साथ बैठकर समस्या एवं उसकी संभावित परिकल्पनाओं पर गंभीरता से विचार-विमर्श करना भी इस संदर्भ में उपयोगी होता है। शोधगत समस्या के किसी पहलू पर भाषण देना (यदि ऐसा अवसर मिले तो), उसके विषय में लेख लिखना, सेमीनार में समस्या को विचारार्थ प्रस्तुत करना आदि भी लाभप्रद होते हैं।

4.24 परिकल्पनाओं का मूल्यांकन

परिकल्पनाओं के मूल्यांकन से तात्पर्य है यह जानना कि जो परिकल्पनाएँ निर्मित हुई हैं वे कहाँ तक उपयुक्त हैं अर्थात् कहाँ तक उनमें वे विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो अच्छी परिकल्पना में होनी

चाहिए। विशेषज्ञों ने अच्छी परिकल्पना, स्वीकार की जाने वाली कल्पना के कुछ गुणों का वर्णन किया है। ये सब वांछनीय परिकल्पना की कसौटी का निर्माण करते हैं। इस कसौटी के आधार पर ही परिकल्पनाओं का मूल्यांकन किया जाता है। इस कसौटी की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

नोट

1. **परिकल्पना सत्याभ (plausible) होनी चाहिए**–इसका अर्थ है कि समस्या के जिस समाधान की संभावना उसमें व्यक्त की गई है, वह तर्कपूर्ण एवं सत्य प्रतीत हो। दूसरे शब्दों में, उसके चरों के बीच जिस संबंध की कल्पना की गई है, वह किसी न किसी दृष्टिकोण से तर्कसंगत (reasonable) हो। यदि उस संबंध के किसी भी दृष्टिकोण से सही होने की संभावना पर विश्वास नहीं किया जा सकता तो उस परिकल्पना को उपयुक्त नहीं समझा जा सकता। जैसे, यह परिकल्पना कि "विद्यालय में उपलब्ध कुर्सी-मेजों की संख्या का छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव पड़ता है", एकदम विश्वास से परे की बात है, क्योंकि कुर्सी-मेजों की संख्या एवं छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के बीच किसी भी दृष्टिकोण से कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। जिस संबंध की कल्पना की गई है वह न तो युक्तिसंगत (relevant) है और न तर्कसंभव (logically possible)। कुर्सी-मेजों की संख्या का छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि से कोई संबंध जुड़ता ही नहीं–न तो अनुभव के आधार पर, न किसी सिद्धांत (theory) के आधार पर और न विगत अनुसंधानों के आधार पर। अत: यह परिकल्पना सत्याभ नहीं है। इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, उपयुक्त परिकल्पना वही होती है जो समस्या की तर्कपूर्ण, युक्तिसंगत, विश्वसनीय एवं तथ्याधारित संभाव्य व्याख्या (समाधान) प्रस्तुत करे। साथ ही वह समाधान क्रियान्वयन के दृष्टिकोण से असंभव भी नहीं होना चाहिए। जैसे, "यह परिकल्पना कि दिन में छ: घंटे की पढ़ाई के स्थान पर आठ घंटे की पढ़ाई कर देने से छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है", क्रियान्वयन के दृष्टिकोण से असंभव है। अनेक कारणों से पढ़ाई के घंटों में वृद्धि किया जाना संभव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त परिकल्पना में निहित संबंध अथवा समाधान प्रचलित नियमों एवं सिद्धांतों के विरुद्ध भी नहीं होने चाहिएं। जैसे, "छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भय एवं कठोर अनुशासन आवश्यक है" इस परिकल्पना में संभावित समाधान "भय एवं कठोर अनुशासन" मनोविज्ञान के सिद्धांत के विरुद्ध है। अत: यह परिकल्पना स्वीकार करने योग्य नहीं है।
2. **परिकल्पना परीक्षण-संभव (ज्मेजंइसम) हो**–इसका अर्थ है कि परिकल्पना में जिस संभावित समाधान अथवा संबंध की कल्पना की गई है अर्थात् समस्या की जो व्याख्या (explanation) प्रस्तुत की गई है, वह ऐसी होनी चाहिए कि उसका परीक्षण किया जा सके। जैसे, "बुद्धिमान परन्तु असफल छात्र (underachievers) हीन भावना से ग्रसित रहते हैं" इस परिकल्पना में सफलता एवं हीन भावना दोनों ऐसी विशेषताएँ हैं कि उनका मापन अर्थात् परिकल्पना का परीक्षण संभव है। अब हम कहें कि "बुद्धिमान छात्रों के असफल होने का कारण उनके पूर्वजन्म के संस्कार होते हैं।" तो यह परिकल्पना स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि "पूर्वजन्म के संस्कारों" का मापन संभव नहीं है। अत: परिकल्पना का परीक्षण ही नहीं किया जा सकता। यदि परिकल्पना में निहित चरों के परिणामों का व्यावहारिक रूप में निरीक्षण, परीक्षण एवं मापन नहीं किया जा सकता, तो परिकल्पना का भी परीक्षण नहीं हो सकता। उस स्थिति में वह निरर्थक समझी जाती है। इसी प्रकार यदि

परिकल्पनागत चरों के मापांकों के विश्लेषण की कोई तकनीक अथवा विधि उपलब्ध नहीं है, तो भी उसका परीक्षण संभव नहीं होगा। यदि समस्यागत चरों का स्वरूप (nature) इस प्रकार का है कि उनके मापन में बहुत वर्षों का समय लगेगा तो उसे भी अच्छी परिकल्पना नहीं समझा जाता, यद्यपि यह अकाट्य नियम नहीं है।

यदि परिकल्पना में ऐसे चर समाहित हैं, जिनको परिभाषित नहीं किया जा सकता, तो उसका भी परीक्षण नहीं किया जा सकता। जैसे, परिकल्पना "आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का धर्मनिष्ठ व्यक्तियों की जीवन-शैली पर अवांछनीय प्रभाव पड़ा है" में "आधुनिक युग", "प्रवृत्तियों", "धर्मनिष्ठ", एवं "जीवन-शैली" ये सभी शब्द अथवा चर ऐसे हैं, जिनको वस्तुनिष्ठ ढंग से परिभाषित नहीं किया जा सकता। अत: उनका मापन भी नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में परिकल्पना का परीक्षण भी नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार किसी भी कारण अथवा दृष्टिकोण से यदि परिकल्पनागत चरों एवं परिणामों का मापन नहीं किया जा सकता, तो वह उपयुक्त नहीं समझी जाती, क्योंकि उसका परीक्षण नहीं किया जा सकता।

3. **परिकल्पना व्यापक होनी चाहिए**–परिकल्पना जितनी अधिक व्यापक होती है, उतनी ही अधिक लाभदायक एवं मूल्यावान समझी जाती है। इसका अर्थ है कि वह परिकल्पना जो समस्या से संबंधित सभी अथवा अधिक से अधिक तथ्यों एवं परिस्थितियों की व्याख्या (explanation) करती है, वह व्यापक एवं उपयोगी समझी जाती है। जो परिकल्पना इस दृष्टिकोण से बहुत सीमित होती है, उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती। अत: परिकल्पना को उपयोगी बनाने के लिए उसके क्षेत्र को व्यापक बनाने का प्रयास करना चाहिए। उदाहरण के लिए, शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में अधिगम की व्याख्या करने वाली कई परिकल्पनाएँ उपलब्ध हैं परन्तु कोई भी एक अधिगम संबंधी सभी तथ्यों की व्याख्या नहीं करती। एक कुछ की व्याख्या करती है, तो दूसरी दूसरे तथ्यों की। किसी भी एक परिकल्पना का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है कि वह उन सभी तथ्यों एवं घटनाओं की व्याख्या कर सके, जिनकी अन्य भिन्न-भिन्न परिकल्पनाएँ करती हैं। मान लीजिए एक परिकल्पना है "उपलब्धि-प्रेरणा (achievement motivation) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है"। यदि यह परिकल्पना केवल आठवीं कक्षा के छात्रों की शैक्षिक प्रगति की व्याख्या करती है और किसी परिस्थिति, तथ्य अथवा घटना की व्याख्या नहीं करती, तो उसे अत्यन्त संकुचित समझा जाएगा तथा उसकी उपयोगिता भी अधिक नहीं होगी। अब यदि वह प्रत्येक स्तर के छात्रों की शैक्षिक प्रगति की व्याख्या करती है, तो उसकी व्यापकता बढ़ जाएगी। इसी प्रकार यदि उपलब्धि प्रेरणा का महत्त्व छात्रों के अतिरिक्त अध्यापकों की प्रगति, उनके ज्ञानार्जन, शिक्षण, उन्नति आदि में भी पाया जाता है, तो उसकी व्यापकता का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो जाएगा। इसी प्रकार यदि वह उद्यमियों, व्यापारियों, वकीलों, कार्मिकों, राज्यों एवं राष्ट्रों की प्रगति की भी व्याख्या करती है, तो उसे अत्यन्त व्यापक एवं उपयोगी समझा जाएगा। अत: किसी परिकल्पना के आधार पर यदि एक ऐसा सामान्यन (generalization) उपलब्ध होता है, जो विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्न परिस्थितियों में घटने वाली घटनाओं एवं समस्याओं की व्याख्या अथवा समाधान प्रस्तुत करता है, तो उस परिकल्पना को बहुत व्यापक, उपयोगी एवं लाभकारी समझा जाता है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत, परमाणु-सिद्धांत तथा विकासवाद

नोट

का सिद्धांत ऐसी परिकल्पनाओं के उदाहरण हैं, जिनकी व्याख्यात्मक क्षमता (explanatory power) एवं समस्या-समाधान संभावना बहुत व्यापक रही है।

4. **परिकल्पना सिद्धांतमूलक होनी चाहिए**–परिकल्पनाएँ संबंधित क्षेत्र में प्रचलित सिद्धांतों पर आधारित होनी चाहिए। प्रत्येक परिकल्पना में चरों के बीच एक संबंध की कल्पना की जाती है, परन्तु यह कल्पना सिद्धांत-समर्थित होनी चाहिए, अर्थात् वैसा सोचने का कोई ठोस आधार होना चाहिए। यह आधार पूर्वान्वेषित सिद्धांतों, नियमों सामान्यनों आदि के रूप में ही उपलब्ध होते हैं। जो परिकल्पना इनके विपरीत न होकर इन सिद्धांतों के अनुरूप हो, वही उपयुक्त समझी जाती है। जैसे, यह परिकल्पना कि "छात्रों का सकारात्मक आत्मबोध (positive self-concept) उनकी परीक्षागत उच्चस्तरीय सफलता का कारक होता है", सिद्धांत-मूलक समझी जा सकती है। परीक्षागत सफलता एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार है, जो अन्य बहुत से व्यवहारों जैसे कक्षा में नियमित रूप से उपस्थित रहना, ध्यान से पढ़ना, नियमित रूप से अभ्यास करना, कठिनाइयों के निवारण का प्रयास करना आदि पर निर्भर करता है। व्यवहार मनुष्य के व्यक्तित्व की विशेषताओं से प्रभावित होता है। कार्ल रौजर तथा कई अन्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित "आत्मबोध सिद्धांत" (self-concept theory) की यह मान्यता है कि सकारात्मक आत्मबोध रचनात्मक (constructive) संगठित एवं संतुलित (integrated) व्यवहारों को जन्म देता है। उच्चस्तरीय परीक्षागत सफलता हेतु इस प्रकार के व्यवहार वांछनीय है। अतः सकारात्मक आत्मबोध उच्चस्तरीय परीक्षागत सफलता का कारक होना चाहिए। इस प्रकार, इस परिकल्पना को प्रचलित सिद्धांत से जुड़ा पाया जाता है। परिकल्पनागत, विचार, अनुमान, संबंध की कल्पना सिद्धांतमूलक अर्थात् सिद्धांताधारित है। प्रचलित सिद्धांतों का विरोध अथवा खंडन करने वाली परिकल्पनाओं को उपयुक्त नहीं समझा जाता। ऐसी परिकल्पनाएँ जो वर्तमान सिद्धांतों की अपूर्णता, उनकी त्रुटियों, उनकी असंगतता को दूर करने हेतु निर्मित की जाती हैं, को तो स्वीकार किया जाता है, परन्तु यदि वे प्रचलित सिद्धांतों के साथ मेल नहीं खातीं अथवा किसी सिद्धांत द्वारा समर्थित नहीं होतीं तो उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता।

5. **परिकल्पना उद्देश्यानुकूल होनी चाहिए**–इसका अर्थ है कि परिकल्पना समस्या से संबंधित होनी चाहिए, अर्थात् उसे समस्या का समाधान प्रस्तुत करना चाहिए। किसी समस्या के कई दृष्टिकोणों से कई समाधान हो सकते हैं। फलस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोण से उसकी कई परिकल्पनाएँ हो सकती हैं, परन्तु इन सब परिकल्पनाओं का लक्ष्यानुकूल होना आवश्यक है। एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी समस्या-समाधान खोजने का जो उद्देश्य है उस दृष्टिकोण से प्रत्येक परिकल्पना को उस उद्देश्य की पूर्ति से संबंधित होना चाहिए। उदाहरण के लिए, छात्रों की परीक्षा में असफलता के कारण खोजने में कई दृष्टिकोणों से परिकल्पनाओं का निर्माण किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिकल्पना होगी "छात्रों में प्रेरणा का अथवा रुचि का अभाव"। समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से परिकल्पना हो सकती है "छात्रों के आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण का अनुकूल न होना।" इसी प्रकार, शिक्षाशास्त्र के दृष्टिकोण से परिकल्पना हो सकती है "शिक्षण-विधि का उपयुक्त न होना", परन्तु ये सभी परिकल्पनाएँ एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी प्रत्येक समस्या के समाधान से मान्य रूप में संबंधित है, अतः प्रत्येक स्वीकार्य है। भिन्न होने का यह अर्थ नहीं है कि वे एक-दूसरे का विरोध करें, बल्कि उन्हें एक-दूसरे का समर्थन करना चाहिए। प्रत्येक

नोट

परिकल्पना का निर्माण एक निश्चित उद्देश्य के लिए किया जाता है। अतः उसे उस उद्देश्य की पूर्ति में सहयोगी होना चाहिए, तभी उसे उपयुक्त एवं स्वीकार्य समझा जाता है।

6. **परिकल्पना सरल होनी चाहिए**–इसका अर्थ है कि वह समस्या का समाधान अथवा उसकी व्याख्या सरल ढंग से प्रस्तावित करे, अर्थात् प्रस्तावित समाधान इतने जटिल सिद्धांतों, अवधारणाओं एवं संकल्पनाओं पर आधारित न हो कि उसे समझना कठिन हो। यदि सम्भव हो तो सरलतम ढंग से प्रस्तुत की गई परिकल्पना ही अधिक उपयुक्त समझी जाती है।

   इसी प्रकार परिकल्पना को सरल, संक्षिप्त एवं सुगठित भाषा में प्रस्तुत करना वांछनीय होता है। अनावश्क शब्दों का प्रयोग, कठिन शब्दों का प्रयोग, संवेगात्मक एवं मूल्यपरक अभिव्यक्तियों का प्रयोग परिकल्पना हेतु उचित नहीं समझा जाता। उदाहरण के लिए, यह परिकल्पना कि "छात्र जो सफलता के शिखर पर आरूढ़ हैं, जो विद्यालय के जाज्वल्यमान सितारे हैं, बौद्धिक प्रतिभा के धनी होते हैं" उपरोक्त दृष्टिकोण से स्वीकार्य नहीं कही जा सकती। सीधे-सीधे यह कहना अधिक उपयुक्त होता कि "परीक्षा में अच्छी सफलता प्राप्त करने वाले छात्र अधिक बुद्धिमान होते हैं।"

4.25 सारांश

शोध हेतु समस्या को अंतिम रूप देने से पहले उसकी उपयुक्तता पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाता है। फ्रांसिस रुमेल के अनुसार, उपयुक्त समस्या की चार विशेषताएँ होती हैं–(i) शोधकर्ता की उस समस्या में रुचि होना, (ii) शोधकर्ता में वे सब योग्यताएँ होना जो उस पर शोध करने के लिए आवश्यक हैं, (iii) समस्या का महत्त्वपूर्ण होना तथा (iv) समस्या संबंधी जानकारी, सूचनाओं तथा दत्तों के उपलब्ध होने की संभावना होना। मौलि के अनुसार, समस्या की प्रस्तुति संक्षिप्त एवं सुतथ्यतः रूप में (precisely) की जानी चाहिए। उसके कथन में निरर्थक एवं अनावश्यक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। बहुत क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी उचित नहीं समझा जाता। समस्या का विश्लेषण एवं परिभाषीकरण शोध की दिशाओं को स्पष्ट करता है तथा इस बात की ओर संकेत करता है कि उस अनुसंधान में किस प्रकार के चर सन्निहित हैं, उनका मापन किस प्रकार किया जाएगा तथा अनुसंधान की प्रक्रिया क्या होगी।

इकाइयों की किसी वृहद् समष्टि में से कुछ इकाइयों के समूह को लेकर उनका अध्ययन किया जाता है तथा उनके आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है उसे सम्पूर्ण समष्टि के विषय में सही समझा जाता है। इस छोटे समूह को ही समष्टि का न्यादर्श अथवा प्रतिदर्श कहते हैं। समष्टि की संकल्पना एक सांख्यिकीय संकल्पना है जिसका अर्थ होता है बहुत-सी इकाइयों का एक वृहद् समूह जिसमें से कुछ इकाइयों को अध्ययन के लिए चुना जाता है। न्यादर्श वह न्यादर्श होता है जिसमें समष्टि की सभी विशेषताओं, उसके सभी लक्षणों का, सभी गुणों का न्यूनाधिक मात्रा में समावेश हो, जो समष्टि का प्रतिरूप अथवा उसकी प्रतिकृति (replica) हो।

संभाविता अथवा संयोग (chance) की समस्या वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ हम किसी विषय में पूर्ण जानकारी नहीं रखते तथा निश्चित रूप से उसके संबंध में कुछ नहीं कह सकते। संभाविता प्रतिचयन विधि के आधार पर ही यह अनुमान लगाना भी संभव होता है कि अनुसंधान-परीक्षण में कितनी त्रुटि का समावेश है। यह त्रुटि न्यादर्श-आधारित परिणाम एवं समष्टि आधारित परिणाम के अन्तर का ही प्रतीक होती है। इसे "त्रुटि-सीमा" अथवा "शुद्धता की सीमा" भी कहते हैं।

नोट

परिकल्पना अंग्रेजी भाषा के शब्द 'हाइपोथिसिस' (hypothesis) का हिन्दी रूपांतर है, जिसका अर्थ है ऐसी मान्यता जो अभी अपुष्ट है। हौडनेट के शब्दों में, परिकल्पनाएँ शोधकर्ता की आँखें होती हैं जिनके द्वारा वह समस्यागत अव्यवस्था (अव्यवस्थित तथ्यों) में झाँककर देखता है तथा उनमें समस्या का समाधान खोजता है। अनुसंधान भी समस्या-समाधान की ही एक विशिष्ट एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। अत: अनुसंधान में भी परिकल्पनाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अनुसंधान में परिकल्पना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि कई उद्देश्यों की पूर्ति उनके माध्यम से होती है। कर्लिंगर के अनुसार परिकल्पना के बिना भी अनुसंधान सम्भव है। उनके अनुसार विशेषकर अन्वेषणात्मक (exploratory) अनुसंधानों में परिकल्पना अनिवार्य नहीं होती, परन्तु आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में ऐसा संभव नहीं है। वान डालेन का मत है कि उन अनुसंधानों में जिनमें कार्य-कारण (cause-effect) संबंध की खोज लक्ष्य है, परिकल्पना विशेष रूप से वांछनीय होती है।

4.26 अभ्यास-प्रश्न

1. शोध समस्या के चयन से आप क्या समझते हैं?
2. चयनित समस्या का मूल्यांकन करें।
3. समस्या कथन पर टिप्पणी लिखें।
4. समस्या विश्लेषण एवं उसके परिभाषीकरण से आप क्या समझते हैं।
5. समष्टि की संकल्पना से आप क्या समझते हैं?
6. न्यादर्श से आप क्या समझते हैं? वर्णन करें।
7. न्यादर्श प्रतिचयन की प्रक्रिया तथा उसकी विधियों का वर्णन करें।
8. संभाविता प्रतिचयन विधि का वर्णन करें।
9. संभाविता प्रतिचयन विधि के प्रकारों का वर्णन करें।
10. स्तरीकृत सम-संभाविक विधि पर प्रकाश डालें।
11. न्यादर्श के आकार के बारे में समझाएँ।
12. असंभाविता प्रतिचयन की विधियों का वर्णन करें।
13. न्यादर्श त्रुटि पर प्रकाश डालें।
14. परिकल्पना की परिभाषा देते हुए उसके अर्थ को समझाइए।
15. परिकल्पना का वर्गीकरण करते हुए उसके प्रकारों का वर्णन करें।
16. परिकल्पना के महत्त्व अथवा उद्देश्य को स्पष्ट करें।
17. परिकल्पना के स्रोत अथवा निर्धारक तत्व का वर्णन करें।
18. परिकल्पना का मूल्यांकन करें।

4.27 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शैक्षिक तकनीकी–एस.एस. माथुर, भट्ट ब्रदर्स।
- शैक्षिक तकनीकी प्रबंध एवं मूल्यांकन–जे.सी. अग्रवाल, भट्ट ब्रदर्स।

नोट

अध्याय-5

उपकरण और डेटा संग्रह की तकनीक

(Structure)

5.1 उद्देश्य
5.2 प्रस्तावना
5.3 निरीक्षण या अवलोकन
5.4 निरीक्षण के प्रकार
5.5 निरीक्षण विधि की विशेषताएँ
5.6 निरीक्षण की परिसीमाएँ
5.7 सुझाव
5.8 प्रदत्तों का अर्थ एवं आवश्यकता
5.9 प्रदत्तों की प्रकृति एवं मापन प्रविधियाँ
5.10 चर एवं अचर राशि
5.11 प्रदत्तों के प्रकार
5.12 प्रदत्तों का संकलन
5.13 प्रदत्तों की व्यवस्था तथा वर्गीकरण
5.14 प्रदत्तों के व्यवस्थापन के साधन
5.15 प्रदत्तों के विश्लेषण की विभिन्न प्रक्रियाएँ
5.16 कम्प्यूटर के लिए प्रदत्तों का वर्गीकरण तथा व्यवस्था
5.17 प्रश्नावली
5.18 प्रश्नावली के प्रकार
5.19 प्रश्नावली की सीमाएँ
5.20 प्रश्नावली की सावधानियाँ
5.21 निर्धारण मापनी
5.22 निर्धारण मापनी के प्रकार
5.23 बलात् विकल्प मापनी
5.24 निर्धारण मापदण्डों की त्रुटियाँ
5.25 साक्षात्कार का अर्थ एवं परिभाषा
5.26 साक्षात्कार के उद्देश्य
5.27 साक्षात्कार के प्रकार
5.28 साक्षात्कार के लाभ

नोट

5.29 साक्षात्कार की सीमाएँ
5.30 साक्षात्कार लेने में प्रयुक्त सावधानियाँ
5.31 विषय-वस्तु : अनुमापन का अर्थ
5.32 अनुमापों की उपयोगिता
5.33 समाजशास्त्रीय अनुमाप की कठिनाइयाँ
5.34 अनुमापों के प्रकार
5.35 मनोवृत्तियों की माप
5.36 मनोवृत्तियों को मापने में कठिनाइयाँ
5.37 मनोवृत्तियों को मापने की विधियाँ
5.38 मत-मापक पैमाना
5.39 थर्सटन पैमाना-विधि
5.40 लिकर्ट पैमाना-विधि
5.41 अंक पैमाने
5.42 विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता की समस्या
5.43 सारांश
5.44 अभ्यास-प्रश्न
5.45 संदर्भ पुस्तकें

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- निरीक्षण एवं निरीक्षण के प्रकार को समझने में;
- निरीक्षण विधि की विशेषताएँ एवं परिसीमाओं को समझने में;
- प्रदत्तों अथवा आंकड़ों का अर्थ, आवश्यकता एवं प्रकृति को समझने में;
- प्रश्नावली तथा प्रश्नावली के प्रकार को समझने में;
- निर्धारण मापनी के अर्थ एवं परिभाषा को समझने में;
- साक्षात्कार के अर्थ एवं परिभाषा को समझने में;
- अनुमापों की उपयोगिता की जानकारी;
- सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता की स्थिति।

5.2 प्रस्तावना

'अवलोकन' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Observation' का हिन्दी रूपांतरण है जिसका अर्थ 'देखना', 'प्रेक्षण', 'निरीक्षण' और 'अवलोकन' करना है। दूसरे शब्दों में, 'कार्य-कारण अथवा पारस्परिक संबंधों को जानने के लिए स्वाभाविक रूप से घटित होने वाली घटनाओं को सूक्ष्म रूप से देखना ही अवलोकन है।'

श्रीमती पी.वी. यंग के अनुसार–"अवलोकन स्वत: विकसित घटनाओं का उनके घटित होने के समय ही अपने नेत्रों द्वारा व्यवस्थित तथा जान-बूझकर किया गया अध्ययन है।"

प्रो. सी.ए. मोजर के अनुसार–"ठोस अर्थ में अवलोकन में कानों तथा वाणी की अपेक्षा नेत्रों के प्रयोग की आवश्यकता है।"

नोट

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अवलोकन प्राथमिक सामग्री संकलित करने की एक प्रत्यक्ष और महत्त्वपूर्ण प्रविधि है। इसमें अध्ययनकर्ता घटनाओं को देखता है, सुनता है, समझता है और संबंधित सामग्री का संकलन करता है।"

प्रदतों के संकलन के लिए अनुसन्धान-उपकरणों का प्रशासन न्यादर्श के प्रयोज्यों पर किया जाता है। अधिकांश: शैक्षिक अनुसन्धानों में प्रदत्तों का संकलन या तो प्रमाणित परीक्षणों के द्वारा या स्वयं निर्मित अनुसन्धान-उपकरणों के द्वारा किया जाता है, इस प्रकार वस्तुनिष्ठ प्रदत्त प्राप्त हो जाते हैं, जिसके द्वारा एक अध्ययन में सही परिणाम तक पहुँचा जा सकता है। प्रदत्तों का संकलन, प्रश्नावली, निरीक्षण, साक्षात्कार, परीक्षण तथा अनेक अन्य प्रविधियों द्वारा किया जाता है। यह अनुसन्धान का चतुर्थ सोपान होता है। एक अनुसन्धानकर्ता को यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि कितना और किस प्रकार के प्रदत्तों का संकलन किस स्थान पर और कब किया जाए। अनुसन्धानकर्ता को इस बात का भी ज्ञान होना आवश्यक है कि किस प्रकार के प्रदत्तों के संकलन का मुख्य उद्देश्य अनुसन्धान परिकल्पना को प्रमाणित या उचित रूप में सिद्ध करना है।

व्यक्ति विभिन्न पदों के माध्यम से यह निर्धारित करता है कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में वह किस तरह का व्यवहार करेगा। प्रश्नावली एक तरह से स्व-निर्धारण मापनी ही है। इस विधि में व्यक्ति को प्रश्नावली दे दी जाती है, जिस पर निर्देश भी लिखे रहते हैं। उन निर्देशों के अनुसार, व्यक्ति को प्रतिक्रिया व्यक्त करनी होती है। कुछ प्रश्नों के उत्तर हाँ या नहीं में भी देने पड़ते हैं।

निर्धारण मापनी एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि किसी व्यक्ति ने कुछ विशिष्ट गुणों के संदर्भ में आने वाले व्यक्तियों के ऊपर क्या छाप छोड़ी है। निर्धारण मापनी में कुछ गुणों की एक सूची होती है जिनमें प्रत्येक के सामने कुछ अंक लिखे होते हैं। निर्धारक को अपने अनुभव अनुसार उस पर संबंधित व्यक्ति के विषय में निशान लगाने होते हैं। सभी मनोवैज्ञानिक मापन की विधियों में निर्धारण मापनी का उपयोग सबसे अधिक होता है।

साक्षात्कार को अंग्रेजी में 'Interview' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है–'आंतरिक अवलोकन' या अंतरदृष्टि। दोनों शब्दों में जिन अप्रकट तथ्यों का बाह्य रूप से निरीक्षण नहीं हो सकता, उन तथ्यों की जानकारी प्राप्त करना ही साक्षात्कार कहलाता है। साक्षात्कार एक ऐसी व्यवस्थित पद्धति है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य को सामने रखकर परस्पर संवाद, वार्तालाप एवं उत्तर-प्रति-उत्तर करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक विधि है जिसमें साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाता की भावनाओं, विचारों, मनोवृत्तियों एवं आंतरिक जीवन का अध्ययन करता है।

अनुमापन प्रविधियाँ उन प्रणालियों की द्योतक हैं जिनके द्वारा हम किसी वस्तु या घटना (phenomenon) की पैमाइश करते व उसकी किसी विशेषता को गणनात्मक रूप में व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम यह कहते हैं कि पैमाइश करने पर एक कपड़े का टुकड़ा दो मीटर का है तो हम कपड़े की एक विशेषता अर्थात् लंबाई को गणनात्मक रूप में व्यक्त करते हैं और कपड़े की लंबाई के संबंध में एक स्पष्ट व निश्चित धारणा पनपाने में दूसरों की मदद करते हैं। भौतिक या प्राकृतिक चीजों की इस प्रकार की पैमाइश सरल है क्योंकि उन्हें मापने के लिए निश्चित पैमानों का

नोट

विकास कर लिया गया है। उदाहरणार्थ, गर्मी व सर्दी को मापने व माप के परिणामों को डिग्रियों में अभियुक्त करने के लिए विशेष उपकरण हैं, बुखार को मापने के लिए थर्मामीटर, भौतिक वस्तुओं की लंबाई मापने के लिए गज, फीट, मीटर आदि और तरल पदार्थों की माप को गलन आदि में व्यक्त करने के लिए विशेष उपकरण हैं। उसी प्रकार किसी वस्तु की लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई, धारिता (capacity), भार या वजन मापने में भी मनुष्य समर्थ है।

सामाजिक घटनाओं की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं–जैसे, सामाजिक घटनाओं की जटिलता, अमूर्तता, गुणात्मकता, परिवर्तनशीलता आदि। ये विशेषताएँ कुछ सीमा तक इस प्रकार की बाधाएँ बन जाती हैं कि जिससे वैज्ञानिक पद्धतियों का समुचित प्रयोग और इसीलिए तथ्यों की खोज भौतिक विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र के लिए बहुत-कुछ कठिन हो जाती है और जब तथ्यों की खोज उचित रूप में नहीं हो पाती तो वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति भी सरल नहीं रहती। उदाहरण के लिए, सभी माताएँ या सभी पिता या सभी विद्यार्थी एक समान नहीं होते जबकि एक जाति के सभी चूहे या एक विशेष प्रकार के सभी आम के पेड़ प्रायः समान प्रकार के होते हैं। अतः इनका इन समानताओं के आधार पर अध्ययन करना अथवा इनसे संबद्ध तथ्यों को खोजना हमारे लिए सरल होता है, पर यह बात माता-पिता, विद्यार्थी या अन्य सामाजिक घटनाओं के संबंध में नहीं कही जा सकती; क्योंकि उनमें अत्यधिक विविधताएँ हैं।

5.3 निरीक्षण या अवलोकन

यह बहुत प्रचलित विधि है। इस विधि में मानवीय व्यवहार का अवलोकन किया जाता है तथा उसी के आधार पर आंकड़े एकत्रित किये जाते हैं। यह विभिन्न प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में मानवीय व्यवहार के मापन का सीधा तरीका है। शिक्षा तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस प्रविधि का उपयोग मुख्यतः नियंत्रित प्रयोगों (Controlled Experiment) में किया जाता है। बिना अवलोकन किये हम कुछ भी अध्ययन नहीं कर सकते। व्यक्तित्व एवं बुद्धि के अनेक पक्षों का ज्ञान इसके द्व ारा ही सम्भव होता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आदि मानव द्वारा प्रयुक्त मापन विधियाँ अवलोकन के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। उस काल का खानाबदोश शिकारी जानवरों की चीखें सुनता था, बहने वाली ठंडी हवा का अनुभव करता था, ऋतु आगमन आदि का ज्ञान अवलोकन विधि से ही करता था। जिस प्रकार ज्योतिषी नक्षत्रों का अवलोकन करता है, चिकित्सक रोगी का निरीक्षण उसे छूकर, नाड़ी की गति का हाथ से अनुमान लगाकर उपचार की सलाह देता है, उसी प्रकार, शिक्षा तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी इस विधि का प्रयोग विभिन्न परिस्थितियों में छात्रों के व्यवहार का निरीक्षण करने में किया जाता है। व्यक्ति एकान्त में, समूह में, विशिष्ट परिस्थितियों में जो कुछ क्रियाएँ करता है उनको निरर्थक नहीं समझा जा सकता। प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति बैठे-बैठे या चलते-फिरते अनेक प्रकार की अनावश्यक क्रियाएँ करता रहता है–जैसे, उंगलियों का चटकाना, हाथों का झटकना, अपने आपसे बातें करना आदि। इन अनावश्यक क्रियाओं का व्यक्तित्व के मापन में अत्यधिक महत्व है। व्यक्ति के व्यवहार का अवलोकन किये बिना उसके सम्बन्ध में कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। शुद्ध अवलोकन के लिए यह आवश्यक है कि अध्ययन की जाने वाली वस्तु की ओर ही ध्यान लगाया जाये और जो कुछ भी अवलोकन किया गया है उसे तत्काल लिख लिया जाये, क्योंकि स्मृति के क्षीण होने पर अवलोकन के समय की बातें धूमिल हो जाती हैं। साथ ही, अवलोकन करने वाले में यह क्षमता भी होनी चाहिये कि वह किसी भी प्रकार के

नोट

संवेगात्मक सन्तुलन का पता लगा सके। यह दुर्भाग्य की बात है कि अध्यापक केवल बालकों के शैक्षिक समायोजन का ही अवलोकन करते हैं तथा जीवन से सम्बन्धित दूसरी परिस्थितियों में छात्र किस प्रकार समायोजन करते हैं? इस ओर ध्यान नहीं देते। इसके अतिरिक्त, केवल समस्यात्मक बालकों के व्यवहार का ही निरीक्षण नहीं करना चाहिये बल्कि सभी छात्रों का अवलोकन करना चाहिये। यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि अध्यापक को अपने अवलोकन के प्रति विश्वस्त होना चाहिये। साथ ही, जिन व्यवहारों का, वस्तुओं अथवा दृश्यों का, वह अवलोकन करना चाहता है, उसमें उसका निष्पक्ष होना एक मुख्य शर्त है। मात्र किसी के कहने पर उसे विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि, इसमें निर्णय अवलोकनकर्ता पर ही निर्भर करता है। अत: अवलोकन के परिणामों को अधिक सन्तोषजनक बनाने के लिए किसी प्रकार के आग्रह, पक्षपात या भावुकता से उत्प्रेरित नहीं होना चाहिये।

5.4 निरीक्षण के प्रकार

निरीक्षण मुख्यत: दो प्रकार का होता है–

1. बाह्य निरीक्षण (External Observation)
2. स्वयं निरीक्षण (Self-Observation)

हमारे सामने कभी ऐसी भी स्थितियाँ आती हैं जिनमें हम स्वयं व्यक्ति विशेष से ही पूछते हैं कि ऐसा आपने कितनी बार किया? कब किया और क्यूँ किया? यह आत्म निरीक्षण (Self-observation) है।

इस प्रकार के अवलोकन में किन्हीं बाहरी व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस विधि में एक मुख्य दोष यह रह जाता है कि अवलोकनकर्ता व्यवहार के केवल एक ही पक्ष का अवलोकन कर पाता है, क्योंकि वह उस व्यक्ति से पूर्ण परिचित नहीं होता है। स्वयं निरीक्षण में व्यक्ति से स्वयं अपना विवरण देने को कहा जाता है, लेकिन इस प्रकार के निरीक्षण में व्यक्ति बहुत सी बातों को छिपा जाता है। तीसरी विधि में, उपर्युक्त दोनों विधियों को सम्मिलित कर लिया जाता है। ऐसा परिस्थितिजन्य परीक्षणों (Situational tests) में किया जाता है। परिस्थितिजन्य परीक्षणों में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाती हैं जो जीवन की परिस्थितियों से मिलती जुलती हों, जैसे–ईमानदारी परीक्षण (Test of Honesty) नकल करने की प्रवृत्ति (Test of cheating) आदि। इसके पश्चात् व्यक्ति के व्यवहार का निरीक्षण किया जाता है।

अवलोकन का दो अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण किया जा सकता है–

(क) प्रत्यक्ष अवलोकन (Direct Observation)

(ख) अप्रत्यक्ष अवलोकन (Indirect Observation)

प्रत्यक्ष अवलोकन

प्रत्यक्ष अवलोकन में व्यक्ति का यथार्थ स्थिति में निरीक्षण किया जाता है। इस विधि में परीक्षणकर्ता बालक के व्यवहार का अवलोकन प्रत्यक्ष रूप से करता है। बालक अपने नित्य प्रति के कार्य में व्यस्त रहता है और निरीक्षणकर्ता अपने अवलोकन को नियमित रूप से लिखता जाता है। स्वाभाविक है कि निरीक्षणकर्ता की उपस्थिति में बालक का स्वभाव कुछ सीमा तक अस्वाभाविक हो जाता

है। फलतः हमारा अवलोकन परम शुद्ध नहीं कहा जा सकता, फिर भी, प्रत्यक्ष अवलोकन विधि के द्वारा बालकों के व्यवहार सम्बन्धी विभिन्न पक्षों के बारे में हमें सही जानकारी प्राप्त हो जाती है। अबोध बालक के व्यवहार के मूल्यांकन के सन्दर्भ में इस विधि की प्रमुखता दो कारणों से है–

नोट

1. अबोध बालक अपने व्यवहार को कृत्रिम बनाने की चेष्टा नहीं कर पाता है। अतः किसी अजनबी की उपस्थिति उसके व्यवहार को बहुत अधिक देर तक प्रभावित नहीं कर पाती है।
2. बालक में भाषा का विकास सीमित रहने के कारण प्रत्यक्ष अवलोकन ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है।

अप्रत्यक्ष अवलोकन

अप्रत्यक्ष अवलोकन में प्राप्त तथ्यों के आधार पर व्यक्ति को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रविधि प्रत्यक्ष अवलोकन का ही परिष्कृत रूप है। यह प्रविधि समाजशास्त्र के क्षेत्र में शोध कार्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। समाजशास्त्र के शोधकर्ताओं ने आदिवासियों की जीवन-शैली का विश्वसनीय परिचय इसी विधि के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस विधि को प्रभावशाली बनाने के लिए अग्र बातों को ध्यान में रखना चाहिये।

1. व्यवहार प्रारूप (Behaviour Pattern) निश्चित कर लेना चाहिये।
2. चयन किये गये व्यावहारिक पक्षों का विशिष्टीकरण (Specification) कर देना चाहिये।
3. व्यवहार अवलोकन को लिपिबद्ध करने (Recording) की उचित व्यवस्था की जाये।
4. निरीक्षण कार्य का परिमाणन (Quantification) कर लेना चाहिये।
5. इस विधि का प्रयोग करने वाले अध्यापक को उचित प्रशिक्षण दिया जाए।

5.5 निरीक्षण विधि की विशेषताएँ

1. निरीक्षण में बालक के यथार्थ व्यवहार का अवलोकन किया जाता है।
2. इस विधि का प्रयोग शिशुओं एवं वयस्कों दोनों के व्यवहार के अवलोकन के लिए किया जा सकता है।
3. व्यवहार का अवलोकन स्वाभाविक परिस्थितियों में किया जाता है।
4. इस विधि का प्रयोग गूंगे, बहरे तथा अपंग व्यक्तियों के व्यवहार का मूल्यांकन करने के लिए भी किया जा सकता है।
5. अबोध बालकों का अध्ययन करने के लिए अवलोकन एक अत्यन्त उपयोगी विधि है।
6. इस विधि के प्रयोगों में सामान्यतः किसी विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। इसका प्रयोग सभी व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है।
7. इस विधि द्वारा व्यक्ति या समूह का निरीक्षण एक ही समय में करना सम्भव है।

5.6 निरीक्षण की परिसीमाएँ

1. यह विधि आत्मनिष्ठता (Subjectivity) एवं पक्षपात (Bias) से पूर्ण होती है।
2. निरीक्षक विश्लेषण करते समय पूर्व-धारणाओं से प्रभावित होता है। मनोवैज्ञानिक इसे 'व्याप्त-प्रभाव' (Halo-effect) के नाम से पुकारते हैं।

3. विभिन्न अवलोककों द्वारा किया गया विवरण समान नहीं होता।
4. अवलोकन करने में समय अधिक लगता है।
5. अवलोकक के स्वयं के भाव, उसकी मनोवृत्ति, शारीरिक एवं मानसिक स्थिति, थकान आदि का भी अवलोकन पर प्रभाव पड़ता है।
6. व्यक्ति के सहज व्यवहार पर प्रेक्षक की उपस्थिति का प्रभाव पड़ता है, अतः पूरे प्रयास करने पर भी बालक के मनोवैज्ञानिक पर्यावरण (Psychological-Environment) को सामान्य नहीं बनाया जा सकता।
7. व्यक्ति दिल में कुछ चाहता है और बाह्य व्यवहार कुछ और प्रदर्शित करता है, ऐसी परिस्थिति में निरीक्षण लाभदायक नहीं होता।

नोट

5.7 सुझाव

अवलोकन विधि को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिये–

1. निरीक्षण का उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित कर लेना चाहिये।
2. निरीक्षण घटना का रिकार्ड तथा उसकी आख्या (त्मचवतज) वास्तविक एवं शुद्ध हो।
3. निरीक्षण की व्याख्या वस्तुनिष्ठ ढंग से होनी चाहिये।
4. निरीक्षण सम्बन्धी उपकरणों का निश्चय पहले से ही कर लेना चाहिये।
5. व्यवहार का मूल्यांकन अनेक अवलोकनों के आधार पर करना चाहिये, क्योंकि इससे विश्वसनीयता बढ़ जाती है।
6. जहाँ तक हो सके अवलोकनकर्ता यह प्रयास करे कि उसका अवलोकन पक्षपात रहित हो। यदि व्यक्ति विशेष में उसकी रुचि नहीं है तो अच्छा होगा वह निरीक्षण ही न करे।

5.8 प्रदत्तों का अर्थ एवं आवश्यकता

प्रदत्तों का अर्थ है निरीक्षण। वैज्ञानिक शैक्षिक अनुसन्धानों में प्रदत्तों की आवश्यकता पड़ती है। प्रदत्त प्रामाणिक अनुसन्धान उपकरणों या स्वयं निर्मित उपकरणों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। प्रदत्त परिमाण ाात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।

प्राप्तांक एक व्यक्ति का अंकीय वर्णन करता है, प्राप्तांकों की अपनी विशेषताएँ होती हैं। मापन प्रक्रिया एक चर का परिमाणात्मक रूप से मापन करने में सहायक होती है। प्रदत्त आकृति और प्राप्तांकों के रूप में एकत्रित किये जाते है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस प्रकार के उपकरणों के द्वारा प्रदत्तों का संकलन किया जा रहा है। अधिकांशतः परीक्षणों के द्वारा जो प्रदत्त एकत्रित किये जाते हैं, वह प्राप्तांकों के रूप में होते हैं तथा प्रश्नावली से प्राप्त प्रदत्त आकृति के रूप में होते हैं। प्रदत्त वह वस्तु है जिनकी सहायता से हम समझते हैं कि शोध के निष्कर्ष वैध तथा विश्वसनीय हैं। इनकी प्रामाणिकता की परख की जा सकती हैं।

प्रदत्तों के संकलन की आवश्यकता

शोध कार्यों में प्रदत्तों का संकलन निम्नांकित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है–

1. शैक्षिक अनुसन्धानों में प्रदत्तों का संकलन शोध कार्यो के लिए ठोस आधार प्रदान करता है।

नोट

2. किसी उत्पादन के लिये जिस प्रकार कच्ची सामग्री चाहिए, उसी प्रकार से शोध कार्य के लिए प्रदत्तों की आवश्यकता पड़ती है। यदि प्रदत्त गुणात्मक रूप में एकत्रित किये गये हैं तब शोध के परिणाम भी गुणात्मक होंगे।
3. प्रदत्तों के आधार पर शोध के सुनिश्चित प्रश्न का सुनिश्चित उत्तर दिया जा सकता है। वैज्ञानिक शोध कार्यों के लिए प्रदत्तों की नितान्त आवश्यकता होती है।
4. शोध के निष्कर्षों की पुष्टि में प्रदत्तों का विशेष महत्त्व होता है।
5. शोध कार्यों में प्रदत्तों का संकलन परिकल्पनाओं की पुष्टि के लिए किया जाता है।
6. सांख्यिकीय प्रदत्तों को दो समस्याओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है–
   (i) जनसंख्या के मानकों का अनुमान लगाया जाता है जिससे सामान्यीकरणों के प्रतिपादन में सहायता मिलती है।
   (ii) शोध की परिकल्पनाओं का परीक्षण किया जाता है जिससे शोध की समस्या अथवा प्रश्न का उत्तर मिलता है।
7. गुणात्मक प्रदत्तों के आधार पर तथ्यों की खोज की जाती है और परिमाणात्मक प्रदत्तों के आधार पर नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है।
8. नवीन प्रविधियों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन प्रदत्तों के आधार पर किया जाता है।
9. प्रदत्तों के आधार पर समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान ज्ञात किया जाता है।
10. शोध के सामान्यीकरणों की शुद्धता प्रदत्तों की विश्वसनीयता और वैधता पर आधारित होती है।

प्रदत्तों एवं तथ्यों में अन्तर

प्रदत्तों एवं तथ्यों में अन्तर निम्न प्रकार हैं–

1. तथ्य अपने भौतिक जगत में संगठित होते हैं जबकि प्रदत्त क्रमबद्ध रूप से संगठित होते हैं।
2. तथ्य किसी पद्धति के सन्दर्भ से प्राप्त नहीं होता है जबकि प्रदत्तों में एक क्रमिक संगठन होता है, जैसे–शरीर में एक क्रमिक संगठन होता है।
3. तथ्यों की विवेचना करना कठिन है तथा तथ्यों की विवेचना अधिकांशतः व्यक्तिनिष्ठ होती है। यह अनुसन्धानकर्त्ता की कल्पना पर आधारित होता है जबकि प्रदत्तों का विवेचना परिमाणात्मक तथा वस्तुनिष्ठ होता है।
4. तथ्य प्रकृति से रहस्यात्मक होते हैं जबकि प्रदत्त प्रकृति से रहस्यात्मक नहीं होते हैं। उनका निरीक्षण किया जाता है।
5. तथ्य प्रकृति से वर्णनात्मक होते हैं जबकि प्रदत्त प्रकृति से व्याख्यात्मक होते हैं।
6. तथ्य वस्तुनिष्ठ सांख्यिकीय व्यवहार के लिये उत्तरदायी नहीं होते हैं जबकि प्रदत्त वस्तुनिष्ठ सांख्यिकीय व्यवहार के लिये उत्तरदायी होते हैं। प्रदत्तों में सांख्यिकी का उपयोग किया जाता है।
7. तथ्यों का सम्बन्ध अनुसन्धान सम्बन्धी खोजों तथा निष्कर्षों से नहीं होता है जबकि प्रदत्तों का सीधा सम्बन्ध अनुसन्धान सम्बन्धी खोजों एंव निष्कर्षों से होता है।
8. तथ्य अधिकांशतः बहुत विस्तृत होते हैं तथा इनका उपयोग अपने उद्देश्य के लिए नहीं किया जाता है जबकि प्रदत्त सदैव एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकत्रित किये जाते हैं।

9. तथ्यों का संकलन ऐतिहासिक, दार्शनिक या सर्वेक्षण अनुसन्धान द्वारा किया जाता है जबकि प्रदत्तों का संकलन वैज्ञानिक तथा प्रयोगात्मक अनुसन्धान के लिए किया जाता है।

5.9 प्रदत्तों की प्रकृति एवं मापन प्रविधियाँ

नोट

शैक्षिक अनुसन्धानों का सम्बन्ध समूह के गुणों से होता है। मापन के उपकरणों की सहायता से गुणों को परिमाण में बदल लिया जाता है। परंतु सभी गुणों को परिमाण में नहीं बदला जा सकता है। अत: प्रदत्तों को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है-

1. गुणात्मक प्रदत्त (Qualitivative Data) तथा
2. परिमाणात्मक प्रदत्त (Quantitative Data)।

1. **गुणात्मक प्रदत्त** (Qualitative)–सभी गुणों को मापन की प्रक्रिया द्वारा परिमाण में नहीं बदला जा सकता है अर्थात् कुछ गुणों को अंकीय मूल्य नहीं दिया जाता है। उन्हें सापेक्षित रूप में बदल लेते हैं जैसे-आत्मविश्वास, ईमानदारी, अभिप्रेरणा तथा सुन्दरता आदि।
2. **परिमाणात्मक प्रदत्त** (Quantitative Data)–जिन गुणों को अंकीय मूल्य प्रदान कर दिये जाते हैं उन्हें चर कहते हैं जैसे-निष्पत्ति, बुद्धि, प्रवीणता, व्यक्तित्व, अभिरुचि तथा मूल्य आदि।

   मापन की प्रक्रिया द्वारा गणों को परिणाम में बदल लिया जाता है। मापन में अनेक विधियाँ तथा अनेक प्रकार के उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। मापन प्रविधि गुण के स्वरूप तथा प्रकृति पर आधारित होती है।

   वैज्ञानिक शोध कार्यों में मापन प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है क्योंकि शुद्ध तथा उच्च स्तरीय शोध का विकास मापन के उपकरणों से ही हुआ है। निष्कर्षों को सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है। परिमाणात्मक प्रदत्तों के आधार पर गुणों की प्रकृति का अध्ययन शुद्ध रूप में किया जाता है तथा परिणामों की व्याख्या वस्तुनिष्ठ रूप में किया जा सकता है।

मापन की प्रविधियाँ

मापन की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति के गुणों को अंकीय मान दिया जाता है। न्यादर्श के अपेक्षित चरों का मापन किया जाता है जिसके लिये अधोलिखित मापनी प्रविधियों को प्रयुक्त किया जाता है-

1. निरीक्षण प्रविधि का प्रयोग छोटे बालकों तथा पशुओं के गुणों के मापन में किया जाता है। कक्षा अन्त:प्रक्रिया के लिए भी निरीक्षण प्रणाली को प्रयुक्त करते हैं। इस प्रविधि का विकास अधिक हुआ है तथा प्रयोग भी शिक्षा के क्षेत्र में अधिक होता है।
2. शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षणों की सहायता से कोई चरो का मापन शुद्ध रूप में किया जाता है। इनसे प्राप्त प्रदत्त अधिक वैध तथा विश्वसनीय होते हैं।
3. प्रश्नावली, साक्षात्कार से भी अपेक्षित सूचनाओं तथा प्रदत्तों का संकलन किया जाता है।
4. अनुस्थिति मापन (Scale) अभिसूची (Inventory) द्वारा अभिरुचि, अभिवृति तथा व्यक्तित्व का मापन किया जाता है।
5. ऐतिहासिक शोध में प्रदत्तों को प्राथमिक तथा गौण स्रोतों के विश्लेषण से प्राप्त किया जाता है।

इस प्रकार शोध कार्यों में अनेक प्रकार के मापन उपकरण प्रयुक्त किये जाते हैं और विविध प्रकार के प्रदत्तों का संकलन किया जाता है। प्रमुख मापनी उपकरणों का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

नोट

5.10 चर एवं अचर राशि

अचर उस गुण को कहते हैं जो शोध के समय सभी परिस्थितियों में एक-सा रहता है। न्यादर्श के सदस्यों में इस गुण के सन्दर्भ में सामानता रहती है।

चर उस गुण को कहते हैं जो शोध की सभी परिस्थितियों में परिवर्तनशील रहता है। न्यादर्श के सभी सदस्यों में उस गुण के सन्दर्भ में विषमता रहती है।

शोध की परिस्थितियों में अनेक गुणों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु यह शोध की अवधारणा पर निर्भर करता है कि कौन-सा गुण अचर है और कौन-सा गुण चर माना गया है।

अचर तथा चर को एक उदाहरण से समझ सकते हैं। शिक्षा की दो विधियों की प्रभावशीलता का अध्ययन करना है तब एक ही अध्यापक, एक ही पाठ्य-वस्तु, दो कक्षाओं को दो पृथक् विधियों से पढ़ाकर एक परीक्षण के आधार पर प्रभावशीलता के सन्दर्भ में निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

शिक्षक दोनों विधियों में समान कौशल से पढ़ाता है। वह एक प्रमुख अचर है।

चर राशि

चर उस गुण विशेष को कहते हैं जिसको परिमाण में बदल सकते हैं और न्यादर्श का प्रत्येक सदस्य उस चर के सन्दर्भ में एक दूसरे से भिन्न होता है। समूह की विषमता की गणना अंकीय मूल्यों में की जा सकती है।

चरों (Variables) को दो रूपों में विभाजित किया जाता है-

1. सतत्-चर (Continuous Variable) तथा
2. असतत्-चर (Discrete Variable)।

1. **सतत्-चर** (Continuous Variable)-सतत्-चर वे कहलाते हैं, जब मापन में गुणन खण्डीय मूल्य भी दिया जाता है। उदाहरण के लिए, शैक्षिक निष्पत्ति मापन में 24.50 तथा 64.75 अंक दिये जाते हैं। छात्रों के भार मापन में 62.60 कि. ग्राम तथा 74.25 कि0 ग्राम होता है। यह मापक के उपकरण की शुद्धता पर निर्भर करता है। चर के मापन में सतत् प्रवृति रहती है।
2. **असतत्-चर** (Discrete Variable)–असतत्-चर वे कहलाते हैं जब मापन पूर्ण इकाइयों से किया जाता है और खण्डीय मूल्य नहीं दिया जाता है, जैसे 30 छात्र और छात्रायें, 64 पास और 36 फेल, 15 भारतीय तथा 20 अमेरिकन आदि। चर के मापन में असतत् प्रवृति रहती है।

चरक

साधारणत: चर का मापन उपकरण की सहायता से किया जाता है। जब किसी चर को परिमाण में बदल दिया जाता है तब उसे चरक (Variate) कहते हैं। जब किसी न्यादर्श के सदस्यों की बुद्धि को बुद्धिलब्धि (I.Q.) में मापन कर लेते हैं तब उसे चरक की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार

निष्पत्ति का मापन अंकों में कर लिया जाये तो उसे चरक कहते हैं। सांख्यिकी विश्लेषण में एक चरक विश्लेषण, द्वि-चरक विश्लेषण तथा बहु-चरक विश्लेषण प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रदत्तों के प्रक्रिया में चरों को चरकों में बदल दिया जाता है। प्रदत्तों के सांख्यिकीय विश्लेषण से निष्कर्ष निकाले जाते हैं जिनसे सामान्यीकरण किया जाता है। शोध-कार्यो, चरों तथा सांख्यिकीय-विश्लेषण में चरकों को प्रयुक्त किया जाता है।

चर का परिमाणीकरण

परिमाणीकरण की प्रक्रिया में चर के स्तर के लिये अंकीय मान दिया जाता है। परिमाणीकरण में मापन प्रक्रिया को प्रयुक्त किया जाता है जिससे प्रदत्त या अंक प्राप्त होते हैं।

साधारणत: शैक्षिक शोध-कार्यों में प्रदत्तों की सहायता से परिकल्पनाओं की पुष्टि की जाती है और इससे निष्कर्ष निकालते हैं। गुणात्मक प्रदत्तों को परिमाण में भी बदल लिया जाता है और उनकी सार्थकता की परख सांख्यिकी विश्लेषण से की जाती है। जब गुणात्मक प्रदत्तों को परिमाण ात्मक प्रदत्तों में नहीं बदल पाते है तब व्याख्यात्मक व्याख्या की जाती है।

परिमाणात्मक प्रदत्तों की विशेषताएँ

शोध के मापन उपकरणों की सहायता से प्रदत्तों का संकलन किया जाता है। इनकी अधोलिखित विशेषताएँ होती हैं-

1. प्रामाणिक परीक्षणों की सहायता से परिमाणात्मक प्रदत्तों का संकलन किया जाता है। यदि अनुसन्धानकर्ता स्वयं परीक्षण का निर्माण करता है तब उसकी विश्वसनीयता तथा वैधता भी ज्ञात की जाती है। पद-विश्लेषण भी किया जाता है।
2. परिमाणात्मक प्रदत्त विश्वसनीय तथा वैध उपकरण से एकत्रित किये जाते हैं, इसलिए सामान्यीकरण अधिक शुद्ध होते हैं।
3. परिमाणात्मक प्रदत्तों से प्राप्त निष्कर्षों की व्याख्या सरलता तथा सुगमता से किया जा सकता है। सार्थकता का स्तर भी निर्धारित किया जाता है।
4. परिमाणात्मक प्रदत्तों की अंकन प्रक्रिया वस्तुनिष्ठ होती है। व्यक्तिगत पक्षों का प्रभाव नहीं होता है।
5. परिमाणात्मक प्रदत्तों का संकलन शोध के उद्देश्यों की दृष्टि के किया जाता है और शोध की परिकल्पनाओं की पुष्टि की जाती है।
6. परिमाणात्मक प्रदत्तों का सांख्यिकीय विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं जिससे अधिक शुद्ध सामान्यीकरण किया जाता है।
7. शैक्षिक शोध-कार्यों में परिमाणात्मक प्रदत्तों की सहायता से शुद्ध तथा सही परिणाम प्राप्त किये जाते हैं।

5.11 प्रदत्तों के प्रकार

मापन प्रक्रिया के चार स्तर होते हैं जिनसे चार प्रकार के प्रदत्त प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदत्तों को बाँट सकते हैं-

1. नाम-सम्बन्धी प्रदत्त (Nominal data or Scale)

2. क्रम-सूचक प्रदत्त (Ordinal data or Scale)
3. समान-अवान्तर प्रदत्त तथा (Equal-Interval data or Scale)
4. अनुपात प्रदत्त (Ratio data or Scale)

नोट

1. नाम सम्बन्धी प्रदत्त (Nominal data)–प्रदत्त साधारणत: चार प्रकार के होते हैं परन्तु यह सबसे कम शुद्ध स्तर के प्रदत्त माने जाते हैं। इसमें केवल दो या दो से अधिक वर्गों में किसी समूह या तथ्यों का विभाजन किया जाता है। उसकी आवृतियों में गणना की जाती है, जैसे–पास या फेल, छात्र और छात्रायें, हिन्दु तथा मुस्लिम आदि। उसके परिणाम का बोध नहीं होता है। इस प्रकार प्रदत्तों के लिए निरीक्षण-प्रविधि तथा प्रश्नावली प्रविधि प्रयुक्त की जाती हैं।

इस प्रकार के प्रदत्तों को आवृत्तियों के रूप में एकत्रित किया जाता है। इस प्रकार के प्रदत्तों के विश्लेषण के लिये प्रतिशत, बहुलांक-मान, काई वर्ग परीक्षण तथा सह-सम्बन्ध के लिए कनटिनजेन्सी प्रविधि प्रयुक्त की जाती है। साधारणत: वर्णनात्मक सांख्यिकीय प्रविधियों को ही प्रयुक्त किया जा सकता है। कक्षा शिक्षण की व्यवस्था में इसी प्रकार के प्रदत्तों को प्रयुक्त किया जाता है।

2. क्रम-सूचक प्रदत्त (Ordinal Data)-नाम-सम्बन्धी प्रदत्तों की अपेक्षा प्रदत्तों का यह रूप अधिक शुद्ध होता है। प्रत्येक वर्ग के छात्रों को एक क्रम में व्यवस्थित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग के सदस्य को अनुस्थिति दी जाती है। इस प्रकार के प्रदत्तों के लिए निरीक्षण प्रविधि तथा अनुस्थिति-मापनी का प्रयोग किया जाता है। सदस्यों की योग्यता के आध ार पर उनका स्तरीकरण किया जाता है और अनुस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं। सदस्य के क्रम स्तर का तो बोध होता है परन्तु उनकी सही दूरी स्पष्ट नहीं होती है। इसमें सदस्यों के समूह का विभाजन करके योग्यतानुसार अनुस्थिति प्रदान की जाती है, जैसे-कक्षा के छात्रों को लड़के तथा लड़कियों में विभाजित करके प्रत्येक को उनकी योग्यतानुसार क्रम में रखा जाता है।

इसमें आवृतियों को क्रम में प्रस्तुत किया जाता है। सांख्यिकीय प्रविधियों में मध्यांक चतुर्थांशमान, काईवर्ग परीक्षण तथा स्पीयरमैन अनुस्थिति सह-सम्बन्ध विधि द्वारा इस प्रकार के प्रदत्तों का विश्लेषण किया जाता है। कक्षा-शिक्षण में अध्यापक अपने निरीक्षण के आधार पर छात्रों का स्तरीकरण करता है। छात्र के व्यवहार के आधार पर अनुस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं।

3. समान-अवान्तर प्रदत्त (Equal Interval Data)–इस प्रकार के प्रदत्तों की वह सब विशेषताएँ होती हैं जो उपरोक्त दोनों प्रकार के प्रदत्तों की होती हैं, परन्तु इस प्रकार के प्रदत्तों की विशेषता यह होती है कि सदस्यों के मध्य की दूरी प्रकट हो जाती है। इस प्रकार के प्रदत्तों में शून्य माना हुआ होता है। शैक्षिक मापन मे अधिक शुद्ध प्रदत्त इसी प्रकार के होते हैं। शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक मापन सापेक्ष होता है। अत: शून्य माना हुआ होता है।

इन प्रदत्तों के लिये समूह के सदस्यों के किसी गुण के मापन में अंक प्रदान किये जाते हैं। जैसे-शैक्षिक उपलब्धियों के लिये विषयगत अंक दिए जाते हैं। बुद्धि के मापन हेतु भी अंक दिये जाते हैं।

शिक्षा तथा मनोविज्ञान में यह सबसे शुद्ध प्रकार का प्रदत्त होता है। इस प्रकार के प्रदत्तों से शोध-कार्यों मे जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वे अधिक विश्वसनीय तथा शुद्ध होते हैं। साधारणत: इन तीनों के प्रदत्तों को व्यावहारिक विज्ञानों–शिक्षा, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र में प्रयोग करते हैं। इन तीनों प्रकार के प्रदत्तों को अधोलिखित तालिका में प्रस्तुत किया गया है–

तालिका 5.1. प्रदत्तों के प्रकार

छात्र	**नाम सम्बन्धी**	**क्रम सूचक**	समान-अवान्तर
	लिंग	**निष्पत्ति स्तर**	**निष्पत्ति प्राप्तांक**
अ	लड़का–1	द्वितीय	68
ब	लड़की–1	प्रथम	76
स	लड़की–1	तृतीय	60
द	लड़की–1	पंचम	28
अ	लड़का = 2 लड़की = 3	चतुर्थ	45

इस तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम तथा द्वितीय में एक अनुस्थिति का अन्तर है और 8 अंकों का अन्तर है। चतुर्थ तथा पंचम में भी अनुस्थिति का अन्तर है परन्तु 20 अंकों का अन्तर है। इस प्रकार अवान्तर प्रदत्त अधिक शुद्ध होते हैं परन्तु इसमें शून्य अंक माना हुआ होता है क्योंकि किसी छात्र की निष्पत्ति शून्य नहीं हो सकती परन्तु परीक्षा में सभी अंक सही न करने पर शून्य अंक दिया जाता है।

4. **अनुपात-प्रदत्त** (Ratio-Data)–इस प्रकार के प्रदत्तों की वह सभी विशेषताएँ होती हैं जो अवान्तर प्रदत्तों की तथा दो अतिरिक्त विशेषताएँ होती हैं–

(अ) इस प्रकार के प्रदत्तों का संदर्भ-बिन्दु शून्य होता है जबकि उपरोक्त प्रदत्तों का संदर्भ बिन्दु शून्य नहीं होता है अपितु समूह सन्दर्भ होता है। शून्य मान उस चर की अनुस्थिति प्रदर्शित करता है। भौतिक विज्ञानों में इस प्रकार के प्रदत्त एकत्रित किये जाते हैं। भौतिक विज्ञान में मापनियों पर शून्य सभी में होता है।

(ब) अनुपात-प्रदत्त में जो अंक दिये जाते हैं वे वास्तविक अंक होते हैं, उन्हें जोड़ा जा सकता है, घटाया जा सकता है जबकि अवान्तर प्रदत्तों में ऐसा सम्भव नहीं होता है। 15 ग्राम, 5 ग्राम का तिगुना होता है परन्तु शैक्षिक मापन के अंकों में ऐसा सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता है।

उपरोक्त चार प्रकार के प्रदत्तों का वर्गीकरण मापन के चार स्तरों पर आधारित होता है। प्रदत्तों की प्रकृति मापन के स्तर से स्पष्ट हो जाती है। अनुसंधानकर्ता को इन चारों मापन के स्तर की विस्तृत जानकारी होना आवश्यक है तभी वह प्रदत्तों की प्रकृति समझ सकता है। इनका विस्तृत विवरण अग्रांकित तालिका में दिया जाता है।

इस तालिका से मापन स्तरों तथा प्रदत्तों के प्रकार की प्रकृति, अवधारणाओं तथा विशेषताओं को भली प्रकार समझा जा सकता है। प्रथम तीन स्तरों/प्रदत्तों का उपयोग

शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक शोध-कार्यों में अधिक होता है जबकि चतुर्थ प्रकार के प्रदत्तों का उपयोग भौतिक विज्ञानों में ही किया जाता है।

नोट

5.12 प्रदत्तों का संकलन

व्यावहारिक मनोविज्ञान में शोध-कार्य के लिए प्रदत्तों का संकलन शोध के उपकरणों का प्रशासन, न्यादर्श के सदस्यों पर करके किया जाता है। शोध में विभिन्न प्रकार के चरों के मापन के लिए विविध प्रकार की मापन प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। शोध के उपकरणों की सहायता से विविध प्रकार के प्रदत्तों का संकलन किया जाता है। इसके लिये आवश्यक होता है कि शोधकर्ता अपने चरों की प्रकृति को भली प्रकार समझने का प्रयास करे और समुचित मापन प्रविधि का चयन करके प्रदतों का संकलन करे। प्रदत्तों की प्रकृति, चर की प्रकृति तथा मापन के उपकरण की प्रकृति पर आधारित होता है। इस तथ्य को तालिका से स्पष्ट किया गया है।

मापन के स्तर प्रदत्तों की प्रकृति, विशेषताओं, मापनियों के उपयोग तथा सांख्यिकी की प्रविधियों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण आधार होता है। प्रदत्तों की प्रकृति ही विश्लेषण प्रविधियों का निर्धारण करती है। निष्कर्षों की वैधता प्रदत्तों पर ही आधारित होती है।

तालिका 5.2. मापन के स्तरों का वर्गीकरण

स्तर	विशेषताएँ	अवधारणाएँ	मापनी	सांख्यिकीय प्रविधि
1. नाम-सम्बन्धी स्तर	वर्गीकरण, समानता, असमानता	सभी सदस्यों को एक से अंक प्राप्त किये जाते हैं परन्तु एक दो समूहों को एक अंक नहीं दिया जाता है।	निरीक्षण-विधि, प्रश्नावली, साक्षात्कार	प्रतिशत बहुलांक मान सह-सम्बन्ध विधि काई-वर्ग परीक्षण
2. क्रमसूचक स्तर	वर्गीकरण क्रम समानता/असमानता	उपरोक्त सभी सदस्यों को एक क्रम मे चर के व्यावहारिक आधार पर व्यवस्थित किया जाता है।	निरीक्षण-विधि, अनुस्थिति मापनी, शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षण	बहुलांक मान, मध्मांक मान, अनुस्थिति सह-सम्बन्ध विधि, काई-वर्ग परीक्षण, शतांकमान
3. समान अवान्तर स्तर	उपरोक्त सभी इकाई/अंक जोड़ा तथा घटाया जा सकता है, गुणा कर सकते हैं।	उपरोक्त सभी स्तरों पर सदस्यों की योग्यता की दूरी प्रदर्शित की जाती है।	शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षण, अनुस्थिति मापनी, निरीक्षण प्रविधियाँ।	उपरोक्त सभी तथा मध्यमान, प्रमाणिक विचलन, उच्च परीक्षण थे तथा टी.एफ. 'पीयर्सन सह-सम्बन्ध विधि'

4. अनुपात स्तर	उपरोक्त सभी तथा शून्य का अस्तित्व होता है। जोड़ा, घटाया तथा गुणा किया जा सकता है।	उपरोक्त सभी स्तर पर शून्य प्राकृतिक होता है।	भौतिक मापन प्रविधियों द्वारा प्रदत्त एकत्रित किये जाते हैं। लम्बाई, समय, गति आदि।	उपरोक्त सभी तथा अंकगणित का भी प्रयोग किया जाता है।

तालिका 5.3. चरों पर आधारित प्रदत्त

चर	उपकरण	प्रदत्त की प्रकृति
1. निष्पत्ति	शैक्षिक परीक्षण	समान अवान्तर स्तर
2. बुद्धि	मनोवैज्ञानिक परीक्षण	समान अवान्तर स्तर
3. प्रवणता	मनोवैज्ञानिक परीक्षण	समान अवान्तर स्तर
4. अभिवृत्ति	अनुस्थिति अनुसूची	क्रम सूचक स्तर
5. अभिरूचि	अनुसूची	अवान्तर स्तर
6. समायोजन	अनुसूची	अवान्तर स्तर
7. व्यक्तित्व	अनुसूची	अवान्तर स्तर
8. अनुभूति या भाव	प्रश्नावली साक्षात्कार	नाम सम्बन्धी स्तर

इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के शैक्षिक उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। सबसे उपयोगी 'निरीक्षण प्रविधि' है। इसके उपयोग से प्रदत्त नाम-सम्बन्धी स्तर से समान अवान्तर स्तर तक प्राप्त किये जाते हैं।

शैक्षिक मापन उपकरणों का सम्बन्ध प्रदत्तों की प्रकृति तथा सांख्यिकीय प्रविधियों से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार का वर्गीकरण अधोलिखित तालिका में प्रदर्शित किया गया है।

तालिका 5.4. प्रदत्तों का वर्गीकरण उपकरण तथा सांख्यिकीय प्रविधि

स्तर	शोध उपकरण	सांख्यिकीय प्रविधि
1. नाम-सम्बन्धी स्तर	प्रश्नावली साक्षात्कार निरीक्षण विधि	आवृत्ति, प्रतिशत, बहुलांक काई वर्ग तथा 'सी' सह-सम्बन्ध
2. क्रम सूचक स्तर	अनुस्थिति अनुसूची निरीक्षण विधि स्तर-अनुसूची	मध्यांक मान, विचलन मान स्पीयर मैन सह-सम्बन्ध विधि, काई-वर्ग परीक्षण तथा 'सी' सह-सम्बन्ध विधि
3. सामान अवान्तर स्तर	मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षिक परीक्षण, निरीक्षण विधि, अनुस्थिति मापनी	उपरोक्त सभी तथा मध्यमान, प्रामाणिक विचलन मान, पीयरसन सह-सम्बन्ध विधि, 'टी' परीक्षण, उच्च सह-सम्बन्ध विधि
4. अनुपात स्तर	भौतिक मापन प्रविधियाँ	अंकगणित की विधियों से विश्लेषण किया जा सकता है। मध्यान तथा सह-सम्बन्ध विधियाँ

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता कि सांख्यिकीय प्रविधियाँ शोध के उपकरण तथा प्रदत्तों की प्रकृति पर आधारित होते हैं। समुचित सांख्यिकीय प्रविधि का चयन प्रदत्तों के आधार पर ही किया जा सकता है। अत: शोधकर्ता को प्रदत्तों की प्रकृति का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

नोट

प्रदत्तों के संकलन की आचार-संहिता (म्जीपबंस ब्वदेपकमतंजपवद पद क्ंजं ब्वससमबजपवद)

शैक्षिक शोध-कार्यों के न्यादर्श में प्रमुख रूप से मानवीय सदस्यों का चयन किया जाता है। अत: प्रदत्तों के संकलन में निम्नांकित आचार संहिता का निर्वाह करना चाहिये–

1. शोधकर्ता को न्यादर्श के सदस्यों के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिये और उनके सम्मान का ध्यान रखना चाहिये।
2. न्यादर्श के सदस्यों का ध्यान रखना चाहिये।
3. न्यादर्श से प्राप्त प्रदत्तों को गोपनीय रखना चाहिये।
4. शोधकर्ता को प्रदत्तों की गोपनीयता का उल्लघंन नहीं करना चाहिये।
5. शोधकर्ता को अनुसन्धान के स्तर का ध्यान रखना चाहिये।
6. पर्यवेक्षक को शोधकर्ता के सभी कार्यों का पूर्णरूपेण ध्यान रखना चाहिये।

प्रत्येक शोधकर्ता को उपरोक्त आचार-संहिता के नियमों का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिये। न्यादर्श के सदस्यों के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं करना चाहिये। उस संस्था का नाम दिया जा सकता है जहाँ से न्यादर्श के सदस्यों का चयन किया गया है। इसके लिए भी सांकेतिक भाषा प्रयुक्त की जाये तब अधिक उत्तम रहता है। विशिष्ट शोध-कार्य के न्यादर्श के सदस्यों का सम्मान करना चाहिये और उनसे पहले सम्पर्क स्थापित करना चाहिये।

प्रदत्तों के संकलन में सावधानियाँ

शोध-कार्य में प्रदत्तों के संकलन में अधोलिखित सावधानियाँ रखनी चाहिये–

1. प्रदत्त शोध की समस्या के लिए सार्थक होना चाहिये।
2. प्रदत्तों का संकलन प्रामाणिक उपकरणों की सहायता से करना चाहिये।
3. प्रदत्त इस प्रकार के होने चाहिये जिनके विश्लेषण सांख्यिकीय प्रविधियों द्वारा किया जा सके।
4. प्रदत्तों के संकलन में मापन-त्रुटि भी कम-से-कम होनी चाहिये।
5. प्रदत्तों के संकलन में न्यादर्श त्रुटि भी कम होनी चाहिये।
6. प्रदत्तों का स्वरूप इस प्रकार का हो जिससे जनसंख्या के मानकों का सही अनुमान लगाया जा सके।
7. प्रदत्त अपने में पूर्ण तथा व्यापक होने चाहिये।
8. प्रदत्तों का सकंलन वस्तुनिष्ठ रूप में किया जाना चाहिये।
9. प्रदत्त शुद्ध तथा सही होने चाहिये।
10. प्रदत्तों का स्वरूप इस प्रकार का हो जिनका प्रस्तुतीकरण तथा व्याख्या सुगमता से किया जा सके।
17. प्रदत्तों के लिए अंकन विधि सरल तथा वस्तुनिष्ठ होनी चाहिए।

नोट

5.13 प्रदत्तों की व्यवस्था तथा वर्गीकरण

प्रदत्तों के संकलन के बाद उनका वर्गीकरण तथा व्यवस्था की जाती है जिससे उनका समुचित रूप में विश्लेषण किया जा सके और निष्कर्ष निकाले जा सकें।

प्रदत्तों का संकलन विश्वसनीय तथा वैध उपकरणों की सहायता से किया जाता है। यह कच्चे माल की तरह होते हैं। इनका कुछ भी अर्थ नहीं होता है। प्रदत्तों को सार्थक बनाने के लिए सांख्यिकीय प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। इसलिए प्रदत्तों का वर्गीकरण तथा व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है।

प्रदत्तों के वर्गीकरण का अर्थ होता है कि प्राप्त सूचनाओं को विभिन्न वर्गों में विभाजित करना जिसे अपेक्षित परिणामों के लिए विश्लेषण किया जा सके।

शोध के प्रदत्तों का वर्गीकरण

प्राप्त प्रदत्त अपने आरम्भिक रूप में अस्पष्ट, विस्तृत, अर्थहीन उलझे हुए होते हैं। वर्गीकरण के बिना उनमें किसी सांख्यिकीय प्रविधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता है तथा न ही उनके आधार पर कोई परिणाम या निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है। अत: एकत्रित प्रदत्तों को उपयोगिता की दृष्टि से संक्षिप्त करना और उन्हें एक व्यवस्थित रूप देना आवश्यक है। इस प्रकार वर्गीकरण प्रदत्तों को व्यवस्थित एंव संक्षिप्त करने की प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत समान एवं असमान गुणों के अनुसार प्रदतों को इस प्रकार विभाजित करते हैं कि समान गुणों वाले प्रदत्त एक ही वर्ग में तथा असमान गुणों वाले प्रदत्त अन्य वर्गो में आ सकें। ऐसा करने से अनुसन्धान के प्रदत्तों में स्पष्टता आ जाती है।

एलहंस के अनुसार, "प्रदत्तों को उनकी एकरूपता एवं समानता के अनुसार समूह अथवा वर्गों में व्यवस्थित करने की प्रक्रिया को पारिभाषिक रूप में वर्गीकरण कहा जाता है।"

प्रदत्तों के वर्गीकरण के आवश्यक गुण

अच्छे वर्गीकरण में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है–

1. **स्पष्टता** (Clarity)–वर्गीकरण की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्पष्टता है। विभिन्न वर्गों में विभाजित प्रदत्त इस प्रकार सुगम एवं स्पष्ट होने चाहिये कि उनमें सन्देह के लिये कोई स्थान न रहे।
2. **स्थिरता** (Stability)–वर्गीकरण में स्थिरता का होना भी आवश्यक है। यदि उसमें स्थिरता नहीं, तो प्रत्येक पुनरावृत्ति में भिन्नता पैदा हो जाती है, इसके आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करना असंभव होगा।
3. **परिवर्तनशीलता** (Flexibility)–वर्गीकरण के लिये यह आवश्यक है कि इसमें समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन एवं समन्वय की क्षमता हो।

प्रदत्तों के वर्गीकरण के आधार

अनुसन्धान के प्रदत्तों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधार पर हो सकता है–

1. **गुणात्मक आधार** (Qualitative basis)–गुणात्मक आधार से तात्पर्य प्रदत्तों को उनके लक्षणों एवं गुणों के आधार पर विभाजित करना है, जैसे-रुचि, प्रवृत्ति आदि।

नोट

2. **संख्यात्मक एवं परिमाणात्मक आधार** (Quantitaive basis)–जहाँ प्रदत्तों का वर्गीकरण गुणात्मक आधार पर वर्गीकृत नहीं किया जा सकता, वहाँ संख्यात्मक एंव परिभाषात्मक आधारों को अपनाया जाता है, उदाहरणार्थ- आयु, लम्बाई, ऊँचाई, संख्या आदि।
3. **सामयिक आधार** (Situational basis)–सामयिक आधार में प्रदत्तों का वर्गीकरण विशेष समय की प्रवृत्ति अथवा अवस्था के अनुसार किया जाता है।
4. **भौगोलिक आधार** (Geographical basis)–भौगोलिक क्षेत्रों के अनुसार प्रदत्तों का वर्गीकरण हो सकता है।

प्रदत्तों के वर्गीकरण के प्रकार

1. **सरल वर्गीकरण अथवा द्वि-चरक वर्गीकरण** (Uni-or-Bi-variate)– वर्गीकरण की इस पद्धति के अनुसार, प्रदत्तों को किसी एक विशिष्ट गुण के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जाता है, जिसके प्रथम भाग में एक गुण वाले प्रदत्त आ सकें। दूसरे वर्ग में वे प्रदत्त आयेंगे जिनमें वे गुण नहीं हैं।
2. **बहु-चरक वर्गीकरण** (Multi-Variate)–प्रदत्तों को विभिन्न गुणों के आधार पर अनेक वर्गों में विभाजित किया जाता है। इसमें दो से अधिक वर्ग बनते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी जनसंख्या का वर्गीकरण लिंग, साक्षरता और बुद्धि स्तर के आधार पर करना हो तो इस प्रकार हो सकता है–

   जनसंख्या (Population)– $2 \times 2 \times 3 = 12$ कोष्ठ तीन चर लिए गए।
3. **संख्यात्मक वर्गीकरण** (Quantitative Classification)–संख्यात्मक वर्गीकरण का प्रयोग उन प्रदत्तों के लिये किया जाता है जिनकी प्रकृति संख्यात्मक हो, जैसे-ऊँचाई, भार, उम्र, सामाजिक-आर्थिक, बुद्धि-लब्धि आदि। इन प्रदत्तों को आवृत्ति वितरण के रूप में व्यवस्थित करते हैं और उनकी गणना के आधार पर वर्गीकरण करते हैं।
4. **आयु के अनुसार वर्गीकरण** (Chronolical Classification)–आयु के अनुसार वर्गीकरण के अन्तर्गत प्रदत्तों का वर्गीकरण आयु-वर्ग के अनुसार किया जाता है। इसमें समय को विभिन्न भागों में विभाजित कर लिया जाता है और प्रत्येक समय से सम्बन्धित प्रदत्तों को पृथक् समय के वर्गों में व्यवस्थित करते हैं।
5. **परिस्थितिनुसार वर्गीकरण** (Situation Classification)– परिस्थितिनुसार वर्गीकरण में स्थान के अनुसार प्रदत्तों का वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ ग्रामीण, नागरिक, भारतीय, विदेशी आदि।

अनुसंधान में प्रदत्तों के वर्गीकरण की उपयोगिता

अनुसंधान की प्रक्रिया में वर्गीकरण की उपयोगिताएँ निम्नलिखित हैं–

1. **संक्षिप्तीकरण** (Summarization)–मूल रूप में एकत्रित प्रदत्त विस्तृत एवं अव्यवस्थित होते हैं। वर्गीकरण से उनमें संक्षिप्तीकरण, स्पष्टता एंव व्यवस्था आती है जिससे विश्लेषण में सहायता होती है।
2. **सामाग्री के विभिन्न लक्षणों का विभाजन** (Classification of Material)–वर्गीकरण के माध्यम से समान गुणों को प्रदर्शित करने वाले प्रदत्तों को एक वर्ग में और असमान प्रदत्तों को पृथक् वर्ग में सम्मिलित किया जाता है, जिससे अध्ययन सरल हो जाता है।

3. **स्पष्टता** (Clarity)–प्रदत्तों के वर्गीकरण से उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, जिससे समुचित सांख्यिकीय प्रविधि के चयन में सहायता मिलती है।
4. **अनुसन्धान की अनुगामी क्रियाओं के लिये सरलता**–उचित वर्गीकरण से प्रदत्तों के विश्लेषण, सांख्यिकी के उपयोग, सामान्यीकरण एंव निष्कर्ष निकालने में सहायक होता है।
5. **तुलनात्मक अध्ययन का आधार** (Comparative Basis)–वर्गीकरण के द्वारा प्रदत्तों को गुण, लक्षण, संख्या, स्थान आदि में विभाजित किया जाता है जिससे प्रदत्तों का तुलनात्मक अध्ययन करना सरल हो जाता है।
6. **नवीन आँकड़ों को सम्मिलित करने की सुविधा** (Inclusion of New Data)–वर्गीकरण से एक लाभ यह भी है कि बाद में प्राप्त प्रदत्तों को भी हम उनके गुण एवं लक्षणों के आधार पर उन प्रदत्तों से सम्बन्धित वर्ग में व्यवस्थित कर सकते हैं और उन्हें विश्लेषण में प्रयुक्त कर सकते हैं।
7. **अनुसन्धान के प्रदत्तों का व्यवस्थापन** (Arrangement of Data)–अनुसन्धान के प्रदत्तों के संकलन एवं वर्गीकरण के बाद प्रदत्तों का उचित उपयोग आवश्यक है, जिससे अनुसन्धानकर्ता कुछ उपयोगी निष्कर्ष निकाल सके। इसी उपयोग को व्यावस्थापन कहते हैं।

5.14 प्रदत्तों के व्यवस्थापन के साधन

प्रदत्तों के व्यवस्थापन के निम्नलिखित साधन हैं–

1. तालिका (Tabulation) में व्यवस्थित करना।
2. सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग (Statistical Techniques) करना।
3. प्रदत्तों का विश्लेषण (Analysis of Data) करना।
4. परिणामों की व्याख्या एंव प्रस्तुतिकरण करना (Presentation or Interpretation)।

1. सारणीयन (Tabulation)

प्रदत्तों को स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने हेतु उनका सारणीयन आवश्यक है। सारणीयन के द्वारा प्रदत्तों में सरलता तथा स्पष्टता आती है तथा वर्णनात्मक तथ्य अधिक व्यवस्थित होकर प्रदर्शन के योग्य बन जाते हैं। इनके अन्तर्गत प्रदत्तों को विभिन्न स्तम्भों एवं पंक्तियों में प्रस्तुत किया जाता है जिससे समझने में सरलता तथा सुविधा होती है। सामान्य रूप मे प्रदत्तों की स्तम्भों एवं पंक्तियों में व्यस्थित करने को ही सारणीयन कहते हैं।

सारणीयन के प्रकार (Types of Tables)–मुख्य रूप से सारणीयन निम्नलिखित प्रकार के होते हैं, किन्तु प्रदत्तों की प्रकृति के अनुसार इसके और भी प्रकार हो सकते हैं।

1. **एक चरक सारणी** (Uni-Variate)–एक चरक सारणी के अर्न्तगत एक ही चर अथवा एक ही गुण वाले प्रदत्तों को व्यवस्थित रूप में देखते हैं।
2. **द्वि-चरक सारणी** (Bi-Variate)–इस प्रकार की सारणी में किसी चर अथवा पहलू विशेष के दो परस्पर सम्बन्धित लक्षणों के बारे में सूचनायें प्रदान करती हैं।
3. **बहु-चरक सारणी** (Multi-Variates)–बहु चरक सारणी में किसी चर अथवा घटना के अनेक सम्बन्धित गुणों के विषय में सूचनायें होती हैं।

नोट

तालिका का अनुसन्धान में महत्त्व (Significance of Table in Research)–एकत्रित प्रदत्तों को संक्षिप्त एवं सरल स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से अनुसन्धान में यह निम्नलिखित रूपों में विशेष महत्त्वपूर्ण होती है–

1. **प्रदत्तों की तर्कपूर्ण व्यवस्था** (Logical Arrangement)–सारणीयन के द्वारा किसी चर अथवा घटना के सम्बन्ध में समस्त प्रदत्तों को महत्त्वपूर्ण ढंग से व्यस्थित किया जाता है जो अनुसन्धान हेतु आवश्यक होता है। सारणीयन में किसी विशिष्ट क्रम का अनुसरण किया जाता है।
2. **प्राप्त प्रदत्तों का संक्षिप्तीकरण** (Summarization of Data)–सारणीयन के बाद अनुसन्धान के प्रदत्तों का रूप संक्षिप्त एवं स्पष्ट हो जाता है।
3. **विश्लेषण की सरलता** (Easy to Analyse Data)–अनुसन्धान के प्रदत्तों का विश्लेषण तथा निष्कर्ष निकालना उचित सारणीयन के द्वारा ही सम्भव है।
4. **समय, श्रम एवं धन की बचत** (Save of Time Energy and Money)–तालिका के बाद प्राप्त प्रदत्तों के आधार पर निष्कर्ष निकालने में समय एवं श्रम की बचत होती है तथा कार्य। अधिक उत्तम होता है। शोध में सारणीयन एक मितव्ययी प्रक्रिया मानी जाती है।
5. **तुलनात्मक अध्ययन में सरलता** (Easy in Comparative Study)–सारणीयन के बाद जब अनुसन्धान के प्रदत्तों को विभिन्न स्तम्भ में बाँट लेते हैं तो प्रदत्तों की समान विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। इसके आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करना सरल होता है।

सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग (Use of Statistical Techniques)–प्रदत्तों के व्यवस्थापन का दूसरा महत्त्वपूर्ण पद उन पर सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग होता है।

प्रदत्तों का विश्लेषण एवं व्याख्या (Analysis and Interpretion of data)–इस प्रक्रिया में प्राप्त प्रदत्तों को इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं कि वह समस्या के सम्बन्ध में वांछित परिणामों को प्रस्तुत कर सकें।

प्रदत्तों का विश्लेषण एक वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचाता है तथा परिकल्पना के परीक्षण में सहायक होता है।

5.15 प्रदत्तों के विश्लेषण की विभिन्न प्रक्रियाएँ

प्रदत्तों के विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य एकत्रित प्रदत्तों से नवीन तथ्यों को प्राप्त करना है। निष्कर्ष पर पहुँचने की इस प्रक्रिया में अनेक उप-क्रियायें सम्मिलित होती हैं, जिन्हें समग्र रूप में विश्लेषण कहा जाता है। विश्लेषण की क्रिया में निम्नलिखित उपक्रियायें सम्मिलित होती हैं–

1. **सामग्री का सम्पादन** (Editing of Material)–प्राप्त प्रदत्तों के अन्तर्गत कमजोर तथा सन्तोषजनक अंशों को सुधारकर उसे प्रयोग के लिए उपयुक्त बनाना ही सम्पादन का प्रमुख कार्य है।
2. **प्रदत्तों का वर्गीकरण** (Classification of Data)–वर्गीकरण के अन्तर्गत बिखरे हुए प्रदत्तों को व्यवस्थित किया जाता है ताकि उनसे निष्कर्ष निकालने में सरलता हो। वर्गीकरण निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करता है–

   (क) यह प्रदत्तों के विभिन्न गुणों को एक दूसरे से पृथक् करता है।

(ख) वर्गीकरण के बाद प्रदत्त संक्षिप्त हो जाते हैं।

(ग) वर्गीकरण के बाद प्रदत्त स्पष्ट तथा सरल हो जाते हैं।

नोट

3. **सामाग्री का संकेतन** (Code of Material)–वर्गीकरण के बाद प्रत्येक वर्ग के लिए कोई निश्चित नाम, चिह्न अथवा संकेत देते है। इसी को संकेतन कहते हैं इससे विश्लेषण में सुगमता होती है।
4. **प्रदत्तों का सारणीयन** (Tabulation of Data)–प्रदत्तों को विभिन्न शीर्षकों, स्तम्भों एवं पंक्तियों द्वारा प्रस्तुत करना होता है। जिससे प्रदत्तों का स्वरूप सीमित हो जाता है और उसे समझने में सरलता होती है।
5. **प्रदत्तों की व्याख्या** (Interpretation of Data)–व्याख्या से तात्पर्य सम्पूर्ण प्रदत्तों के यथार्थ अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकालना है। ये निष्कर्षो व्यवस्थित किए गये प्रदत्तों पर आधारित होते हैं।
6. **सामान्यीकरण** (Generalization)–वर्गीकरण किए गए प्रदत्तों की व्याख्या के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों का सामान्यीकरण किया जाता है।

प्रदत्तों का अनुसन्धान में उपयोग

अनुसन्धान में प्रदत्तों का उपयोग निम्नलिखित प्रकार से उपयोगी होता है–

1. किसी भी शिक्षा-अनुसन्धान में प्रदत्तों का संकलन अनुसन्धान को एक ठोस आधार प्रदान करने के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है।
2. अनुसन्धान में प्रदत्तों का संकलन कच्चे माल की तरह है जिसे प्रदत्तों के उत्पादन के उपयोग में लाया जाता है।
3. अनुसन्धान की समस्या के लिए उचित दिशा तथा समस्या का उचित समाधान प्रदान करने में प्रदत्त अत्यन्त उपयोगी होते हैं।
4. वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिये प्रदत्त अत्यन्त उपयोगी होते हैं।
5. अनुसन्धान परिकल्पना की परख करने में प्रदत्तों का उपयोग किया जाता है।
6. प्रदत्तों के आधार पर शोध के परिणामों की व्याख्या वस्तुनिष्ठ रूप में किया जा सकता है।
7. शोध के निष्कर्ष अपेक्षाकृत अधिक वैध तथा विश्वसनीय होते हैं।

5.16 कम्प्यूटर के लिए प्रदत्तों का वर्गीकरण तथा व्यवस्था

शोध कार्यों में प्रदत्तों का संकलन प्रामाणिक परीक्षणों की सहायता से किया जाता है। साधारणत: इन परीक्षणों में बहुविकल्पीय प्रकार के पद (Multiple Choice items) सम्मिलित किये जाते हैं। अधिक शुद्ध निष्कर्षों के लिए बड़े न्यादर्श का प्रयोग किया जाता है और बड़े न्यादर्श के उत्तर पत्रकों का अंकन करना अधिक कठिन होता है। इसलिए मशीनों तथा कम्प्यूटर का प्रयोग किया जाने लगा है। मशीनों द्वारा अंकन के लिए आई.बी.एम (I.B.M) पत्रक का प्रयोग किया जाता है इसमें छ: विकल्पों और 150 पदों के उत्तरों को अंकित करने के लिए स्थान होता है। मशीनों द्वारा अंकन से प्राप्तांक नहीं मिलते हैं। अपितु उत्तरों को पत्र पर अंकित किया जाता है। अमुक व्यक्ति ने प्रश्नों के कौन-कौन से विकल्प को अंकित किया है। प्रत्येक न्यादर्श के सदस्य का एक पत्रक तैयार कर

लिया जाता है। इन सभी पत्रकों को कम्प्यूटर केन्द्र को दे दिया जाता है। प्रदत्तों के विश्लेषण के लिए एक प्रारूप का विकास किया जाता है। कम्प्यूटर, विश्लेषण के प्रारूप के अनुसार प्रदत्तों का वर्गीकरण तथा व्यवस्था करता है। एक पत्रक पर सम्पूर्ण सूचनाओं को अंकित कर लेते हैं।

नोट

न्यादर्श के सदस्यों के उत्तर पत्रकों अंकन शोधकर्ता स्वयं भी कर लिया करते हैं और विश्लेषण के प्रारूप की दृष्टि से प्रदत्तों का वर्गीकरण तथा व्यवस्था शोधकर्ता को स्वयं करनी होती है। उसके बाद इन्हें कम्प्यूटर केन्द्र को विश्लेषण के लिए दे दिया जाता है। कभी-कभी प्रदत्तों को कच्चे रूप में कम्प्यूटर केन्द्र को दे देते हैं। केन्द्र पर ही उनका वर्गीकरण तथा व्यवस्था कर ली जाती है।

शोधकर्ता भी विद्युत मशीनों पर स्वयं प्रदत्तों का विश्लेषण कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में भी शोधकर्ता को अंकन के बाद उनका वर्गीकरण तथा व्यवस्था करनी होती है तब वह गुणांक पर उन प्रदत्तों का विश्लेषण करता है। मशीनों के प्रयोग से पहले उनकी जाँच भी करनी चाहिए कि जो परिणाम मशीन या कम्प्यूटर से प्राप्त हो रहे हैं, वह सही हैं अथवा नहीं। एक छोटे न्यादर्श का शोधकर्ता विश्लेषण करता है और उसी को कम्प्यूटर या मशीन से कराया जाता है। जब सही परिण ाम प्राप्त हों तब सम्पूर्ण प्रदत्तों का कम्प्यूटर या मशीन पर विश्लेषण कराना चाहिए। इस प्रकार आन्तरिक जाँच की आवश्यकता होती है।

5.17 प्रश्नावली

व्यक्तित्व सम्बन्धी आन्तरिक गुणों के ज्ञान के लिये उस गुण विशेष से सम्बन्धित प्रश्न चुनकर प्रश्नावली का निर्माण किया जाता है जो उनका मापन अधिक अच्छी तरह कर सकें। इस विधि में व्यक्तियों को प्रश्नावली दे दी जाती है जिन पर निर्देश भी दिये होते हैं। व्यक्ति को निर्देशों के अनुसार प्रतिक्रिया व्यक्त करनी होती है। अत: बहुत कम समय में अनेक व्यक्तियों का मापन करने के लिए यह एक उत्तम विधि है। ये प्रश्नावलियाँ या तो व्यक्ति की सांवेगिक अस्थिरता का पता लगाने के लिये प्रयुक्त होती हैं या किसी विशिष्ट शील-गुण का पता लगाने या रोग का निदान करने के लिए। प्रश्नावली एक प्रकार की स्व-निर्धारण मापनी (Self Rating Scale) ही है। व्यक्ति विभिन्न पदों के माध्यम से यह निर्धारित करता है कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में वह किस प्रकार का व्यवहार करेगा। यद्यपि बाहर से यह विधि सरल प्रतीत होती है, लेकिन इसके निर्माण के लिये और वैज्ञानिक रूप से इसके द्वारा आँकड़े एकत्रित करने में एक अच्छे प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। प्रश्नावली में सही उत्तर एक ही होने से इसमें वस्तुनिष्ठता का गुण पाया जाता है। प्रश्नावलियाँ ैमसा.तमचवतज ज्मबीदपुनमे के अन्तर्गत आती हैं। लेजारस (Lazarus) के शब्दों में–¶Simply stated, the self-report techniques involve attempting to measure aspects of human personality on the basis of what a person can say, or is willing to say about himself. They usually consist of a series of printed objective questions presented to the subject or to a group of subjects. Such inventories of questions can be used to study interests, attitudes and various other facets of personality. They are objective, because the subject must respond usually with a 'Yes' or 'No' or 'I don't know' answer to each question.,

5.18 प्रश्नावली के प्रकार

प्रश्नावली कई प्रकार की होती हैं, जो निम्नलिखित हैं–

नोट

1. **प्रतिबद्धित प्रश्नावली** (Closed Questionnaire)–इसमें प्रयुक्त प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में से किसी एक पर सही का निशान लगाकर देना होता है। प्रश्नावली में प्रश्नों का स्वरूप इस प्रकार होता है–
   (क) क्या आप काफी चिन्तित रहते हैं? हाँ/नहीं
   (ख) क्या आप लोगों से मिलना जुलना पसन्द करते हैं? हाँ/नहीं
   (ग) क्या आपको बुरे स्वप्न दिखते हैं? हाँ/नहीं
2. **खुली प्रश्नावली** (Open Questionnaire)–इन प्रश्नावलियों में कुछ प्रश्न या कथन दिये होते हैं जिनके विषय में व्यक्ति को अपने विचार विस्तार से प्रकट करने होते हैं। प्रश्नों का स्वरूप इस प्रकार होता है–
   (क) 'आपरेशन ब्लैक बोर्ड' से आपका क्या तात्पर्य है?
   (ख) नई शिक्षा नीति की सफलता के बारे में आपके क्या विचार हैं?
   (ग) आरक्षण नीति के औचित्य के बारे में आपकी क्या धारणा है?
3. **चित्रित प्रश्नावली** (Pictorial Questionnaire)–इस प्रकार की प्रश्नावली में चित्रों के माध्यम से कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं जिनका उत्तर व्यक्ति चित्रों पर सही का निशान लगाकर या उन्हें रेखांकित करके देता है।
4. **मिश्रित प्रश्नावली** (Mixed Questionnaire)–जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की प्रश्नावली में सभी प्रकार के प्रश्न मिले-जुले रूप में दिये जाते हैं।

5.19 प्रश्नावली की सीमाएँ

यद्यपि प्रश्नावली विधि अत्यन्त सरल, कम खर्चीली तथा कम समय में बहुत लोगों का परीक्षण करने वाली प्रविधि है और इसीलिये यह बहुत प्रचलित भी है, फिर भी, इसकी कुछ सीमायें हैं जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है–

1. कभी-कभी अभ्यर्थी किसी प्रश्न का उत्तर ईमानदारी से नहीं देना चाहते। इसलिये वे अपने मनोवेगों को दबाकर गलत सूचनाएँ दे सकते हैं।
2. इस बात की भी पर्याप्त सम्भावना रहती है कि अभ्यर्थी प्रश्न को ठीक से न समझ सकने के कारण सही तथ्यों की जानकारी न दे पाये।
3. कभी-कभी अभ्यर्थी लापरवाही से प्रश्नावली भरता है और बिना सोचे समझे 'हाँ' अथवा 'नहीं' में से किसी एक पर निशान लगाता चला जाता है जिसका प्रभाव परिणामों पर पड़ता है।
4. कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि जिन घटनाओं का उल्लेख प्रश्नों के रूप में किया गया है वे अभ्यर्थी के जीवन में घटी ही न हों अथवा वैसी परिस्थितियों को वह भूल चुका हो। ऐसी स्थिति में उत्तर यथार्थ न होकर काल्पनिक हो जाते हैं।
5. कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका उत्तर अभ्यर्थी समाज के भय से गोपनीयता का आश्वासन मिलने पर भी नहीं देना चाहता।
6. इन प्रश्नावलियों का निदानात्मक महत्त्व कम होता है, क्योंकि प्रश्नों की विश्वसनीयता एवं वैधता निम्न स्तर की होती है।

नोट

7. लोग प्रश्नावली भरने में रुचि नहीं दिखाते। परिणामस्वरूप बहुत कम प्रश्नावलियाँ वापिस आ पाती हैं।
8. यह सम्भव है कि प्रश्नावली का नमूना (Sample) पक्षपातपूर्ण हो।
9. यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक स्तर के व्यक्तियों के अनुरूप उपयुक्त प्रश्नों का निर्माण हो ही जाये।
10. समायोजन सम्बन्धी प्रश्नों में समायोजन का एक ही मानदण्ड सभी लोगों पर लागू नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है कि एक जैसी परिस्थितियों में एक व्यक्ति समायोजन कर ले और दूसरा न कर पाये।
11. यह भी देखा गया है कि अंकन कसौटी (Scoring rationale) तय हो जाने पर भी परीक्षकों द्वारा दिये गये अंकों में समानता नहीं रहती।

5.20 प्रश्नावली की सावधानियाँ

विशेषज्ञों के अनुसार प्रश्नावली को प्रयोग में लाते समय निम्नलिखित सावधानियाँ ध्यान में रखनी चाहिये–

1. प्रश्नावली का उपयोग तभी किया जाये जबकि ऐसा करना उपयुक्त हो।
2. प्रश्नावली का निश्चित उद्देश्य होना चाहिये।
3. प्रश्नावली प्रयोग में लाने से पूर्व विद्यार्थियों को विश्वास में लिया जाना चाहिये ताकि वे विश्वसनीय व यथार्थ उत्तर दे सकें।
4. तथ्यात्मक (Factual) प्रश्न नहीं करने चाहिये, जैसे–'ईमानदारी सबसे बड़ी चीज है।'
5. बहु-अर्थी (Double-Meaning) प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।
6. प्रश्नावली के उचित एवं आकर्षक आकार-प्रकार पर भी ध्यान देना चाहिये।
7. ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिये जो सभी के लिये लागू हों, जैसे–'क्या तुम सदैव चिन्तित रहते हो'?
8. जहाँ तक हो सके प्रश्नों की भाषा सरल एवं संक्षिप्त हो।
9. 'कभी-कभी', 'कभी-नहीं', 'कोई-नहीं', 'सदैव' आदि शब्दों से प्रश्न शुरू नहीं करना चाहिये।
10. प्रत्येक कथन विशिष्ट एवं कार्यपरक (Functional) रूप में दिया जाना चाहिये।
11. कथन तर्कपूर्ण एवं निश्चित क्रम में व्यवस्थित होने चाहिये।
12. प्रश्नों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिये।
13. प्रश्न एक दूसरे की पुष्टि करने वाले हों।
14. प्रश्नों की भाषा अशिष्ट न हो तथा उनका उद्देश्य भी परीक्षात्मक न हो।

5.21 निर्धारण मापनी

सभी मनोवैज्ञानिक-मापन की विधियों में 'निर्धारण मापनी' (Rating Scale) सबसे अधिक प्रचलित है। इसका प्रयोग उद्योग, व्यापार, अनुसन्धान आदि के क्षेत्रों में सफलतापूर्वक किया जा रहा है। इसके

प्रारम्भ का श्रेय मनोभौतिकी के क्षेत्र में फेक्नर (Fechner) को जाता है। लेकिन सर्वप्रथम निर्धारण मापनी 1883 में गाल्टन (Galton) ने प्रकाशित की जो 'बिम्ब-सृष्टि' (Imagery) से सम्बन्धित थी। इसके बाद 1906-1907 में पियर्सन (Pearson) ने बुद्धि-मापन के लिए एक निर्धारण मापनी का निर्माण किया जिसमें सात श्रेणियाँ थीं। इस प्रविधि में किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का मापन किसी ऐसे व्यक्ति के विचारों के आधार पर किया जाता है जो पहले व्यक्ति को भली-भाँति जानता हो। इनमें से Testimonials, Character Certificate, Confidential Report आदि प्रमुख हैं, लेकिन निर्धारण मापनी की विश्वसनीयता एवं वैधता निम्न स्तर की होने के कारण इसे अनुसन्धान कार्य में बहुत कम प्रयोग में लाया जाता है।

रूथ स्ट्रैंग के अनुसार–"निर्देशित निरीक्षण ही निर्धारण है।"

निर्धारण मापनी एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि किसी व्यक्ति ने कुछ विशिष्ट गुणों (Specific Traits) के सन्दर्भ में आने वाले व्यक्तियों के ऊपर क्या छाप छोड़ी है। निधर्रिक (Rater) के रूप में निम्न में से किसी भी व्यक्ति का चयन किया जा सकता है, जैसे–अध्यापक, अभिभावक, मित्र, पड़ोसी, परामर्शदाता, भाई-बहन (Siblings) एवं एम्पलोयर (Employer) आदि। निर्धारण मापनी में कुछ गुणों की एक सूची दी होती है जिनमें प्रत्येक के सामने कुछ विशेषण अथवा अंक लिखे होते हैं। निर्धारक को अपने अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर सम्बन्धित व्यक्ति के विषय में किसी एक पर निशान लगाना होता है। इस विधि का प्रयोग उपलब्धि परीक्षण (Achievement Test) में अधिकता से किया जाता है। यह एक आत्मनिष्ठ विधि है। आजकल औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कर्मचारियों के वेतन बढ़ाने अथवा पदोन्नति करने में इस विधि का सहारा लिया जाता है। व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं एवं उत्तेजनाओं के मूल्यांकन में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

गुड तथा स्केट के अनुसार–"यह उपकरण मूल्यांकन की जाने वाली वस्तु के विभिन्न अंगों की ओर ध्यान आकर्षित करती है, किन्तु उसमें उतने प्रश्न अथवा खण्ड नहीं होते, जितने चेक लिस्ट अथवा स्कोर कार्ड में होते हैं।"

"The rating scale typically directs attention to different parts or aspects of the thing to be evaluated, but does not have as many items or categories as the check list or score card."

5.22 निर्धारण मापनी के प्रकार

मुख्य रूप से निर्धारण मापनी निम्न चार प्रकार की होती है–

I. संख्यात्मक मापदण्ड (Numerical Scale)
II. रेखांकित मापदण्ड (Graphic Scale)
III. संचयी अंक मापदण्ड (Cumulative Points Scale)
IV. मानक मापदण्ड (Standard Scale)

I. संख्यात्मक मापदण्ड (Numerical Scale)

इस प्रकार की मापनियों में निर्धारक कुछ सीमित संख्या में वर्गों का चयन करता है तथा उन्हें उनके मापनी मूल्य के अनुसार क्रमबद्ध कर लेता है। अर्थात् इस विधि में अंकों को निश्चित उद्दीपकों के

नोट

साथ सम्बन्धित कर देते हैं और व्यक्ति का अपने गुणों के अनुसार अंक मिल जाते हैं। इन अंकों को सुविधा की दृष्टि से 3, 5, 7 या ग्यारह के पैमाने पर रख दिया जाता है। इस प्रकार की मापनी का प्रयोग केवल तभी किया जाता है जबकि मापित विशेषता (Measured Trait) मध्यस्थ बिन्दु के एक ओर बढ़ती तथा दूसरी ओर घटती है। इन मापनियों के केन्द्र में मध्यस्थ बिन्दु होता है जिसके दोनों ओर समान अन्तराल (Equal Interval) अन्य वर्ग स्थित होते हैं।

1. सर्वाधिक सुन्दर (Most Beautiful)
2. अत्यन्त सुन्दर (Very Beautiful)
3. सुन्दर (Beautiful)
4. सामान्य (Average)
5. कुरूप (Ugly)
6. अत्यन्त कुरूप (Very Ugly)
7. सर्वाधिक कुरूप (Ugliest Possible)

उपयोग

1. इस प्रकार की मापनियों का निर्माण एवं प्रयोग दोनों सरल हैं।
2. यदि निर्धारक अपने अंकों को गम्भीरता से लेता है तो निर्धारण स्वयं में उच्च कोटि के मापन का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

परिसीमाएँ

1. इन मापनियों में पक्षपात की अधिक सम्भावनाएँ रहतीं हैं।
2. अनेक व्यक्तियों द्वारा किये गये निर्णय एक समान नहीं होते। कभी-कभी एक व्यक्ति द्व ारा निर्णय यदि 'सुन्दरतम' है तो वही वस्तु दूसरे निर्णायक के लिए केवल सामान्य हो सकती है।

संरचना सम्बन्धी सुझाव

1. इस प्रकार की मापनियों के दोनों अन्तिम छोर (Extreme Ends) व्यर्थ प्रतीत होते हैं क्योंकि, कोई भी निर्धारक इन छोरों का प्रयोग अपने निर्धारण में नहीं करता। ये मात्र पूर्ण मापनी के बन्धन (Anchors) मात्र हैं।
2. निर्धारक को जहाँ तक हो सके पक्षपात की सम्भावनाओं को कम करना चाहिये।

II. रेखांकित मापदण्ड (Graphic Scale)

यह मापदण्ड अत्यन्त लोकप्रिय है और व्यापक रूप में प्रयुक्त होता है। इसमें एक रेखा बनी होती है जिसे कई भागों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक भाग के नीचे कुछ विशेषण लिखे होते हैं तथा निर्धारक को इनमें से किसी एक पर निशान लगाना होता है। इस मापदण्ड का सर्वप्रथम प्रयोग बॉयस (Boyce) ने किया।

नोट

उदाहरण 1. **सामाजिक वार्त्ता से आप कैसे रहते हैं?**

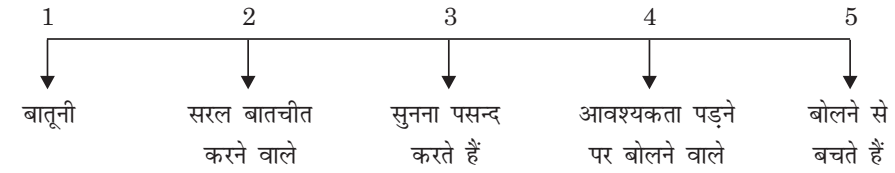

उदाहरण 2. वह कैसे सोचता है?

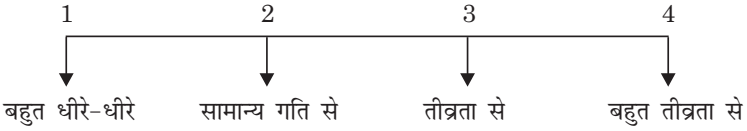

उपयोग

1. इनकी संरचना एवं प्रशासन दोनों ही अत्यन्त सरल हैं।
2. इनको शीघ्रता से भरा जा सकता है।
3. इसमें निर्णायक को अत्यन्त सूक्ष्म विभेद करने का अवसर मिलता है।
4. तुलनात्मक निर्णय देने की सुविधा रहती है।
5. फलांकन विधि को जब चाहे परिवर्तित किया जा सकता है।

परिसीमाएँ

1. यद्यपि इस मापनी में फलांकन विधि में परिवर्तन की सम्भावना रहती है, फिर भी, फलांकों की गणना कठिन होती है, साथ ही, काफी परिश्रम भी करना पड़ता है।
2. इस मापनी में यह निर्णय करना सरल कार्य नहीं है कि व्यक्ति में अमुक गुण है या नहीं अथवा यह किस संकेत के अनुरूप है।

संरचना सम्बन्धी सुझाव

मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं–

1. रेखा पर्याप्त लम्बी होनी चाहिए। (लगभग 5 इंच)।
2. रेखा टुकड़ों में कटी हुई नहीं होनी चाहिए।
3. अच्छे विशेषण रेखा के पहले छोर पर तथा बुरे या प्रतिकूल विशेषण अन्तिम छोर (Last End) पर रखे जाने चाहिये।
4. तीन या पाँच विशेषणों का प्रयोग करना चाहिये। जिनमें से कुछ उच्च, मध्यम एवं निम्न श्रेणी के हों।
5. यह आवश्यक नहीं है कि संकेतों के मध्य दूरी समान ही रखी जाए।
6. प्रत्येक विशेषता (Trait) के लिए अलग-अलग भाग में संकेत लिखने चाहिये। एक विशेषता का दूसरी विशेषता पर अतिच्छादन (Over-lapping) नहीं होना चाहिये।
7. अति कथनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये, जैसे–"मैं अपने व्यवसाय से पूर्णरूपेण सन्तुष्ट हूँ।"

III. संचयी अंक मापदण्ड (Cumulative Points Scale)

नोट

इस मापनी में व्यक्ति का मूल्यांकन अनेक विशेषताओं पर अंक प्रदान करके किया जाता है। अंकों के कुल योग या संचय के आधार पर व्यक्ति के बारे में धारणा निश्चित की जाती है। एक प्रकार से यह मापदण्ड मनोवैज्ञानिक परीक्षण की ही भाँति है, अन्तर केवल यह है कि इसमें अंक किसी वस्तुनिष्ठ कसौटी के आधार पर न दिये जाकर केवल निर्णय के आधार पर दिए जाते हैं। इस प्रकार की मापनियों का प्रयोग कार्य पर लगे हुए व्यक्तियों के कार्य का मूल्यांकन करने के लिए किया जाता है। चेक लिस्ट (Check-list) तथा अनुमान विधि (Guess Who Technique) इसी के अन्तर्गत आती हैं।

1. **चेक-लिस्ट विधि** (Check-list Method)**–हार्टशोर्न** तथा **मेय** (May) ने इस विधि का प्रयोग बच्चों के चरित्र सम्बन्धी अनेक विशेषताओं, जैसे–सहयोगी, दयालु, निर्दयी, लालची, अहसानमन्द आदि का मूल्यांकन करने हेतु किया था। निर्णायक यह जाँच करता है कि उपरोक्त विशेषताओं में से कौन-कौन सी विशेषताएँ बालक के व्यवहार में परिलक्षित हो रही हैं। इसके बाद अंकों के कुल संचय (Total Score) के आधार पर बालक के गुणों के बारे में निर्णय लिया जाता है। प्रत्येक अनुकूल लक्षण के लिए 1 तथा प्रतिकूल लक्षण के लिये -1 अंक दिया जाता है।

   उदाहरण:

सहयोगी	**दयालु**	**अहसानमन्द**
उत्साह से	सर्वोत्तम	अधिक
इच्छा से	उत्तम	सामान्य से अधिक
तटस्थता से	स्वीकार्य	सामान्य
जलन से	खराब	सामान्य से कम
मजबूरी में	अति-खराब	कम

   हार्टशार्न तथा **मेय** (May) के अनुसार, अध्यापक द्वारा विद्यार्थी के मूल्यांकन में इस विधि का विश्वसनीयता गुणांक .6 से अधिक पाया गया।

2. **अनुमान विधि** (Guess-Who Technique)**–**इस विधि में विद्यार्थियों से अपने सहपाठियों का नामकरण करने को कहा जाता है जिनका कुछ शब्द चित्रों के माध्यम से वर्णन किया गया होता है। इस विधि का प्रयोग हार्टशोर्न तथा मेय (May), ने किया। प्रत्येक शब्द-चित्र एक संक्षिप्त विवरण होता है। इसमें कुछ निर्देश दिये जाते हैं, जैसे–"यहाँ कुछ ऐसे छात्रों के शब्द-चित्र दिये गये हैं, जिन्हें आप जानते हैं। प्रत्येक कथन को ध्यानपूर्वक पढ़कर आपको यह निश्चय करना है कि यह किस सहपाठी से सम्बन्धित है।" प्रत्येक कथन या तो अनुकूल होता है या प्रतिकूल।

   कुछ शब्द-चित्रों के उदाहरण निम्न हैं–

   (a) "यहाँ एक ऐसा बालक है जो दूसरों को खुश रखने के लिए कुछ न कुछ किया करता है।".....

   (b) "यहाँ एक ऐसा बालक है जो बिना अपने स्थान से हिले-डुले चुपचाप कार्य करता है।".....

प्रत्येक शब्द-चित्र के आगे इतना स्थान छोड़ दिया जाता है ताकि वह वर्णन जिन सहपाठियों के लिए लागू होता हो, उनके नाम लिखे जा सकें। स्पष्ट है कि एक प्रिय छात्र का नाम बार-बार वांछनीय विशेषताओं के साथ लिया जायेगा, जबकि अप्रिय छात्र का नाम अवांछनीय विशेषताओं के साथ। इस विधि में मात्र कुछ ही कथनों के आधार पर निर्णय नहीं करना चाहिए, बल्कि सभी कथनों के आधार पर। समूह विशेष में छात्र विशेष की क्या स्थिति (च्वेपजपवद) है अथवा कितनी प्रसिद्धि है, इसका ज्ञान इस विधि से भली-भाँति हो सकता है। इस प्रकार के मापकों में "ओहियो मान्यता मापदण्ड" (Ohio Recognition Scale) एक प्रसिद्ध मापक है।

उपयोग

1. यह विधि नयी है और धीरे-धीरे लोकप्रिय होती जा रही है।
2. इसकी संरचना एवं प्रशासन अत्यन्त सरल है।
3. इस मापनी के प्रयोग के लिए निर्धारक को किसी विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती।
4. इनका फलांकन भी बहुत सरल होता है, विशेषकर उस स्थिति में जहाँ पदों को 1 या 0 अंक देना हो।
5. इसका प्रयोग जटिल परिस्थितियों में किया जा सकता है।
6. इनके द्वारा व्यक्तित्व की एक अकेली विशेषता का मूल्यांकन किया जा सकता है।

परिसीमाएँ

1. प्रत्येक पद की केवल दो सम्भावित प्रतिक्रियाएँ होने से फलांकन प्रक्रिया अधिक वैज्ञानिक नहीं बन पाती।
2. चैक-लिस्ट विधि में निर्धारक से केवल उन्हीं पदों या कथनों की जाँच करने को कहा जाता है जो उस पर लागू होती हों। फलतः उसके मूल्यांकन में अनावश्यक झुकाव या पक्षपात आ जाता है।

संरचना सम्बन्धी सुझाव

मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं–

1. चैक-लिस्ट विधि में प्रत्येक पद की दो सम्भावित प्रतिक्रियाओं के स्थान पर कम से कम तीन प्रतिक्रियाओं का प्रयोग किया जाये।
2. निर्धारक को केवल पदों को चैक करने के लिए कहने से इसमें पक्षपात की सम्भावना आ जाती हैं। अतः उत्तम है कि निर्धारक को प्रत्येक पद का उत्तर देने को कहा जाए।
3. फलांकन सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिये तथा व्यक्तित्व की उन्हीं विशेषताओं का मूल्यांकन किया जाए जिनमें पक्षपात की सम्भावना कम हो।

IV. मानक मापदण्ड (Standard Scale)

इस प्रकार की मापनी में निर्धारक को कुछ मानक संघ (Set of Standards) दिये रहते हैं, जैसे–हस्तलेख, मनुष्य-मनुष्य में साम्य आदि। निर्धाकर, निर्णय के योग्य सामग्री की तुलना इन मानकों

नोट

से करता है। आयर्स (Ayres), थार्नडाइक आदि ने इस दिशा में बहुत कार्य किया है। व्यक्ति से व्यक्ति मिलान (Man-to-Man Scale) मापनी का विकास फौजी लोगों के लिए किया गया था। इसको तैयार करने के लिए पाँच विशेषताओं का चयन कर लिया जाता है, जैसे-शारीरिक गुण, बुद्धि, नेतृत्व, व्यक्तिगत गुण एवं सेना में उसका सामान्य महत्त्व आदि।

फिर प्रत्येक गुण-विशेष के लिए एक अफसर को पाँच व्यक्ति छाँटने होते हैं, यथा-वह जिसमें अधिकतम मात्रा में यह गुण विशेष हो, वह जिसमें निम्नतम मात्रा में हो, वह जो मध्य में हो, वह जिसमें सामान्य से कुछ अधिक और एक वह जिसमें सामान्य से कम गुण हो। इन व्यक्तियों से तुलना करके अन्य व्यक्तियों के बारे में निर्णय लिया जा सकता है। इस विधि के अन्तर्गत अनेक व्यक्तियों को उनके किसी एक गुण के अनुसार क्रमित किया जाता है लेकिन यहाँ निर्धारकों के लिए यह आवश्यक है कि वे उन व्यक्तियों से, जिन्हें वे किसी विशेषता के आधार पर क्रमित करना चाहते हैं, पूर्ण परिचित हों।

उदाहरण–

1. चौधरी — हिम्मत की दृष्टि से बटालियन में सर्वश्रेष्ठ।
2. अरोड़ा — हिम्मत की दृष्टि से बटालियन में श्रेष्ठ।
3. देशपाण्डे — हिम्मत की दृष्टि से बटालियन में सामान्य।
4. चटर्जी — हिम्मत की दृष्टि से बटालियन में कायर।
5. दाताराम — हिम्मत की दृष्टि में बटालियन में अत्यन्त कायर।

उपयोग

1. इसमें निर्धारण अंकों के स्थान पर व्यक्ति के गुणों के आधार पर किया जाता है।
2. इसमें तुलना करने के लिए एक स्थायी कसौटी उपलब्ध होती है।
3. स्थायी कसौटी मिलने से निर्धारक को अपने मानक नित्यप्रति बदलने नहीं पड़ते।

परिसीमाएँ

1. मौलिक रूप में इस मापनी को तैयार करना कठिन कार्य है।
2. व्यवहार में दो निर्धारकों के मत में शायद ही कभी समानता बन पाती है।
3. मापनी में एक व्यक्ति और किसी दूसरे व्यक्ति में दूरी प्रायः समान नहीं होती है।
4. किसी व्यक्ति के बारे में निर्णय करते समय अध्यागणन (Over-estimation) तथा अवागणन (Under-estimation) सम्भव है।
5. मापनी का सैन्य प्रारूप नागरिक जीवन तथा औद्योगिक संस्थानों में व्यवहार योग्य नहीं है।

कुछ विद्वानों ने उपरोक्त चार मापनियों के अतिरिक्त एक अन्य मापनी का भी उल्लेख किया है जिसे बलात् विकल्प मापनी (Forced Choice Rating) कहते हैं।

5.23 बलात् विकल्प मापनी

इस विधि का विकास भी फौजी अफसरों के मूल्यांकन हेतु किया गया। इस विधि में निर्धारक को यह नहीं बताना होता कि किसी व्यक्ति में अमुक विशेषता है या नहीं वरन्, उसे विशेषताओं के

नोट

युग्मों में से यह बताना होता है कि इन दोनों युग्मों में कौन-सा सही है। सामान्यत: कथनों के दो जोड़े, जिनमें दो अनुकूल हों और दो प्रतिकूल, एक साथ प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमें कभी-कभी एक तटस्थ कथन भी मिला दिया जाता है, उदाहरणार्थ–गम्भीर, उत्साही, लापरवाह, असभ्य। इसमें प्रथम दो लक्षण अनुकूल हैं तथा अन्तिम दो प्रतिकूल। निर्धारक इस पूरे युग्म को एक पद मानकर अपना निर्णय देता है तथा बताता है कि कौन सा लक्षण उस व्यक्ति के लिए सबसे उपयुक्त है और कौन सा सबसे कम। इसके पश्चात् एक फलांकन कुँजी के आधार पर गणना कर ली जाती है।

उपयोग

1. इसमें उदारता की त्रुटि कम होती है क्योंकि इसमें निर्धारक की अध्यागणन एवं अवागणन करने की सामान्य प्रवृत्ति या पूर्व-प्रभाव त्रुटि (भ्ंसव.र्मिमबज) का प्रतिकार हो जाता है।
2. इस मापनी में चैक-लिस्ट विधि की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म विभेद का अवसर मिलता है।
3. प्राप्त होने वाले फलांकों का वितरण लेप्टोकर्टिक (Leptokurtic) होता है।

परिसीमाएँ

1. एक सामान्य निर्णायक निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि पद का कौन सा युग्म व्यक्ति से अधिक सम्बन्धित है।
2. इस विधि का 'बलात् विकल्प मापनी' नामकरण बिल्कुल अनुपयुक्त है क्योंकि कोई भी निर्धारक यह सुनना नहीं चाहता कि निर्णय देने में वह स्वतन्त्र नहीं है।
3. इस मापनी में युग्मों के छाँटने में अनुमान (Guessing) की भी सम्भावना रहती है।
4. इस प्रकार के मापदण्ड की संरचना अत्यन्त जटिल है और इसमें पर्याप्त प्रशिक्षण एवं समय की आवश्यकता पड़ती है।

5.24 निर्धारण मापदण्डों की त्रुटियाँ

निर्धारण विधि की संरचना एवं इसके प्रयोग में अनेक त्रुटियाँ आती हैं, जो निम्न हैं–

1. **उदारता की त्रुटि** (Error of Leniency)–इस त्रुटि को 'उदारता त्रुटि' इसलिए कहा जाता है क्योंकि निर्धारक उन लोगों का मूल्यांकन उदारतापूर्वक करता है जिन्हें वह जानता हो अथवा वे लोग जो अहं सन्निहित (Ego-involved) रहते हों। यह एक सतत् प्रवृत्ति है। इस प्रकार कुछ निर्धारक 'उदार' होते हैं और कुछ 'कठोर'।

   फलत: 'धनात्मक उदारता' (Positive Leniency) तथा ऋणात्मक उदारता (Negative Leneincy) जन्म ले लेती है। इस त्रुटि को कम करने के लिए प्रतिकूल लक्षणों की संख्या अनुकूल-लक्षणों की अपेक्षा कम रखी जाए।
2. **केन्द्रीय प्रवृत्ति की त्रुटि** (Error of Central Tendency)–इस प्रकार की त्रुटि का कारण यह होता है कि निर्धारक प्राय: अति (Extreme) निर्णय देने में संकोच करते हैं। फलत: निर्धारण केन्द्र की ओर खिसक आता है। निर्धारक का ऐसा विचार होता है कि किसी भी व्यक्ति में कोई भी गुण पूर्णत: उपस्थित या अनुपस्थित नहीं होता, जिसके कारण वह अपने निर्णय को मध्य में स्थान दे देता है। यही कारण है कि निर्णय निष्पक्ष नहीं

नोट

हो पाता। इस त्रुटि को कम करने के लिए अन्तिम छोरों (Extreme Ends) के कथनों में अधिक अन्तर रखा जाए।

3. **विरोधी त्रुटि** (Contrast Error)–मुरे (Murray) ने एक अन्य प्रकार के पक्षपात की ओर संकेत किया है जिसे विपरीत या विरोधी त्रुटि कहते हैं। इस त्रुटि के अनुसार, निर्धारक प्राय: व्यक्तियों को अपनी विशेषताओं के विपरीत आँकता है। उदाहरणार्थ, 'सहयोग' एवं 'स्वच्छता' की विशेषताओं का मूल्यांकन करने वाला निर्धारक यदि दोनों विशेषताओं से पूर्ण है तो वह दूसरों में 'असहयोग' एवं 'अस्वच्छता' की प्रवृत्ति का अवलोकन करेगा, क्योंकि मानव स्वभाव है कि जैसे हम स्वयं हैं वैसा ही दूसरों को देखना चाहते हैं, लेकिन जब हम उनको अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं पाते तो आलोचना करते हैं। अनुशासन सम्बन्धी विशेषताओं के सन्दर्भ में प्राय: ऐसा होता है।
4. **परिवेश-त्रुटि** (Halo-Effect)–इस त्रुटि के अनुसार निर्धारक जो धारणा व्यक्ति विशेष के बारे में बना लेता है उसी के आधार पर उस व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। अत: हमारे निर्णय अधिक वैध नहीं रहते। थार्नडाइक ने इसे 'पूर्व-प्रभाव त्रुटि' कहा है। यह एक ऐसी त्रुटि है जिसका शिकार प्राय: हर निर्धारक हो जाता है। नैतिक महत्व की विशेषताओं में यह त्रुटि अधिक होती है। इस त्रुटि को अभ्यास द्वारा दूर किया जा सकता है।

   रग (Rugg) **के अनुसार**–"We judge our fellow in terms of a general mental attitude to- wards them and there is, dominating this mental attitude toward the personality as a whole, alike mental attitude toward qualities."
5. **तार्किक त्रुटि** (Logical Error)–जब निर्धारक दो छात्रों के कार्य में समानता देखता है तो उनका एक सा ही निर्धारण करता है। न्यूकाम्ब (Newcomb) के अनुसार, निर्धारक के मस्तिष्क में जिन लक्षणों में तार्किक सम्बन्ध होता है। उनका वे एक समान मूल्यांकन करते हैं। इसे तार्किक त्रुटि कहते हैं। यदि वस्तुनिष्ठ रूप से अवलोकन योग्य क्रियाओं के बारे में मूल्यांकन किया जाए न कि अमूर्त (Abstract) लक्षणों के बारे में, तब इस त्रुटि से बचा जा सकता है।

5.25 साक्षात्कार का अर्थ एवं परिभाषा

साक्षात्कार अंग्रेजी शब्द ष्टप्दजमतअपमूष्ठ का हिन्दी रूपान्तरण है, जिसका अर्थ है आंतरिक अवलोकन या निरीक्षण करना। साक्षात्कार विधि एक अति सरल एवं सुविधाजनक विधि है, क्योंकि साक्षात्कार विधि का प्रयोग समाज के किसी भी वर्ग पर सरलता से किया जा सकता है। साक्षात्कार के माध्यम से व्यक्ति के उन बातों का भी पता चल जाता है जिसे प्रकट करने में लोगों को प्राय: संकोच होता है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है– **जॉन जी डार्ले** के अनुसार–"साक्षात्कार एक उद्देश्यपूर्ण वार्तालाप है।" (Interview is a purposeful discussion.)

इस प्रकार, इस विधि में आमने-सामने बैठकर किसी उद्देश्य को लेकर व्यक्तियों में वार्तालाप होता है।

मैकोबी तथा मैकोबी के शब्दों में–"तकनीकी रूप से साक्षात्कार से अभिप्राय एक ऐसी स्थिति से है जिसमें एक व्यक्ति (साक्षात्कार कर्त्ता) आमने-सामने के पारस्परिक मौखिक आदान-प्रदान

से दूसरे व्यक्ति को सूचना देने अथवा अपने विचार तथा विश्वास व्यक्त करने के लिये प्रेरित करने का प्रयास करता है।"

"Interview refers to a face-to-face verbal interchange in which one person, the interviewer, attempts to elicit information or expressions of opinion or belief from another person." **—Maccoby and Maccoby**

नोट

इसी प्रकार **पी.वी. यंग** ने लिखा है–"साक्षात्कार को ऐसी व्यवस्थित विधि माना जा सकता है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति काल्पनिक रूप से कम या अधिक, एक ऐसे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में प्रवेश करता है जो कि उसके लिए अपेक्षाकृत अपरिचित होता है।"

"The interview may be regarded as a systematic method by which one person enters more or less imaginatively into the inner life of a comparative stranger."

—P.V. Young

मूल्यांकन की दृष्टि से साक्षात्कार एक जटिल प्रक्रिया है। साधारणतया इस विधि का प्रयोग सेवा नियोजनों से पूर्ण होता है।

साक्षात्कार एक प्रकार से प्रश्नावली का ही रूप है। अन्तर केवल इतना है कि प्रश्नावली लिखित होती है और छात्रों की लिखित प्रतिक्रियाएँ प्राप्त होती हैं तथा इनका प्रशासन (Administer) करने में व्यक्ति का सामने होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु साक्षात्कार में सारा कार्य मौखिक होता है और साक्षात्कार लेने वाला तथा साक्षात्कार देने वाला, दोनों का ही आमने-सामने उपस्थित होना आवश्यक होता है। एक प्रकार से साक्षात्कार में निम्न मुख्य तत्व उपस्थित होते हैं–

(क) व्यक्ति तथा व्यक्ति में अन्तःक्रिया (Face-to-Face interaction)

(ख) एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने का साधन (Means of communicating with each other)

(ग) दोनों में से किसी एक को साक्षात्कार के उद्देश्य का ज्ञान (Knowledge of the purpose of interview to one of them)

5.26 साक्षात्कार के उद्देश्य

साक्षात्कार के निम्न उद्देश्य होते हैं–

1. पूर्व प्राप्त सूचनाओं की पुष्टि करने के लिए।
2. व्यक्ति के विचारों, मूल्यों एवं मनोवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए।
3. व्यक्ति के शारीरिक रूप का अवलोकन करने के लिए।
4. व्यक्ति के अचेतन में निहित शक्तियों का पता लगाने के लिए।
5. तनावों एवं कुंठाओं से प्रभावित व्यवहार का अध्ययन करने हेतु।
6. व्यक्ति की प्रेरणात्मक शक्तियों एवं क्रियाओं की व्याख्या करने हेतु।
7. व्यक्तित्व के अन्य मापकों के पूरक (Complimentary) के रूप में प्रयोग करने हेतु।
8. ऐसी बहुत सी जानकारी प्राप्त करने हेतु जो चेतन पर अनेक रूकावटों के पश्चात् प्रकट होती है।

5.27 साक्षात्कार के प्रकार

साक्षात्कार मुख्य रूप से तीन प्रकार के हो सकते हैं–

नोट

1. निदेशित साक्षात्कार (Directed or Structured Interview)
2. अनिदेशित साक्षात्कार (Non-directed Interview)
3. समाहारक साक्षात्कार **(म्बसमबजपब प्दजमतअपमू)**

1. **निदेशित साक्षात्कार** (Directed or Structured Interview)–निदेशित साक्षात्कार एक प्रकार का अमुक्त प्रश्न समूह (Closed Questionnaire) ही है। इस प्रकार के साक्षात्कार में साक्षात्कार की विधि, समय तथा प्रश्नों की भाषा आदि सभी का पहले से ही निश्चय कर लिया जाता है। सभी प्रत्याशियों से प्रश्न एक ही क्रम में पूछे जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि साक्षात्कार एक सुनिश्चित योजना के अनुसार होता है। इस योजना के अनुसार साक्षात्कार देने वाला अपनी भावनाओं, विचारों एवं अनुभवों पर प्रकाश डालता है। साथ ही योजना का प्रारूप साक्षात्कारकर्ता ही निश्चित करता है, क्योंकि वह ऐसा करने में अधिक सक्षम समझा जाता है। इस प्रकार की विधि से विभिन्न व्यक्तियों की तुलना करने में आसानी रहती है।

   निदेशित साक्षात्कार में प्रश्नों का गठन भी दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम प्रकार के प्रश्न इस तरह के होते हैं कि उनमें उत्तर नियंत्रित रहते हैं तथा प्रत्याशी को कोई छूट नहीं मिलती, दूसरे प्रकार के प्रश्नों में प्रत्याशी उत्तर देने में स्वतंत्र रहता है तथा इच्छानुसार अपनी भावनाएँ व्यक्त कर सकता है।

2. **अनिदेशित साक्षात्कार** (Non-directed or Unstructured Interview)– यह एक प्रकार का मुक्तोत्तर प्रश्न समूह (Open-end Questionnaire) है। इसको गहन साक्षात्कार (Depth Interview), निदानात्मक साक्षात्कार अथवा केन्द्रित साक्षात्कार (Clinical Interview or Focussed Interview) के नाम से भी पुकारा जा सकता है। व्यक्ति के जीवन की बहुत सी समस्याएँ कुछ ऐसी हैं जिनका अध्ययन केवल अनिदेशित साक्षात्कार द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार के साक्षात्कार का प्रयोग मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण, प्रेरणा, अभिवृत्ति आदि के अध्ययन के लिए किया जाता है। इस साक्षात्कार की प्रवृत्ति लचीली होती है तथा इनमें प्रश्नों की भाषा, विधि, समय, क्रम आदि पहले से ही निश्चित नहीं कर ली जाती। साथ ही, प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रत्याशी पूर्ण स्वतंत्र रहता है। साक्षात्कारकर्ता मात्र मित्रता का वातावरण उत्पन्न करके प्रत्याशी को उन्मुक्त अभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहन देता है। इस विधि से प्रायः प्रत्याशी द्वारा प्राकृतिक उत्तर प्राप्त होते हैं। उन्मुक्त अभिव्यक्ति के पश्चात् उनमें अन्तर्दृष्टि विकास होता है तथा उसे स्वयं अपनी क्षमताओं एवं कमज़ोरियों का आभास हो जाता है। इस प्रकार के साक्षात्कार में बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा संवेगात्मक पक्ष का अधिक महत्त्व दिया जाता है। साथ ही, उन्मुक्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसकी एक सीमा भी है, क्योंकि इसके द्वारा प्राप्त आंकड़ों के आधार पर व्यक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकता।

3. **समाहारक साक्षात्कार** (Eclectic Interview)– समाहारक साक्षात्कार, निदेशित एवं अनिदेशित साक्षात्कार का मिश्रित स्वरूप है। इस विधि में उपरोक्त दोनों विधियों की अच्छी बातों

का समावेश किया जाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्याशी भिन्न-भिन्न प्रकार की अन्तर्दृष्टियाँ विकसित करता है। साक्षात्कार के अन्त में साक्षात्कारकर्ता प्रत्याशी से संक्षेप में अपना निष्कर्ष एवं सारांश कथन देने को कहता है। यदि प्रत्याशी ऐसा करने में असफल रहता है तो साक्षात्कारकर्ता स्वयं सारांश प्रस्तुत कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस साक्षात्कार में प्रत्याशी तथा साक्षात्कारकर्ता पर न तो अनिदेशित साक्षात्कार जैसी स्वतंत्रता ही रहती है और न ही निदेशित साक्षात्कार जैसे प्रतिबंध ही रहते हैं। अत: यह साक्षात्कार की सर्वश्रेष्ठ एवं वैध विधि है।

5.28 साक्षात्कार के लाभ

साक्षात्कार विधि के निम्नलिखित लाभ हैं–

1. साक्षात्कार विधि को प्रयोग में लाना अत्यन्त सुविधाजनक एवं सरल है।
2. साक्षात्कार का प्रारूप विभिन्न समस्याओं एवं उद्देश्यों के अनुरूप तैयार किया जा सकता है।
3. समाज के किसी भी वर्ग पर साक्षात्कार का प्रयोग सरलता से किया जा सकता है।
4. साक्षात्कार लेने में कोई विशेष समस्या नहीं आती। चूँकि इसमें प्रत्याशी को लिखित में कुछ नहीं देना होता अत: वह सहर्ष सहयोग देता है।
5. साक्षात्कार व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि (प्देपहीज) उत्पन्न करने में सहयोग देता है।
6. साक्षात्कार की प्रकृति पर्याप्त लचीली होती है।
7. प्रत्याशी की भाव-भंगिमा उसके बारे में अनेक रहस्यों को प्रकट कर देती है।
8. साक्षात्कार संवेगात्मक समस्याओं के अध्ययन के लिए सर्वश्रेष्ठ विधि है।
9. साक्षात्कार के माध्यम से व्यक्ति के व्यवहार के उन आयामों का भी पता चल जाता है जिन्हें प्रकट करने में लोग प्राय: संकोच करते हैं।

5.29 साक्षात्कार की सीमाएँ

साक्षात्कार विधि की अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं, जो निम्न हैं–

1. यह एक दुहरी आत्मनिष्ठ विधि है। प्रत्याशी साक्षात्कारकर्ता को प्रसन्न करने वाले उत्तर देता है।
2. साक्षात्कार व्यक्तिगत भावनाओं से पूर्णरूपेण प्रभावित रहता है।
3. साक्षात्कार को अधिक विश्वसनीय एवं वैध नहीं माना जा सकता।
4. साक्षात्कार अधिक लचीला होता है, फलत: साक्षात्कारकर्ता वार्तालाप को मनपसंद मोड़ दे देता है।
5. कुछ सीमाओं में बँधे होने के कारण प्रत्याशी प्राय: स्पष्टवादिता से परे हट जाता है। सामाजिक मान्यताएँ उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं।
6. साक्षात्कार में प्रत्याशी जिन प्रश्नों के उत्तर नहीं देना चाहता, उनका घुमा-फिराकर उत्तर देकर स्वयं को सुरक्षित स्थिति में रखने का प्रयास करता है।

7. अनिदेशित साक्षात्कार में प्रत्याशी को पर्याप्त स्वतंत्रता मिलने के कारण संतोषप्रद उत्तर प्राप्त नहीं हो पाता।

नोट

5.30 साक्षात्कार लेने में प्रयुक्त सावधानियाँ

साक्षात्कार लेते समय साक्षात्कारकर्ता को निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिये–

1. साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिए।
2. सटीक (Pin-pointed) प्रश्न ही पूछे जायें। एक मज़ाकिया माहौल तैयार करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। प्रश्नों की वैधता को बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिए।
3. साक्षात्कार पर पुरुष या महिला अभ्यर्थी (Sex-biased) होने का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये।
4. समय का ध्यान रखते हुए प्रश्नों को इस प्रकार से बाँधा जाए जिससे कि अभ्यर्थी के पूरे व्यक्तित्व का मूल्यांकन हो सके।
5. अगर किसी प्रश्न का उत्तर प्रत्याशी को नहीं आ रहा है तो उसे अपमानित न किया जाए बल्कि उसके मनोबल को बनाये रखना चाहिए। साक्षात्कार से हम यह ज्ञात करना चाहते हैं कि प्रत्याक्षी क्या जानता है, न कि वह क्या नहीं जानता है।
6. साक्षात्कार एकांगी न होकर सर्वांगी होना चाहिए।
7. साक्षात्कार ऐसे माहौल में समाप्त किया जाए कि प्रत्याशी जिस उत्साह से साक्षात्कार देने आया है उसी उत्साह से वापस जाये। यह साक्षात्कार की सबसे बड़ी विशेषता है। साक्षात्कार करना एक कला है जो अनुभवों से प्राप्त होती है।

5.31 विषय-वस्तु : अनुमापन का अर्थ

विविध प्रकार की वस्तुओं की पैमाइश करने के लिए वह विविध प्रकार के अनुमानों का प्रयोग करता है और उन्हें निश्चित रूप में मापने में सफल भी होता है। परंतु जब यही काम सामाजिक घटनाओं (Social Phenomenon) के संबंध में करने को होता है तो वह अत्यंत कठिन और कभी-कभी असंभव-सा प्रतीत होने लगता है क्योंकि अधिकांश सामाजिक घटनाएँ अमूर्त, जटिल तथा परिवर्तनशील हैं। उदाहरणार्थ, किसी विषय के संबंध में एक व्यक्ति के विचार, दृष्टिकोण मनोवृत्ति, विश्वास या मान्यता आदि गुणात्मक व अमूर्त चीजों को मापना कोई सरल काम नहीं है। फिर भी परिशुद्ध एवं सही माप किसी भी विज्ञान की परिपक्वता (maturity) ,वं प्रगति का प्रतीक है। इसलिए समाज-शास्त्र के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने को इस योग्य बनाने के लिए प्रयत्नशील हो कि अमूर्त सामाजिक घटनाओं को भी ठीक-ठीक मापा जा सके। अतएव सामाजिक अनुसंधान के संदर्भ में अनुमापन (Scaling) का तात्पर्य पैमाइश की उस विधि से है जिसके द्वारा गुणात्मक (qualitative) तथा अमूर्त (abstract) सामाजिक तथ्यों या घटनाओं (phenomena) को गणनात्मक या परिमाणात्मक (quantitative) स्वरूप दिया जाता है। श्रेणियों को एक क्रम के अंतर्गत व्यवस्थित करने की विधि है।

दूसरे शब्दों में, "अनुमापन प्रविधियाँ गुणात्मक तथ्यों की श्रेणियों को गणनात्मक श्रेणियों में बदलने की पद्धतियाँ हैं।" इस अध्ययन में हम इन्हीं पद्धतियों के संबंध में विवेचना करेंगे।

नोट

5.32 अनुमापों की उपयोगिता

परिशुद्ध एवं सही माप करने की क्षमता इस बात की द्योतक है कि एक विज्ञान कितना प्रगति कर चुका है। समाजशास्त्र के लिए यह काम सरल नहीं है क्योंकि इसे मनोवृत्ति, विचार सामाजिक स्थिति, सामाजिक दूरी आदि अमूर्त व गुणात्मक घटनाओं को मापना पड़ता है और इनका प्रत्यक्ष व सही माप संभव नहीं है। उदाहरणार्थ, हरिजनों के प्रति एक ब्राह्मण के मनोभाव का माप करना उतना सरल नहीं है जितना कि किसी भौतिक वस्तु के वजन, लंबाई अथवा चौड़ाई ज्ञात करना है। इसका प्रमुख कारण यही है कि अधिकांश सामाजिक घटनाएँ न केवल जटिल हैं अपितु वे परिवर्तनशील तथा गुणात्मक भी हैं। उनकी प्रकृति गुणात्मक होने के कारण उनका वस्तुनिष्ठ (Objective) एवं गणनात्मक माप एक कठिन समस्या बन जाता है।

वैसे भी अनुमापों की आवश्यकता व उपयोगिता सभी विज्ञानों के लिए है और विकासशील सामाजिक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र के लिए तो अनुमापों की उपयोगिता और भी अधिक है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी–

1. **वैज्ञानिक परिपक्वता की प्राप्ति के लिए** (For Attaining Scientific Maturity) –अनुमापों की प्रथम उपयोगिता यह है कि ये विज्ञान को इस योग्य बना देते हैं कि वह अपने अध्ययन-विषय के अंतर्गत आने वाली घटनाओं का सही व प्रामाणिक माप कर सके। इसके बिना कोई भी विज्ञान परिपक्वता व प्रगति की ओर आगे नहीं बढ़ सकता है। प्रगतिशील व विकासशील होना प्रत्येक विज्ञान की एक उल्लेखनीय आवश्यकता है और इसकी पूर्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक अनुमापन प्रविधियों की भी उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि न होती जाए। सर्वश्री गुडे तथा हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है, "सभी विज्ञान अधिकतम परिशुद्धता की दिशा में अग्रसर होते हैं। इस परिशुद्धता के अनेक रूप होते हैं, पर उसका एक आधारभूत रूप है क्रमबद्ध श्रेणियों का माप।" यह माप अनुमापन प्रविधियों की सहायता से ही संभव हो सकता है अत: स्पष्ट है कि अधिकतम परिशुद्धता की प्राप्ति के लिए ये प्रविधियाँ आवश्यक हैं।
2. **वस्तुनिष्ठ माप के लिए** (For Objective Measurement)–सामाजिक अनुसंधानों में सामाजिक घटनाओं की वास्तविकताओं का अध्ययन और उस अध्ययन द्वारा यथार्थ व निर्भरयोग्य निष्कर्ष निकालना तभी संभव हो सकता है जबकि हम एक घटना विशेष का वस्तुनिष्ठ माप कर सकें। वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिए गणनात्मक विवेचना अत्यंत आवश्यक होती है और यह काम अनुमापन प्रविधियों की सहायता से ही संभव हो सकता है। यदि सामाजिक घटनाओं का वस्तुनिष्ठ माप न किया गया तो सदैव ही यह डर बना रहेगा कि सामाजिक घटनाएँ गुणात्मक होने के कारण प्रत्येक अनुसंधानकर्ता उनका अलग-अलग अर्थ लगाएगा जिसके फलस्वरूप घटनाओं के विश्लेषण में किसी भी प्रकार की सुस्पष्टता पनप ही नहीं सकेगी। सभी के लिए समान वस्तुनिष्ठ व तटस्थ निष्कर्ष निकालना तभी संभव है जब कि विभिन्न सामाजिक घटनाओं को मापने की सुनिश्चित प्रणाली या पैमाना हमारे पास हो। अत: सामाजिक घटनाओं के वस्तुनिष्ठ माप के लिए भी अनुमापन प्रविधियों की अत्यंत आवश्यकता है और यही उनकी उपयोगिता व महत्त्व भी है।

नोट

भौतिक विज्ञान अधिक परिपक्व व परिशुद्ध है क्योंकि इसमें संख्यात्मक माप की प्रविधियाँ अत्यंत विकसित रूप में हैं। पर इन प्रविधियों का इतना अधिक विकास समाजशास्त्र अभी नहीं कर पाया है, फिर भी इस दिशा में प्रयत्नशीलता की कुछ भी कमी नहीं है। कोई भी विज्ञान आरंभ से ही गणनात्मक परिशुद्धता को प्राप्त नहीं कर लेता है। जैसे-जैसे उस विज्ञान की प्रगति होती जाती है वैसे-वैसे गणनात्मक परिशुद्धता भी बढ़ती जाती है क्योंकि धीरे-धीरे अनुमापन प्रविधियों का भी विकास होता जाता है। यही स्थिति समाजशास्त्र की भी है। डॉ० पी० वी० यंग (P.V. Young) ने उचित ही लिखा है कि "यद्यपि इस क्षेत्र में अर्थात् अनुमापन प्रविधियों के विकास के क्षेत्र में बहुत-सा कार्य अभी आरंभिक स्तर पर है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक विज्ञान के रूप में जैसे-जैसे समाजशास्त्र परिपक्व होता जाएगा, वैसे-वैसे विद्यमान मापक यंत्रों तथा प्रविधियों में अधिक उन्नति होगी और साथ ही अन्य अनेक नवीन व अधिक परिशुद्ध मापक प्रविधियाँ विकसित होंगी।"

5.33 समाजशास्त्रीय अनुमाप की कठिनाइयाँ

पैमाने के निर्माण में आने वाली उपरोक्त सामान्य कठिनाइयों के अतिरिक्त भी समाजशास्त्रीय अनुमापों (पैमानों) के निर्माण में कुछ अन्य कठिनाइयों का सामना भी हमें करना पड़ता है। इसका कारण सामाजिक घटनाओं की अपनी विशिष्ट प्रकृति है। निम्नलिखित विवेचना से सामाजिक घटनाओं की प्रकृति के संदर्भ में समाजशास्त्रीय पैमानों को बनाने में आने वाली कठिनाइयों का स्पष्टीकरण हो सकेगा–

1. **सामाजिक घटनाओं की जटिलता** (Complexity of Social Phenomena)–सामाजिक तथ्यों को मापने के लिए पैमानों को बनाने में सर्वप्रथम कठिनाई इस कारण उत्पन्न होती है कि सामाजिक घटनाएँ जटिल होती हैं। प्रत्येक सामाजिक तथ्य प्रायः कई कारकों का परिणाम होता है और इसीलिए यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि पैमाने के निर्माण में इनमें से किस कारक को महत्त्व दिया जाए। साथ ही ये सभी तथ्य या कारक एक-दूसरे के साथ इतने अधिक घुले-मिले होते हैं अर्थात् उनमें इतना अधिक अंतः संबंध अंतः निर्भरता पाई जाती है कि उनकी अलग-अलग माप नहीं की जा सकती।
2. **सामाजिक घटनाओं की अमूर्तता** (Abstractness of Social Phenomena)–समाजशास्त्रीय पैमाने के निर्माण में आने वाली दूसरी कठिनाई सामाजिक घटनाओं की अमूर्तता है। अर्थात् ये गुणात्मक हैं और गुणात्मक तथ्यों की गणनात्मक या परिमाणात्मक (quantitative) रूप में माप एक कठिन समस्या बन जाती है। सामाजिक प्रस्थिति, विचार, प्रेम, पक्षपात, घृणा मनोवृत्ति आदि सभी सामाजिक घटनाएँ अमूर्त या गुणात्मक (qualitative) हैं और इसीलिए यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि इनको गुणात्मक रूप में कैसे अभिव्यक्त किया जाए।
3. **सामाजिक घटनाओं की असमानता** (Heterogeniety of Social Phenomena) –समाजशास्त्रीय पैमानों को बनाना इसलिए भी अत्यधिक कठिन हो जाता है क्योंकि सामाजिक घटनाओं में अत्यधिक असमानता पाई जाती है। मानव समाज में विभिन्न समूह पाये जाते हैं। उनकी प्रत्येक की अपनी संस्कृति, प्रथा, परंपरा, आदर्श, मूल्य, भाषा, धर्म, विश्वास, जाति, प्रजाति आदि होती हैं और इन्हीं के आधार पर उनमें न जाने कितने प्रकार के विभेद होते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही समूह के विभिन्न सदस्यों के विचार, भावना, आदर्श, जीवन मूल्य, विश्वास, धर्म आदि के आधार पर विविधताएँ होती हैं। इन सबका

परिणाम यह होता है कि किसी भी समाजशास्त्रीय पैमाने पर पूर्णतया निर्भर नहीं किया जा सकता और न ही एक समूह के लिए तैयार किए गए पैमाने को दूसरे समूह पर लागू किया जा सकता है।

नोट

4. **मानवीय व्यवहार की परिवर्तनशीलता** (Changing Nature of Human Behaviour)– मानव-व्यवहार निरंतर परिवर्तनशील है और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य के व्यवहारों में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न होते रहते हैं। एक ही विषय के संबंध में आज जो विचार है, कुछ दिनों के पश्चात् भी वही विचार स्थिर रहेगा ऐसा कहा नहीं जा सकता। अत: समस्या यह होती है कि एक समय विशेष में तैयार किया गया कोई भी पैमाना दूसरे समय पर लागू नहीं किया जा सकता। इससे स्वत: ही पैमाना निर्माण करने का कार्य अत्यंत कठिन हो जाता है।
5. **सामाजिक मूल्यों के सार्वभौमिक माप का अभाव** (Absence of Universal Measurement of Social Values)–सामाजिक मूल्यों को मापने के लिए कोई भी सर्वप्रचलित या सर्वमान्य माप नहीं है। आर्थिक वस्तुओं के मूल्यों को मापने के लिए द्रव्य (money) एक सार्वभौमिक माप है। लेकिन इस संसार का कोई भी माप सामाजिक मूल्यों को मापने के लिए उपलब्ध नहीं है। परिणाम यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह सामाजिक घटनाओं या तथ्यों का मूल्यांकन अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हैं। इससे नाना प्रकार की विविधताएँ और जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। जिसके कारण पैमाने के निर्माण का कार्य कठिन हो जाता है।
6. **प्रयोगशाला-विधि को लागू नहीं किया जा सकता** (Laboratory Method can not be applied)–सामाजिक घटनाओं की एक और उल्लेखनीय कमी यह है कि इसकी विशेषताओं के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रयोगशाला-पद्धति का प्रयोग नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विभिन्न तथ्यों के सापेक्षिक महत्त्व का पता लगाना अत्यंत कठिन होता है और इसके बिना पैमानों का निर्माण भी सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है।

उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी सामाजिक घटनाओं या तथ्यों को मापने के लिए विभिन्न पैमानों का निर्माण किया गया है और इस दिशा में और भी उन्नति करने के लिए निरंतर प्रयत्न जारी है। इसीलिए यह आशा की जा सकती है कि गुणात्मक, जटिल व परिवर्तनशील समझी जाने वाली सामाजिक घटनाओं को भी सुनिश्चित माप लेना भविष्य में समाजशास्त्रियों के लिए संभव होगा।

5.34 अनुमापों के प्रकार

सामाजिक घटनाओं या तथ्यों को मापने के लिए अब तक कुछ पैमानों का विकास किया गया है; इनके संबंध में जान लेना यहाँ उपयोगी सिद्ध होगा। पर इस संबंध में यह स्मरणीय है कि इन विद्यमान अनुमापों या पैमानों को अधिक सुनिश्चित तथा परिशुद्ध बनाने के लिए भी निरंतर प्रयास किया जा रहा है। समाज-शास्त्रीय अध्ययन में जिन पैमानों का प्रयोग किया जाता है वे इस प्रकार हैं–

1. **अंक पैमाना** (Point Scale)–इस प्रकार के पैमाने में कुछ विशिष्ट शब्द या स्थितियाँ ले ली जाती हैं और प्रत्येक को एक अंक प्रदान कर दिया जाता है। फिर इन शब्दों या स्थितियों को सूचनादाता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है और वह जिस शब्द या स्थिति

नोट

के पक्ष में राय देना चाहता है उसके आगे क्रास ( ) अथवा सही ( ) का चिह्न लगा देता है। सब सूचनादाताओं से इस प्रकार मत को जानकर फिर हिसाब लगाकर देखा जाता है कि किसके पक्ष में कितने मत आए हैं।

2. **सामाजिक दूरी मापक पैमाना** (Social Distance Scale)–इस प्रकार के पैमानों के द्व ारा विभिन्न वर्गों अथवा व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक अंतर या भेद का पता लगाया जाता है। सामाजिक दूरी मापक पैमाने मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं–(v) बोगार्डस का सामाजिक दूरी का पैमाना, (c) समाजमिति पैमाना। बोगार्डस के पैमाने में कुछ ऐसी परिस्थितियों को चुन लिया जाता है जिससे कि सामाजिक दूरी की तीव्रता प्रगट हो। इन परिस्थितियों को तीव्रता के आधार पर एक क्रम में सजा दिया जाता है और फिर जिन समूहों के बीच सामाजिक दूरी का पता लगाना है उनके सम्मुख उस पैमाने को प्रस्तुत किया जाता है। जो जिस परिस्थिति के पक्ष में अपनी राय देता है उसे लिख लिया जाता है और इस प्रकार सभी सूचनादाताओं के मतों को जानने के पश्चात् सांख्यिकीय हिसाब लगाकर सामाजिक दूरी का अंदाजा लगाया जाता है। समाजमिति पैमाने में जिन व्यक्तियों के या समूह के बारे में अध्ययन करना होता है अथवा घृणा, प्रेम आदि के आधार पर सामाजिक दूरी या निकटता का पता लगाना होता है उनको एक-एक पर्ची दे दी जाती है और यह अनुरोध किया जाता है कि वे उन लोगों का नाम लिख दें जिन्हें कि वे सर्वाधिक चाहते हैं या नापसंद करते हैं। उनके उत्तरों के आधार पर सामाजिक दूरी या निकटता को मापा जाता है।

3. **तीव्रता मापक पैमाने** (Rating or Intensity Scales)–इस प्रकार के पैमाने के द्वारा लोगों के विचारों, मनोभावों आदि की तीव्रता की माप की जाती है। यह पैमाना उस समय अधिक उपयोगी सिद्ध होता है जबकि किसी विषय के संबंध में केवल दो विरोधी विचार न होकर इन दोनों के बीच अन्य विकल्प भी होता है। उदाहरण के लिए एक अफसर के प्रति उसके दफ्तर के कर्मचारियों का मनोभाव केवल अच्छा या बुरा नहीं हो सकता बल्कि कुछ लोग उसे बहुत अच्छा, कुछ लोग बहुत खराब और कुछ लोग औसत दर्जे का भी मान सकते हैं। इस पसंदगी या नापसंदगी को तीव्रता के आधार पर एक क्रम में लगा दिया जाता है जैसे–बहुत अच्छा/अच्छा/सामान्य/बुरा/बहुत बुरा। फिर इस पैमाने के प्रति विभिन्न कर्मचारियों के मनोभावों को मालूम किया जाता है और उसी के आधार पर यह मालूम किया जाता है कि अधिकांश कर्मचारी उस अफसर को किस सीमा तक पसंद करते हैं या नापसंद करते हैं अथवा उसे औसत दर्जे का (न अच्छा, न बुरा) मानते हैं।

4. **श्रेणी सूचक पैमाने** (Ranking Scales)–**इस प्रकार के पैमानों में परिस्थितियों या तथ्यों को कुछ श्रेणियों में प्रस्तुत किया जाता है और उन्हें** ऐसे क्रम से रखा जाता है कि उससे यह पता चल जाए कि एक की तुलना में किस दूसरे को लोग अधिक पसंद करते हैं।

5.35 मनोवृत्तियों की माप

मनोवृत्तियों को मापा भी जा सकता है और इसी संभावना ने मनोवृत्ति को सामाजिक मनोविज्ञान का एक केंद्रीय अध्ययन-विषय बना दिया है; क्योंकि विज्ञान में यथार्थता (exactness) का महत्त्व

अत्यधिक है और जिस घटना (phenomenon) की माप संभव है उसमें यथार्थता की संभावना भी आप-से-आप होती है। इसीलिए मनोवृत्तियों की माप पर अत्यधिक बल दिया जाता है। साथ ही बहुत से सामाजिक सुधारों की सफलता अथवा असफलता बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि लोगों की मनोवृत्तियों के संबंध में हमें यथार्थ ज्ञान हो। इसीलिए सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक, व्यापार तथा जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों में मनोवृत्तियों को मापने का और उन्हें काम में लाने का प्रयास किया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी चुनाव में लड़ने के पूर्व प्रत्याशी (candidate) को मतदाताओं की, उसके प्रति तथा विभिन्न समस्याओं के प्रति, मनोवृत्तियों का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।

5.36 मनोवृत्तियों को मापने में कठिनाइयाँ

यह सत्य है कि मनोवृत्तियों की माप मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, फिर भी मनोवृत्तियों को मापने का काम उतना सरल नहीं है जितना कि हम सामान्य रूप से समझते हैं। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. मनोवृत्तियों में व्यक्तिगत भिन्नताएँ अत्यधिक होती हैं, इस कारण उनकी माप यथार्थ रूप में नहीं हो पाती है। इतना ही नहीं, मनोवृत्ति में तीव्रता का भी अंतर प्रत्येक व्यक्ति में देखने को मिलता है। कुछ लोगों को दहेज से घृणा हो सकती है, पर इस घृणा की तीव्रता प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग हो सकती है।
2. इस संबंध में दूसरी कठिनाई यह है कि मनोवृत्तियाँ अमूर्त (abstract) होती हैं और अमूर्त को मापना अत्यंत कष्टकर होता है। कोई व्यक्ति क्या सोच रहा है, क्या-क्या अनुभव कर रहा है, इसका तो केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है और अनुमान पर अधिक भरोसा करना उचित नहीं समझा जाता है।
3. मनोवृत्तियाँ अत्यंत जटिल होती हैं। इसका कारण यह है कि किसी व्यक्ति अथवा समस्या के प्रति लोगों की मनोवृत्तियाँ अनेक कारणों से प्रभावित और परिवर्तित होती रहती हैं। इन समस्त प्रभावों तथा परिवर्तनों को टालकर मनोवृत्तियाँ को मापना कठिन होता है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि अन्य परिस्थितियों के समान रहने पर किसी व्यक्ति-विशेष में अमुक मनोवृत्ति की संभावना पाई जा सकती है।
4. मनोवृत्तियों की माप में एक और कठिनाई किसी सही और सर्वमान्य पैमाने का अभाव है। भौतिक विद्वानों में इस प्रकार के यंत्रों तथा पैमानों का उपयोग अत्यधिक होता है। जैसे कि गर्मी को थर्मामीटर द्वारा डिग्रियों में मापा जा सकता है। वायु के भार को बैरोमीटर द्वारा इंचों में प्रकट किया जाता है, बिजली के मीटर की शक्ति हॉर्स-पावर (Horse-power) में तथा सूत की किस्म नंबरों (counts) में प्रकट की जाती है। परंतु मनोवृत्तियों के मापने के संबंध में इस प्रकार के अचूक तथा सर्वमान्य पैमानों के अभाव का अनुभव किया ही जाता है।

परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनोवृत्तियों को मापा ही नहीं जा सकता है। धैर्यपूर्वक वैज्ञानिक विधियों को काम में लाने से मनोवृत्तियों की सही माप भी निकाली जा सकती है। अब हम संक्षेप में उन पैमानों का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा मनोवृत्तियों को मापा जा सकता है।

5.37 मनोवृत्तियों को मापने की विधियाँ

मनोवृत्ति को मापने के लिए कुछ निश्चित विधियों का प्रयोग किया जाता है। इस संबंध में यह आवश्यक है कि उन विधियों व पैमानों को संक्षेप में समझ लिया जाए। मनोवृत्ति-माप के लिए जिन प्रमुख विधियों का प्रयोग किया जाता है वे निम्नलिखित हैं–

नोट

5.38 मत-मापक पैमाना

मतों को मापने के लिए इस प्रकार के पैमानों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है जिनकी सहायता से मनोवृत्ति के विषय में भी पता चल जाता है। इस विधि में एक ऐसे पैमाने का निर्माण किया जाता है कि जिसमें क्रम से ऐसे कथन (propositions or term) होते हैं जिनके प्रति व्यक्ति को अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति, सम्मति या असम्मति प्रकट करनी होती है। पैमाने में मनोवृत्ति को किसी चरम स्थिति से मापना आरंभ किया जाता है और फिर धीरे-धीरे विपरीत दिशा को बढ़ाना होता है। दूसरे शब्दों में, पैमाने में किसी में भी मनोवृत्ति के अभावात्मक से भावात्मक अथवा अनुकूल से प्रतिकूल रूप तक एक क्रमिक परिमाणात्मक विस्तार होता है। इस विस्तार में व्यक्ति के मतों के आधार पर एक औसत निकालकर उसकी मनोवृत्ति को मापा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम हरिजनों के प्रति मनोवृत्तियों को मापना चाहते हैं तो निम्नलिखित रूप से पैमाना बनाया जा सकता है–

1. आप हरिजनों से घृणा करते हैं।
2. आप हरिजनों के प्रति उदासीन हैं।
3. आपको हरिजनों के प्रति किंचित् स्नेह है।
4. आपको हरिजन प्रिय लगते हैं।
5. आप हरिजनों से घनिष्ठता करना चाहते हैं।

उपर्युक्त पैमाना मनोवृत्ति के एक लक्ष्य घृणा से आरंभ होता है और उसकी विपरीत अवस्था घनिष्ठता में समाप्त होता है। पर इन सबका उद्देश्य समान है। अर्थात् व्यक्ति को मापदंड पर एक ऐसा स्थान देने का प्रयास किया गया है जिससे व्यक्ति की मनोवृत्तियों की स्थिति का परिचय मिल जाए।

मत-मापक पैमाने द्वारा व्यक्तियों की मनोवृत्तियों की प्रत्यक्ष माप नहीं हो पाती है। इससे तो केवल विशेष कथनों के प्रति व्यक्ति की उन प्रतिक्रियाओं को जानने का प्रयास किया जाता है जो उसके मतों से अभिव्यक्त होती हैं। व्यक्ति का मत उसकी मनोवृत्ति की परछाई है–यह इस विधि का निर्देशक सिद्धांत है। इस विधि के अंतर्गत मापदंड या पैमाना बनाया जाता है। उसमें निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है–(1) पैमाने को विश्वसनीय (reliable) होना चाहिए, अर्थात् दो समान परिस्थितियों में प्राप्त होने वाली मापों में अधिक अंतर नहीं होना चाहिए। (2) पैमाने को सप्रमाण (Valid) होना चाहिए, अर्थात् पैमाने में ऐसे कथन (पजमउे) होने चाहिए जो यथार्थ या वास्तविक रूप से व्यक्ति की मनोवृत्तियों पर प्रकाश डालें। (3) पैमाने के चरणों (steps) में पारस्परिक अंतर और विभेद होना चाहिए। (4) पैमाने के कथनों का व्यक्ति की मनोवृत्तियों से वैज्ञानिक संबंध होना चाहिए। (5) निर्णायकों (Judges) की मनोवृत्तियों का प्रभाव पैमाने के निदशों के चुनाव पर न पड़ना चाहिए। (6) ऐसे कथनों का चुनाव किया जाए कि विभिन्न मात्रा में मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों को विभिन्न श्रेणियों में बाँट सकें।

नोट

5.39 थर्सटन पैमाना-विधि

श्री थर्सटन तथा उनके साथियों ने सन् 1929 और 1931 के बीच विभिन्न समूहों के सदस्यों के युद्ध, चर्च, मृत्युदंड, संतति-नियम आदि के संबंध में मनोवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए पैमानों को प्रस्तुत किया। थर्सटन-विधि का सिद्धांत यह है कि यदि एक व्यक्ति किसी कथन को स्वीकार या अस्वीकार करता है तो उसके आधार पर मनोवृत्ति के पैमाने में उसे एक निश्चित स्थान प्रदान किया जा सकता है। अत: समस्या उपर्युक्त कथनों के चुनावों की है जिनके आधार पर व्यक्ति की मनोवृत्ति यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हो सके। अत: श्री थर्सटन की विधि में वस्तु, विषय या समस्या के संबंध में कथनों की एक सूची अखबारों में प्रकाशित लेखों से, लोकसभा, राज्यसभा या विधानसभा की कार्यवाही से या सहयोगियों के मतों से बनाई जाती है। इन कथनों में पूर्ण स्वीकृति से लेकर पूर्ण अस्वीकृति तक सभी श्रेणी के कथनों का समावेश होना चाहिए। इस विधि के अनुसार सामान्यत: दो-तीन सौ कथनों का संग्रह आवश्यक होता है। इसके बाद इन कथनों का संपादन (editing) किया जाता है और उन कथनों को सूची से निकाल दिया जाता है जिनका कि कोई संबंध अध्ययन-विषय से न हो। ये कथन सरल, संक्षिप्त, संपूर्ण, निश्चित एवं प्रत्यक्ष होने चाहिए जिससे कि व्यक्ति इन्हें सरलता से स्वीकार या अस्वीकार कर सके। कथनों के संग्रह व संपादन में अनुसंधानकर्त्ता को व्यक्तिगत पक्षपात से बचना चाहिए। इसके पश्चात इन कथनों को चरम अनुकूल से चरम प्रतिकूल रूप तक एक क्रम से सजा देना होता है। इसके लिए कथनों की नकल (copies) करके प्रत्येक कथन की एक-एक प्रति एकाधिक विशेषज्ञों या निर्णायकों (Judges) के पास भेजी जाती है ताकि उनमें से प्रत्येक जज अपने-अपने निर्णय के अनुसार उन कथनों को कुछ श्रेणियों में बाँट दे। वे कथन जो कि सर्वाधिक अनुकूल हैं उन्हें प्रथम श्रेणी में तथा वे कथन जो कि सर्वाधिक प्रतिकूल हैं उन्हें नवीं या ग्यारहवीं श्रेणी में रखने के लिए निर्णायकों को कहा जाता है और इन दोनों श्रेणियों के बीच अन्य कथनों को एक क्रम से अनुकूल से प्रतिकूल तक विभिन्न श्रेणियों में सजा दिया जाता है; और इस प्रकार नौ या ग्यारह श्रेणियों में समस्त कथनों को क्रम से सजा दिया जाता है। इसके पश्चात् इन कथनों में से प्रत्येक कथन को अधिकतर निर्णायकों (Judges) ने जो औसत स्थान दिया है उसी स्थान पर एक कथन को पैमाने (Scale) में रखा जाता है, अर्थात् कथनों को बहुमत के आधार पर पैमाने के एक क्रम में सजा दिया जाता है। उन मतों या कथनों को पैमाने में नहीं रखा जाता है जिनके संबंध में निर्णायकों या जजों में पर्याप्त मतभेद हो अंत में, पैमाने का निर्माण एक सीमित संख्या में उपयुक्त ढंग से चुने हुए कथनों द्वारा इस प्रकार कर लिया जाता है कि संपूर्ण पैमाने के अंतर्गत विभिन्न कथनों के विभिन्न स्थान मिले हुए हों और कथ या श्रेणी अत्यधिक से न्यूनतम या सर्वाधिक अनुकूल से सर्वाधिक प्रतिकूल तक फैली हुई हो।

इस पैमाने को बनाने में कुछ विशेष सावधानियाँ ध्यान में रखनी चाहिए। जो कथन पैमाने में रखे जाएँ उनकी भाषा सरल, सुस्पष्ट, सार्थक एवं परिमार्जित होनी चाहिए; उनमें से प्रत्येक कथन का प्रत्यक्ष संबंध व्यक्ति के किसी विषय से संबंधित मतों, विश्वासों और मनोवृत्तियों से हो। ऐसे कथन जो द्वयर्थक या अस्पष्ट (ंइइपहनवने) हों, उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। विशेषज्ञों या जजों की संख्या भी पर्याप्त होनी चाहिए। कथनों की जाँच करते समय जजों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे निजी विश्वास या मनोवृत्ति से प्रभावित होकर किसी कथन को कोई गलत स्थान न दे दें।

5.40 लिकर्ट पैमाना-विधि

नोट

सन् 1932 में श्री लिकर्ट ने श्री थर्सटन से कुछ भिन्न तथा सरल पैमाने का निर्माण किया और उसकी सहायता से विभिन्न समूहों के साम्राज्यवाद (imperialism)ए अंतर्राष्ट्रीयता और नीग्रो के प्रति मनोवृत्तियों को जानने का प्रयास किया। लिकर्ट पैमाना निम्नलिखित ढंग से बनाया जाता है–

पैमाने (scale) को तैयार करने के लिए एक वस्तु या विषय से संबंधित बहुत से कथनों को एकत्रित किया जाता है। इसके पश्चात जिन लोगों की मनोवृत्ति का अध्ययन करना है उनमें से प्रत्येक को कहा जाता है कि इन कथनों में से प्रत्येक के प्रति अपनी मनोवृत्ति की मात्रा (degree of his attitude) पाँच विभिन्न श्रेणियों में व्यक्त करें अर्थात् एक एक कथन-विशेष के प्रति प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृढ़ सहमति, सहमति, अनिश्चितता, असहमति, दृढ़ असहमति (strongly approve, approve, undecided, disapprove, strongly disapprove) प्रकट करे। इन पाँच श्रेणियों को क्रम से 5, 4, 3, 2, 1, अंक प्रदान कर दिया जाता है। जिस कथन को अधिक अंक मिलता है उसे अनुकूल मनोवृत्ति का द्योतक माना जाता है। उन कथनों को निकालकर पृथक् कर दिया जाता है जिनका व्यक्ति के संपूर्ण गुणांक (score) से कोई भी सह-संबंध नहीं है।

इस विधि का और भी स्पष्टीकरण निम्नलिखित अंक-पैमाने (Point Scales) की विवेचना से हो जाएगा।

5.41 अंक पैमाने

इस प्रकार के पैमाने में विभिन्न प्रकार के शब्द अथवा परिस्थितियाँ ली जाती हैं और प्रत्येक को अंक (Point) प्रदान किया जाता है। उत्तरदाता से यह कहा जाता है कि जिस शब्द अथवा परिस्थिति से उसके मन में प्रसन्नता की अपेक्षा रोष ही अधिक उत्पन्न हो, उसके आगे काटे ( ) का निशान लगा दे। ऐसे प्रत्येक शब्द को, जिसे उत्तरदाता ने काटा नहीं है, एक अंक प्रदान किया जाता है। किसी व्यक्ति की मनोवृत्ति का पता विभिन्न शब्दों के काटने अथवा छोड़ देने (अर्थात् न काटने) के आधार पर किया जाता है। दो-एक उदाहरण के द्वारा इस पैमाने को समझाया जा सकता है।

काटा नहीं जाएगा, एक अंक प्रदान किया जाएगा–

1. नाच-गान
2. पूजा-पाठ
3. अनेक संतान
4. परिवार नियोजन
5. अंतर्विवाह
6. अंतर्जातीय विवाह
7. अध्यात्मवाद
8. भोगवाद

उपर्युक्त पैमाने की सहायता से हम विभिन्न विषयों के संबंध में व्यक्ति की मनोवृत्ति का पता लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि व्यक्ति ने 'नाच-गान' को काट दिया और 'पूजा-पाठ' को यूँ ही छोड़ दिया है तो समझा जाएगा कि वह सदाचारपसंद व्यक्ति है।

केवल शब्दों की सहायता से मनोवृत्ति को मापा जा सकता है कि जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा–

1. संयुक्त परिवार में रहना।
2. अंतर्जातीय विवाह करना।
3. जाति-प्रथा के नियमों का पालन करना।
4. विधवा-पुनर्विवाह करना।
5. अपनी ही जाति में विवाह करना।
6. बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा देना।
7. लड़कियों को स्कूल-कॉलेज न भेजना।
8. गाँव में रहना।
9. बच्चों की प्रगति के लिए शहर में बस जाना।
10. पूजा-पाठ करना।
11. सिनेमा का शौक रखना।
12. अधिक बच्चे पैदा करना।
13. परिवार नियोजन को स्वीकार करना।
14. घर की स्त्रियों को क्लब आदि का सदस्य बनने की स्वीकृति देना।
15. स्त्रियों पर कड़ी निगरानी रखना।

एक व्यक्ति के द्वारा उपर्युक्त परिस्थितियों के आगे काटे (***x***) का निशान लगाने या न लगाने के आधार पर यह पता चल सकेगा कि व्यक्ति परंपरावादी है अथवा नवीन युग की विचारधाराओं का समर्थक।

नोट

5.42 विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता की समस्या

अधिकांश सामाजिक घटनाएँ सामाजिक संबंधों पर आधारित होने के कारण अमूर्त होती हैं जिनका निरीक्षण-परीक्षण बहुत कठिन होने के कारण उनसे संबद्ध तथ्यों को खोजना सरल नहीं होता और इसलिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में कठिनाई का अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक घटनाएँ गुणात्मक (qualitative) हैं, इस कारण परिमाणात्मक (quantitative) तौर पर उनकी अभिव्यक्ति, यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। इस अर्थ में सामाजिक घटनाओं की गुणात्मकता वस्तुनिष्ठता की विरोधिनी है और तथ्यों के खोज की एक गंभीर समस्या को उत्पन्न करती है; उसी प्रकार सामाजिक घटनाओं की परिवर्तनशीलता तथ्यों के खोज की एक अन्य समस्या को जन्म देती है। क्योंकि अपनी परिवर्तनशीलता के गुण के कारण सामाजिक घटनाओं से संबद्ध कोई भी तथ्य अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रहता और उसमें अनिश्चितता का तत्व किसी-न-किसी रूप में छिपा होता है। यहाँ हम उन कठिनाइयों का उल्लेख करेंगे जो कि वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होती हैं–

1. **अध्ययन-विषय से संपूर्ण अलगाव संभव नहीं** (Complete detachment from subject-matter not possible)–वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के पथ पर सर्वप्रथम बाधा तो यही है कि अनुसंधानकर्ता के लिए संभव नहीं होना कि वह अपने अध्ययन-विषय से अपने

नोट

को पूर्णतया पृथक मान ले; क्योंकि जिस विषय का वह अध्ययन कर रहा है वह उस सामाजिक संबंध से संबद्ध है जिसका कि वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में एक अभिन्न अंग है। अभिन्न इस अर्थ में नहीं कि वह उसी समाज का सदस्य है बल्कि अभिन्न इस अर्थ में कि वह स्वयं मानव है और किसी-न-किसी मानवीय घटना का अध्ययन कर रहा है। यदि वह मानवीय घटना उसके अपने समाज या समूह से संबंधित है तो उसके प्रति उसके दिल में 'विशेष' स्थान है और यदि वह ऐसे विषय का अध्ययन कर रहा है जो कि उसके अपने समाज या समूह का नहीं है तो उस विषय के प्रति उसके दिल में कुछ-न-कुछ पक्षपात का होना भी स्वाभाविक है। दोनों में से किसी भी दशा में उसके लिए विषय से संपूर्ण अलगाव रखना संभव नहीं होता है। और लगाव, चाहे वह किसी भी रूप में हो, वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में एक बहुत बड़ी कठिनाई बन जाता है। यही कारण है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में अनुसंधानकर्ता का अपना राग-अनुराग, घृणा या स्नेह-भाव, द्वेष या द्वंद्व, आसक्ति या विरक्ति, पसंद या नापसंद की कुछ-न-कुछ भूमिका अवश्य ही होती है और ये सब अध्ययन की प्रकृति, दिशा, लक्ष्य, तथ्यों के संकलन आदि को किसी-न-किसी रूप में अपने रंग में रंग देते हैं, चाहे उसके संबंध में अनुसंधानकर्ता सचेत हो अथवा नहीं, या ऐसा वह जान-बूझकर करता हो या अनजाने में। किसी भी अवस्था में अध्ययन के विषय में संपूर्ण अलगाव न होना वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में कठिनाई उत्पन्न करता है।

2. **भावनात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव** (Influence of emotional tendencies)—अनुसंधानकर्ता जिस विषय का अध्ययन कर रहा है वह सामाजिक जीवन का ही एक अंग है और उस पर अनेक प्रकार की भावनात्मक प्रवृत्तियों का निरंतर प्रभाव पड़ता रहता है। विभिन्न सामाजिक घटनाओं के प्रति समाज में कुछ सामान्य भावनाएँ प्रचलित हो जाती हैं और अपने अनुसंधान के दौरान अनुसंधानकर्ता उन भावनाओं का शिकार बन सकता है। उदाहरणार्थ, वेश्यावृत्ति को ही लीजिए—इस सामाजिक घटना का अध्ययन करते समय अनुसंधानकर्ता उस भावनात्मक प्रवृत्ति का शिकार बन सकता है जिसके अनुसार सभी वेश्याओं को बुरा मान लिया गया है। अपना शरीर बेचकर पैसा कमाने के लिए वे सब-कुछ कर सकती हैं—यह सामान्य प्रचलित धारणा है और हो सकता है कि अनुसंधानकर्ता इसके प्रभाव से अपने को विमुक्त न रख पाए। इसी प्रकार संयुक्त परिवार प्रणाली, अस्पृश्यता, जाति-प्रथा आदि का अध्ययन करते समय भी अनुसंधानकर्ता पर भावनात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ सकता है और उसके लिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति कठिन हो सकती है।

3. **विशिष्टमूलक भ्रांति** (Particularistic fallacy)—श्री थॉमस (W.I. Thomas) के मतानुसार वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में एक और कठिनाई विशिष्टमूलक भ्रांति है जिसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक घटना के अध्ययन में बहुधा अनुसंधानकर्ता किसी एक कारण पर आवश्यकता से अधिक बल देकर या घटना के किसी विशेष पक्ष को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मान लेने की गलती कर बैठते हैं। वे अपने अध्ययन का निष्कर्ष या तो अपर्याप्त या असंपूर्ण या असंबद्ध तथ्यों के आधार पर निकाल लेते हैं। उदाहरण के लिए, "बुरी संगत बाल-अपराध का एक मात्र कारण है", "प्रजातीय भिन्नता ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति का एक मात्र कारण है", "पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण भारतीय संस्कृति ने अपनी विशिष्टता

को बिल्कुल ही खो दिया है"–इसी प्रकार के असंख्य निष्कर्ष विशिष्टमूलक भ्रांति के ही परिचायक हैं और इनका आधार अपर्याप्त या असंबद्ध तथ्य हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति बहुत-कुछ असंभव-सी प्रतीत होती है।

नोट

4. **असत्य प्रतिमाएँ** (False Idols)–श्री फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) ने एक विशिष्ट वाक्यांश के द्वारा उन गलतियों के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो कि किसी अनुसंधान के दौरान अनुसंधानकर्ता प्रायः कर बैठता है। उन्होंने लिखा है कि ये प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे गुफ़ा की प्रतिमाएँ (Idols of Cave) अर्थात् वे गलतियाँ जिन्हें अनुसंधानकर्ता अपने संकीर्ण तथा असम्बद्ध विचारों के फलस्वरूप एक घटना या व्यक्ति के संबंध में कर बैठता है; ये विचार उसके अपने विचार होते हैं अथवा ऐसे होते हैं जिनके विषय में कोई दूसरा नहीं जानता। इसी प्रकार न्यायालय या वादपीठ की प्रतिमाएँ होती हैं। (Idols of Forum) अर्थात अनुसंधानकर्ता केवल शब्दों पर अनावश्यक भरोसा करने की गलती कर बैठता है। इसके अतिरिक्त बाजार की प्रतिमाएँ (Idols of the market place) भी होती हैं। अर्थात् प्रथा, परंपरा, रूढ़ि इत्यादि पर अनावश्यक बल देने और उसी के आधार पर निष्कर्षों को निकालने की गलती अनुसंधानकर्ता कर सकता है। अंत में, श्री बेकन के अनुसार, जनजाति की प्रतिमाएँ (The Idols of the Tribe) भी होती हैं जिसका तात्पर्य यह है कि अनुसंधानकर्ता किसी वस्तु या घटना को अपने ही ढंग से देखने या विचारने की गलती करता है; अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या जीवन के संबंध में अपने सीमित ज्ञान के बाहर निकलकर कुछ निष्कर्ष निकालना बहुधा अनुसंधानकर्ता के लिए कठिन होता है। ये सभी परिस्थितियाँ वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करती हैं।

5. **सामान्य ज्ञान और वास्तविक ज्ञान में भ्रम** (Confusions regarding general knowledge and real knowledge)–श्री क्लाइड हार्ट (ब्सलकम ॅण भ्ंतज) ने लिखा है कि वस्तुनिष्ठता का संबंध वास्तविक ज्ञान से है, न कि सामान्य ज्ञान से। जब एक अनुसंधानकर्ता सामान्य ज्ञान (general knowledge) को ही वास्तविक ज्ञान मान लेता है या सामान्य ज्ञान के आधार पर ही निष्कर्षों तक पहुँचने या कम-से-कम वस्तुनिष्ठता के निकट जाने का प्रयत्न करता है तब वह वैज्ञानिक के रूप में एक असाधारण गलती कर बैठता है। कभी-कभी तो सामान्य ज्ञान के आधार पर जिस प्राक्कल्पना का निर्माण एक बार अनुसंधानकर्ता कर लेता है उसी को ठीक प्रमाणित करने की धुन में वह तथ्यों को उसी दृष्टिकोण से देखता व उसी रूप में प्रस्तुत करता है। जो तथ्य उसके सामान्य ज्ञान से मेल नहीं खाता उसे वह सावधान होकर त्याग देता है। स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया से और कुछ की प्राप्ति संभव हो सकती है, पर वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य ज्ञान यथार्थ होता ही नहीं; इसका तात्पर्य केवल इतना है कि सामान्य ज्ञान की वास्तविकता की जाँच वास्तविक तथ्यों द्वारा न करने की प्रवृत्ति ही अध्ययन में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के पथ पर एक बाधा की सृष्टि करती है।

6. **पक्षपात व विरोधी-पक्षपातों की संभावना** (Possibility of prejudices and counter-prejudices)–कहा जाता है कि अनुसंधानकर्ता को दुधारी तलवार पर चलना होता है और वह इस अर्थ में कि यदि वह अपने अध्ययन-विषय के प्रति पक्षपातपूर्ण मनोभाव को

नोट

अपनाता है तो वह तटस्थता से दूर चला जाता है; और यदि वह उन पक्षपातों को जबर्दस्ती रोकने या हटाने का प्रयत्न करता है तो अनेक विरोधी-पक्षपात उसका रास्ता रोककर तटस्थता की प्राप्ति को असंभव बना देते हैं। उदाहरणार्थ, एक संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में यदि एक अनुसंधानकर्ता बिल्कुल पक्षपातरहित होकर संयुक्त परिवार प्रणाली के दोषों का विश्लेषण करता है तो भी उसका वह अध्ययन एकतरफा हो जाएगा क्योंकि ऐसा करने पर वह विरोधी-पक्षपात के जाल में स्वत: ही फँस जाएगा और उसके अध्ययन व निष्कर्षों के विषय में यह कहा जाएगा कि उसने संयुक्त परिवार प्रणाली के लाभों के प्रति अपनी आँखें मूँद ली हैं। इसी प्रकार यदि वह केवल लाभों का विश्लेषण करता है तो हानि वाला पक्ष छूट जाता है। हानि और लाभ दोनों के बीच में संतुलित दृष्टिकोण को अपनाकर तटस्थता की प्राप्ति बहुत कठिन हो जाती है। यदि एक अनुसंधानकर्ता जातिवाद को अच्छा कहता है तो यह विरोधी-पक्षपातों का शिकार बन जाता है और उसके माथे पर निष्पक्ष न होने का कलंक लगता है और यदि वह जातिवाद को बुरा कहता है तो भी वह विरोधी-पक्षपात का शिकार बनता है और जातिवाद की अच्छाइयों के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के लिए दोषी ठहराया जाता है। इस प्रकार पक्षपात और विरोधी-पक्षपात दोनों ही तटस्थता की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होते हैं।

7. **सजातिवाद** (Ethnocentrism)—वस्तुनिष्ठता अथवा तटस्थता की प्राप्ति के रास्ते में एक और उल्लेखनीय बाधा सजातिवाद है। इसका तात्पर्य यह है कि दूसरों की तुलना में अपने समाज और सामाजिक घटनाओं के लिए प्रत्येक व्यक्ति के दिल में एक 'दुर्बल कोना' (soft corner) होता है और उसकी वह दुर्बलता इस रूप में प्रकट होती है कि वह अपने समाज की परिवार-व्यवस्था, धर्म, साहित्य, भाषा, अन्य सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं, विचारों तथा आदर्शों को सबसे अच्छा मान लेता है। यह सबसे अच्छा होना वास्तविकता नहीं, उसकी दुर्बलता का ही परिचायक है और यह दुर्बलता वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधा की सृष्टि करती है क्योंकि इससे बचना अनुसंधानकर्ता के लिए भी संभव नहीं होता। इसी प्रकार जब वह दूसरे समाज की किसी सामाजिक घटना का अध्ययन करता है तो भी उसके लिए पक्षपातरहित तटस्थ अध्ययन करना अत्यधिक कठिन होता है क्योंकि अपने समाज की तुलना में उसे अन्य समाज की घटनाएँ तुच्छ प्रतीत होती हैं और साथ ही वह उन घटनाओं का मूल्यांकन भी अपने समाज के मापदंडों (standards) के आधार पर करता है। इसलिए अनुसंधानकर्ता के लिए तटस्थता की प्राप्ति संभव नहीं रहती है। वास्तविकता तो यह है कि सजातीयता की भावना उस लगाव की परिचायक है जो कि एक व्यक्ति के मन में उसके अपने समाज की प्रथाओं, परंपराओं, संस्थाओं, मूल्यों एवं आदर्शों आदि के प्रति स्वभावत: ही विकसित हो जाता है, और जहाँ लगाव है वहाँ वस्तुनिष्ठता का होना कठिन होता है, अलगावपन (detachment) वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति की प्रथम शर्त है। सजातिवाद इस शर्त का विरोधी है, इसलिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधक है।

8. **अनुसंधानकर्ता का व्यक्तिगत स्वार्थ** (Vested interest of the Researcher Himself) —ऐसा भी होता है कि स्वयं अनुसंधानकर्ता का अपना स्वार्थ तटस्थ की प्राप्ति में बाधा डालता है। ऐसा तभी होता है जबकि वह सत्य की बलि अपने स्वार्थ की वेदी में दे बैठता है। जिस अनुसंधानकर्ता के लिए अपना निजी स्वार्थ सर्वोपरि है, उसके लिए तटस्थता की

प्राप्ति होना या न होना कोई अर्थ ही नहीं रखता है। अपना स्वार्थ उसे अंधा बना देता है और वह समस्त वास्तविकताओं के प्रति आँख मूँदकर तथ्यों को उसी रूप में प्रस्तुत करता है जिससे कि उसके स्वार्थों की (न कि तटस्थता की) अधिकतम पूर्ति हो या उन स्वार्थों को न्यूनतम आघात पहुँचे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत स्वार्थ वस्तुनिष्ठता का दुश्मन है और अंधे अध्ययन का साथी। यही कारण है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थों द्वारा प्रेरित अनुसंधानकर्ता जब यह देखता है कि उसकी खोज का परिणाम उसके हित अथवा स्वीकृत सिद्धांतों के प्रतिकूल है तो वह या तो तथ्यों को विकृत या अवास्तविक रूप में प्रस्तुत कर परिणाम को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करता है अथवा केवल ऐसे तथ्यों का ही संकलन करता है जो कि उसकी रुचि व स्वार्थों के अनुकूल परिणामों को निकालने में सहायक सिद्ध होंगे। दोनों ही स्थितियों में तटस्थता की प्राप्ति दूर का सपना बन जाती है।

9. **बाह्य हितों का हस्तक्षेप** (Interference by External Interests)—**वस्तुनि**ष्ठता की प्राप्ति में उस समय भी अत्यधिक कठिनाई होती है जबकि अध्ययनकार्य में बाह्य स्वार्थ-समूहों का हस्तक्षेप होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक अनुसंधान इस प्रकार का है जिससे कि टाटा-बिड़ला जैसे पूँजीपतियों के अनेक काले कृत्यों (Black deeds) का भंडाफोड़ होने का अंदेशा है तो उस स्थिति को रोकने के लिए टाटा-बिड़ला आदि संबद्ध स्वार्थ-समूह अनुसंधानकर्ता पर इस प्रकार का दबाव व प्रभाव डालने का प्रयत्न करेंगे कि उनके कारनामों पर पर्दा पड़ा रहे अर्थात् वास्तविक तथ्य प्रकट न होने पाएँ। बाह्य हितों का हस्तक्षेप एक दूसरे अर्थ में भी हो सकता है। जिस प्रकार अनुसंधानकर्ता अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए वास्तविक तथ्यों को तोड़-मोड़कर प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार अपने ही समाज या समूह के प्रति एक लगाव होने के कारण वह उस अवस्था में भी वास्तविक तथ्यों को छुपा सकता है यदि वह यह अनुभव करे कि उसके द्वारा उसके अपने समूह या समाज के स्वार्थों की रक्षा होगी या उस समूह या समाज के जीवन का कोई लज्जाजनक पक्ष प्रकट होने से बच जाएगा। उदाहरणार्थ, अपने ही समाज या समूह में पाए जाने वाले यौनव्यभिचार संबंधी तथ्यों को एक अनुसंधानकर्ता उतनी स्पष्टता और तत्परता से प्रस्तुत नहीं कर सकता है जितनी कि अन्य किसी समाज या समूह में पाई जाने वाली उसी घटना (phenomenon) को वह प्रकट करेगा और वहाँ के लोगों की नैतिकता का स्तर कितना निम्न है इसे दर्शाने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार बाह्य हित भी सामाजिक घटनाओं के वस्तुनिष्ठ अथवा तटस्थ अध्ययन में बाधक बनते हैं।

10. **शीघ्र निर्णय की आवश्यकता** (Need of immediate Decision)—अध्ययन में आवश्यक वस्तुनिष्ठता का अभाव उस स्थिति में भी हो सकता है जबकि अनुसंधानकर्ता का अध्ययन-विषय ऐसा है जिस पर कि वह तुरंत निर्णय लेता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। जल्दबाजी में अनुसंधान-कार्य तो दूर रहा, साधारण कार्य भी बिगड़ जाता है। उस स्थिति में शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, न निर्भरयोग्य तथ्यों के संकलन व उनका निष्पक्ष रूप में विश्लेषण करने पर। वास्तव में जल्दबाजी में पर्याप्त, संपूर्ण तथा संबद्ध तथ्यों का संकलन संभव नहीं होता और शीघ्र निर्णय की आवश्यकता के कारण अनुसंधानकर्ता के लिए जो कुछ भी तथ्य सरलतापूर्वक उपलब्ध (readily available) होते हैं, वह उन्हीं पर निर्भर कर बैठता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वस्तुनिष्ठता की

नोट

प्राप्ति संभव नहीं होती क्योंकि सामाजिक घटनाएँ अत्यधिक जटिल होने के कारण इनके संबंध में कोई भी यथार्थ निष्कर्ष तब तक निकाला नहीं जा सकता जब तक पर्याप्त समय देकर उपयुक्त संपूर्ण व संबद्ध तथ्यों को संकलित न किया जाए, अति सावधान होकर उनका वर्गीकरण न किया जाए और अति तर्कयुक्त ढंग से व विचार विवेचना के पश्चात् कोई निष्कर्ष न निकाला जाए। सामाजिक अनुसंधान में शीघ्रता का कोई स्थान नहीं होता। वास्तविक सामाजिक निर्णय तक पहुँचने के लिए वर्षों के अथक एवं निष्ठापूर्ण परिश्रम की आवश्यकता होती है परंतु अधिकांश सामाजिक समस्याओं की प्रकृति ही कुछ ऐसी होती है कि उनके संबंध में शीघ्रता से कोई कदम उठाने की आवश्यकता अनुभव की जाती है और इसीलिए उनके विषय में अनुसंधान करने का पर्याप्त समय नहीं मिल पाता है। अत: इन अध्ययनों में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति वास्तव में कठिन होती है।

11. **पूर्वाग्रह या मिथ्या-झुकाव तथा पक्षपात** (Bias and Prejudice)—श्री लुंडबर्ग (Lundberg) का कहना है कि "पूर्वाग्रह और पक्षपात सभी विज्ञानों में जटिलता उत्पन्न करने वाले कारक हैं परंतु उनका महत्त्व सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा भौतिक विज्ञानों में बहुत कम है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सामाजिक घटनाएँ प्राय: जिन सामान्य संवेगात्मक भाव-ग्रंथियों (common emotional complexes) का शिकार बन जाती हैं उनसे भौतिक विज्ञानों के अध्ययन-वस्तु को हम दूर रख सकते हैं। यही कारण है कि स्वाभाविक इंद्रियों (normal sense) द्वारा भौतिक तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण (perception) बहुत-कुछ समरूप (uniform) होता है।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि भौतिक घटनाओं का अध्ययन करने में पक्षपात व पूर्वाग्रह (मिथ्या-झुकाव) (bias) कोई विशेष बाधा नहीं पहुँचाता है क्योंकि उनके साथ अनुसंधानकर्ता का कोई संवेगात्मक संबंध नहीं होता है और न ही उनके प्रति पक्षपात या पूर्वाग्रह से उसे किसी प्रकार का लाभ होने की आशा होती है। साथ ही, अनुसंधानकर्ता को यह भी डर नहीं होता है कि यदि भौतिक घटना की कोई दुर्बलता उसके अध्ययन द्वारा प्रकट भी हो जाए तो उसकी आँच उस पर या 'मानवता' पर आएगी। अत: उसके लिए भौतिक घटनाओं के संबंध में सच को सच कहने में संकोच नहीं होता या उसके अपने विचार, रुचि, आदर्श तथा मूल्यों को ठेस भी नहीं पहुँचती। पर यदि कुछ ठेस पहुँचती भी है या यदि उसे किसी भौतिक घटना से कुछ लगाव है, तो भी वह इतना गंभीर नहीं होता कि उससे अनुसंधानकर्ता का बचना और पक्षपात-रहित होकर अध्ययन करना असंभव हो। श्री केल्लर (Keller) ने उचित ही लिखा है कि "एक व्यक्ति अपने दिल को ठेस पहुँचाए बिना ही एक मक्खी के अनेक या बहुत कम पैरों को गिन सकता और परिणाम को सूचित कर सकता है।" पर उस व्यक्ति के लिए, जो कि अपने संयुक्त परिवार को बहुत चाहता है, यह एक अत्यधिक कठिन कार्य होगा यदि उसे यह प्रमाणित करने को कहा जाए कि व्यक्ति की प्रगति संयुक्त परिवार प्रणाली के विनाश होने पर ही हो सकती है। इसका कारण यह है कि सामाजिक घटनाओं के क्षेत्र में पक्षपात व मिथ्या-झुकाव का स्पर्श सर्वत्र होता है और वे अध्ययनकर्ता को पग-पग पर वस्तुनिष्ठता से दूर खींचते हैं। हम पेड़-पौधों, जीव-जंतुओं आदि का अध्ययन करते समय पक्षपातरहित और पूर्वाग्रह (bias) से विमुक्त हो सकते हैं, पर जब हम अपने ही विषय में अध्ययन करते हैं तो वही काम हमारे लिए कठिन हो जाता है क्योंकि हम वैचारिक तटस्थता को पूर्णतया बनाए रखने में असफल होते हैं।

नोट

इनमें से किसी भी व्यवस्था में वह पक्षपात व मिथ्या-झुकाव का शिकार बन जाता है और अध्ययन की वस्तुनिष्ठता को खो बैठता है। पर भौतिक विज्ञानों में तथ्यों को तोड़-मरोड़कर रखने की आवश्यकता अथवा संभावना कम होती है क्योंकि तथ्यों को उनके मौलिक या वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने में उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता और न ही कोई स्वार्थ साधन की आशा होती है। इसके विपरीत सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में राज-भय, कुल-भय और जाति-भय उसे पक्षपाती बना देता है, उसका स्वार्थ उसे एक विशेष और असत्य आधारों पर झुकने के लिए विवश कर देता है। वह भूल नहीं पाता है कि 'जो कुछ' का अध्ययन वह कर रहा है वह उसी का एक अभिन्न अंग है और इसलिए उसका अपना विचार, राग-द्वेष, आदर्श, मूल्य, रुचि-अरुचि उसे पक्षपात (prejudice) व पूर्वाग्रह (bias) के पंचों में निर्दयतापूर्वक ला फेंकता है। इन्हीं से प्रभावित व निर्देशित अनुसंधानकर्ता तटस्थता प्राप्ति की बात को भूलकर अपनी ही त्रुटियों को सजीव करने का प्रयास करता है।

5.43 सारांश

'अवलोकन' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Observation' का हिन्दी रूपांतरण है जिसका अर्थ 'देखना', 'प्रेक्षण', 'निरीक्षण' और 'अवलोकन' करना है।

यह बहुत प्रचलित विधि है। इस विधि में मानवीय व्यवहार का अवलोकन किया जाता है तथा उसी के आधार पर आंकड़े एकत्रित किये जाते हैं। यह विभिन्न प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में मानवीय व्यवहार के मापन का सीधा तरीका है।

प्रदतों के संकलन के लिए अनुसन्धान-उपकरणों का प्रशासन न्यादर्श के प्रयोज्यों पर किया जाता है। प्रदत्तों का संकलन, प्रश्नावली, निरीक्षण, साक्षात्कार, परीक्षण तथा अनेक अन्य प्रविधियों द्वारा किया जाता है। यह अनुसन्धान का चतुर्थ सोपान होता है। प्रदत्तों का अर्थ है निरीक्षण। वैज्ञानिक शैक्षिक अनुसन्धानों में प्रदत्तों की आवश्यकता पड़ती है। प्रदत्त प्रामाणिक अनुसन्धान उपकरणों या स्वंय निर्मित उपकरणों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। प्रदत्त परिमाणात्मक एंव गुणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। अचर उस गुण को कहते हैं जो शोध के समय सभी परिस्थितियों में एक सा रहता है तथा चर उस गुण को कहते हैं जो शोध की सभी परिस्थितियों में परिवर्तनशील रहता है।

शोध में विभिन्न प्रकार के चरों के मापन के लिए विविध प्रकार की मापन प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। शोध के उपकरणों की सहायता से विविध प्रकार के प्रदत्तों का संकलन किया जाता है। मापन के स्तर प्रदत्तों की प्रकृति, विशेषताओं, मापनियों के उपयोग तथा सांख्यिकी की प्रविधियों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण आधार होता है। प्रदत्तों की प्रकृति ही विश्लेषण प्रविधियों का निर्धारण करती है। प्रदत्तों के विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य एकत्रित प्रदत्तों से नवीन तथ्यों को प्राप्त करना है। निष्कर्ष पर पहुँचने की इस प्रक्रिया में अनेक उप-क्रियायें सम्मिलित होती हैं, जिन्हें समग्र रूप में विश्लेषण कहा जाता है।

व्यक्तित्व सम्बन्धी आन्तरिक गुणों के ज्ञान के लिये उस गुण विशेष से सम्बन्धित प्रश्न चुनकर प्रश्नावली का निर्माण किया जाता है जो उनका मापन अधिक अच्छी तरह कर सकें। ये प्रश्नावलियाँ या तो व्यक्ति की सांवेगिक अस्थिरता का पता लगाने के लिये प्रयुक्त होती हैं या किसी विशिष्ट शील-गुण का पता लगाने या रोग का निदान करने के लिए। प्रश्नावली में सही उत्तर एक ही होने से इसमें वस्तुनिष्ठता का गुण पाया जाता है।

नोट

व्यक्तित्व सम्बन्धी आन्तरिक गुणों के ज्ञान के लिये उस गुण विशेष से सम्बन्धित प्रश्न चुनकर प्रश्नावली का निर्माण किया जाता है जो उनका मापन अधिक अच्छी तरह कर सकें। ये प्रश्नावलियाँ या तो व्यक्ति की सांवेगिक अस्थिरता का पता लगाने के लिये प्रयुक्त होती हैं या किसी विशिष्ट शील-गुण का पता लगाने या रोग का निदान करने के लिए। प्रश्नावली में सही उत्तर एक ही होने से इसमें वस्तुनिष्ठता का गुण पाया जाता है।

सभी मनोवैज्ञानिक-मापन की विधियों में 'निर्धारण मापनी' (Rating Scale) सबसे अधिक प्रचलित है। इसका प्रयोग उद्योग, व्यापार, अनुसन्धान आदि के क्षेत्रों में सफलतापूर्वक किया जा रहा है। इसके प्रारम्भ का श्रेय मनोभौतिकी के क्षेत्र में फेक्नर (Fechner) को जाता है। इस प्रविधि में किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का मापन किसी ऐसे व्यक्ति के विचारों के आधार पर किया जाता है जो पहले व्यक्ति को भली-भाँति जानता हो।

साक्षात्कार को अंग्रेजी में ष्टप्दजमतअपमूष्ठ कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है–'आंतरिक अवलोकन' या अंतरदृष्टि। साक्षात्कार एक ऐसी व्यवस्थित पद्धति है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य को सामने रखकर परस्पर संवाद, वार्तालाप एवं उत्तर-प्रति-उत्तर करते हैं।

पी.वी. यंग ने लिखा है–"साक्षात्कार को ऐसी व्यवस्थित विधि माना जा सकता है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति काल्पनिक रूप से कम या अधिक, एक ऐसे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में प्रवेश करता है जो कि उसके लिए अपेक्षाकृत अपरिचित होता है।"

अनुमापन विज्ञान को इस योग्य बना देता है कि वह अपने अध्ययन विषय के अंतर्गत आनेवाली घटनाओं का सही व प्रामाणिक माप कर सके। अनुमापों के प्रकारों में मुख्यत: अंक पैमाना, सामाजिक दूरी का पैमाना, तीव्रता मापक पैमाना, श्रेणी सूचक पैमाना आते हैं। कई समाजशास्त्रियों ने मनोवृत्तियों को मापने की विधियाँ बताई हैं। इनमें थर्सटन पैमाना विधि तथा लिकर्ट पैमाना विधि प्रमुख हैं।

अधिकांश सामाजिक घटनाएँ सामाजिक संबंधों पर आधारित होने के कारण अमूर्त होती है जिनका निरीक्षण-परीक्षण बहुत कठिन होने के कारण उनसे संबद्ध तथ्यों को खोजना आसान नहीं होता इसलिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में कठिनाई का अनुभव होता है। वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे भावनात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव, सामान्य ज्ञान व वास्तविक ज्ञान में भ्रम आदि।

5.44 अभ्यास-प्रश्न

1. अवलोकन या निरीक्षण से आप क्या समझते हैं? वर्णन करें।
2. अवलोकन के प्रकारों का वर्णन करें।
3. अवलोकन की कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं?
4. 'प्रदत्त' शब्द की परिभाषा कीजिए। प्रदत्त, तथ्यों से किस प्रकार भिन्न होते हैं? उदाहरणों से स्पष्ट कीजिए।
5. प्रदत्तों के संकलन की क्यों आवश्यकता होती है? प्रदत्तों की प्रकृति का उल्लेख कीजिये।
6. (अ) गुणात्मक तथा परिमाणात्मक प्रदत्तों में अन्तर बताइये।
   (ब) चर तथा अचर (Content) में भेद बताइये।
   (स) चर तथा चरक (Variate) में अन्तर बताइये।

7. प्रदत्तों के प्रकार को बताइये, यह मापन के उपकरणों तथा चरों की प्रकृति पर किस प्रकार आधारित है, इसका विवेचन कीजिए।
8. सांख्यिकीय प्रविधियाँ भी प्रदत्तों की प्रकृति तथा मापन उपकरणों की प्रकृति पर किस प्रकार आधारित है, इसे उदाहरणों से स्पष्ट कीजिए।
9. प्रदत्तों के संकलन में शोध आचार-संहिता के नियमों का उल्लेख कीजिए तथा इनको ध्यान मे रखने की क्यों आवश्यकता होती है?
10. प्रदत्तों के संकलन में क्या सावधानियाँ रखनी चाहिये। प्रदत्तों के संकलन की सीमाओं का भी वर्णन कीजिए।
11. प्रदत्तों के 'वर्गीकरण' तथा 'व्यवस्थापन' का अर्थ बताइए। वर्गीकरण तथा व्यवस्थापन की आवश्यकता का उल्लेख कीजिये।
12. प्रदत्तों के वर्गीकरण तथा प्रदत्तों की व्यवस्था में अन्तर कीजिए। मशीनों के प्रयोग या कम्प्यूटर के प्रयोग में प्रदत्तों का वर्गीकरण कैसे किया जाता है? विस्तार में वर्णन कीजिए।
13. प्रश्नावली से आप क्या समझते हैं? इसके प्रकारों का वर्णन करें।
14. प्रश्नावली की सीमाओं का वर्णन करें।
15. प्रश्नावली से आप क्या समझते हैं? इसके प्रकारों का वर्णन करें।
16. प्रश्नावली की सीमाओं का वर्णन करें।
17. निर्धारण मापनी से आप क्या समझते हैं?
18. निर्धारण मापनी के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
19. संचयी अंक मापदंड का विस्तृत वर्णन करें।
20. निर्धारण मापदंडों की त्रुटियों पर प्रकाश डालें।
21. साक्षात्कार से आप क्या समझते हैं? इसके उद्देश्यों का वर्णन करें।
22. साक्षात्कार के प्रकारों का वर्णन करें।
23. साक्षात्कार के लाभ तथा इसमें प्रयुक्त सावधानियों का वर्णन करें।
24. अनुमापन की उपयोगिता बताएँ।
25. समाजशास्त्रीय अध्ययन में जिन पैमानों का प्रयोग किया जाता है, उसका वर्णन करें।
26. लिकर्ट पैमाना विधि को बताएँ।
27. सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता की स्थिति स्पष्ट करें।
28. वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में कठिनाइयों का विश्लेषण करें।

5.45 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल. कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शिक्षा तकनीकी–आर.ए. शर्मा, भट्ट ब्रदर्स।